ब्रह्मवैवर्त पुराण

एक दार्शनिक अध्ययन

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी0 फिल्0 उपाधि के लिये प्रस्तुत

शोध प्रबन्ध

प्रस्तुतकर्त्ता

विनय कुमार
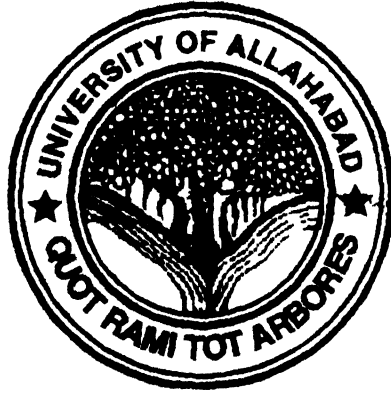
'निर्देशक'

डा0 कौशल किशोर श्रीवास्तव

रीडर, संस्कृत विभाग,

इलाहाबाद-विश्वविद्यालय

इलाहाबाद

२००२

प्राक्कथन

सस्कृत-साहित्य में पुराण साहित्य की महत्ता अनिर्वचनीय है। इसलिये पौराणिक साहित्य पर पर्याप्त अनुशीलन, चिन्तन और मन्थन किया गया है। इतना सब कुछ होने पर भी इसमें इतनी अगाधता है कि अब भी बहुत कुछ करना अवशिष्ट है। पौराणिक साहित्य के अनुशीलन की दिशा में डा० वासुदेव शरण अग्रवाल का मार्कण्डेय पुराण- एक सास्कृतिक अध्ययन, 'मत्स्य पुराण' -एक अनुशीलन, डा० एस०डी० ज्ञानी का 'अग्निपुराण' -एक अध्ययन, बलदेव उपाध्याय का पुराण विमर्श एव श्रीमती वीणापाणि पाण्डेय का हरिवशपुराण- एक सास्कृतिक विवेचन आदि ग्रन्थ प्राप्त होते हैं।

आलोचनात्मक अनुशीलन की दृष्टि से 'ब्रह्मवैवर्त' पुराण अपवाद स्वरूप प्रतीत होता है। यद्यपि पुराणम् नामक पत्रिका भी पुराण जगत् में सहायक सिद्ध हुई है। इस पुराण का अध्ययन एकागी होने के साथ ही साथ पाठकों के लिये भी यह उपयोगी सिद्ध होगा। प्रस्तुत ग्रन्थ 'ब्रह्मवैवर्त पुराण एक दार्शनिक अध्ययन' के माध्यम से इस पुराण के दार्शनिक विचारों का उल्लेख बडी ही सरल एव सुसगठित भाषा में किया है तथा यथासभव उस अभाव की पूर्ति का भी प्रयास किया है।

इस ग्रन्थ को तीन खण्डों में विभक्त किया गया है। प्रथम खण्ड के अन्तर्गत पुराण परिचय, पुराण का लक्षण, पुराणों की सख्या और उनका संक्षिप्त विवरण, ब्रह्मवैवर्त पुराण का रचनाकाल आदि का विस्तृत वर्णन है। द्वितीय खण्ड के अन्तर्गत ब्रह्मवैवर्त पुराण में प्रतिपादित दर्शनों में वैशेषिक दर्शन, आर्ष साख्य, साख्य दर्शन और उसके भेद, वेदान्त, प्रकृति या माया का स्वरूप, महानिर्लिप्त, जीव स्वरूप, जगत्, योग दर्शन के अन्तर्गत अष्टसिद्धियॉ, मुक्ति के उपाय और मुक्ति का स्वरूप तथा अन्त में तृतीय खण्ड के अन्तर्गत ब्रह्मवैवर्त-पुराण का महत्व बतलाया है।

प्रथम खण्ड के प्रथम अध्याय में पुराण परिचय के अन्तर्गत पुराण की व्युत्पत्ति, पुराण शब्द का निर्वचन, पुराणों का आविर्भाव और इससे सम्बद्ध आख्यान, संहिता, धर्मसूत्र, कामसूत्र, आयुर्वेद, ब्राह्मण ग्रन्थ, पाणिनि व्याकरण, कृष्ण द्वैपायन आदि का विस्तृत विवेचन है। लोमहर्षण की सहिताओं में सर्ग, प्रतिसर्ग, वश, मनवन्तर तथा वशानुचरित का वर्णन भी यहॉं किया गया है। इसी अध्याय के एक वर्ग में पुराण के दस लक्षण अर्थात्- सर्ग, विसर्ग, वृत्ति, रक्षा, अन्तराणि, वश, वशानुचरित, सस्था हेतु तथा अपाश्रय आदि का विवेचन है। इसी में दूसरे वर्ग में अठारहों पुराणों की सख्या एव

उसका सक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया है। इसी खण्ड के दूसरे अध्याय में ब्रह्मवैवर्त पुराण का रचनाकाल बताया गया है। इसमें दशवीं से तेरहवीं शती को समीचीन माना गया है।

ब्रह्मवैवर्त पुराण के द्वितीय खण्ड में उपलब्ध विविध दर्शनों का वर्णन है। इसके अन्तर्गत प्रथम अध्याय के एक वर्ग में वैशेषिक दर्शन का विस्तृत वर्णन उसके छ पदार्थो आदि का विवेचन है। इसी अध्याय के दूसरे वर्ग में साख्य दर्शन, आर्ष साख्य तथा साख्य दर्शन के भेदों का वर्णन है इसके अन्तगर्त परिणामवाद, पुरुष, प्रकृति आदि के सम्बन्ध, कर्म-सिद्धान्त, पुर्नजन्म और मोक्ष, चेतन और अचेतन, प्रकृति आदि का निरूपण बड़े ही मार्मिक ढग से किया गया है। इसी के तीसरे वर्ग में वेदात का विवेचन हुआ है। वेदान्त दर्शन के अन्तर्गत ही- ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन, सृष्टि की रचना ब्रह्म के द्वारा बतायी गयी है और इस सम्पूर्ण जगत् में केवल ब्रह्म की सत्यता का उल्लेख किया है। इसके अनुसार एकमात्र ब्रह्म ही सत्य है जबकि जगत् मिथ्या है ऐसा वेदान्तियों का मानना है।

इस पुराण के द्वितीय खण्ड के दूसरे अध्याय में प्रकृति या माया का स्वरूप वर्णित है। इसमें सम्पूर्ण प्रकृति को माया से आच्छादित बताकर इसका अनुशीलन किया है, तीसरे अध्याय में ब्रह्म-निर्लिप्तता बतायी गयी है। इसमें प्रकृति द्वारा परमात्मा के सगुण तत्व के विवेचन के उपरान्त ब्रह्म अथवा आत्मा की निर्लिप्तता को प्रदर्शित किया गया है। यहाँ यह भी बताया गया है कि शरीर में स्थित होने पर भी परमात्मा शरीरादि उपाधियों के दोषों से व शरीर जन्य कर्मो से लिप्त नहीं होता। अन्य पुराणों में भी पुरुष की निर्लिप्तता का वर्णन है। इसी खण्ड के चौथे और पॉचवे अध्याय में क्रमश जीव का स्वरूप, जगत् का स्वरूप वर्णित है, इसके अन्तर्गत जीव की जगत्कारणता, जीव का ब्रह्म में लीन होना तथा जगत् की सत्यता, जगत् का मिथ्यात्त्व, ईश्वर और सृष्टि, ईश्वर, जगत् और परमात्मा आदि का निरूपण है।

ब्रह्मवैवर्त पुराण के द्वितीय खण्ड के ही छठे अध्याय में योगदर्शन की अष्टसिद्धियों अर्थात् अणिमा, लघिमा, महिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्त्व, वशित्त्व तथा सर्वकामावसायिता आदि का अनुशीलन हुआ है। इसमें प्रकटित तथा अप्रकटित भेदों, अयुतसिद्ध अवयव भेदों आदि को विस्तार के साथ दर्शाया गया है। इसके प्रसग में आया है कि भगवती गगा का सूक्ष्म रुप से श्रीकृष्ण के चरणों में आत्मगोपन हुआ है अर्थात् भगवान् श्रीकृष्ण ने गगा के हृदय कमल में स्थित होकर अभयदान दिया और वे सर्वेश्वर भगवान् के वरदान से शान्तचित्त हुई- इस प्रकार का वर्णन अणिमा सिद्धि में बताया

गया है। इसी अध्याय में यह भी आया है कि भगवान् श्रीकृष्ण का गोलोक में जाकर सृष्टि की रचना करना तथा सृष्टि शब्द से प्रजोत्पत्ति अर्थ का उत्पन्न होना और सृष्टि का मूल आधार श्रीकृष्ण को ही माना गया है- ऐसा विवेचन किया गया है। इसी खण्ड के सातवें और अन्तिम अध्याय में मुक्ति के उपाय और मुक्ति के स्वरुप का वर्णन है। योगवशिष्ठ ने 'ज्ञान' को ही मोक्ष प्राप्ति का प्रमुख उपाय माना है। मोक्ष प्राप्ति का सर्वोच्च साधन स्वय ईश्वर ही है ऐसा पौराणिक दार्शनिकों का मानना है। मण्डन मिश्र के अनुसार- जीवन्मुक्त केवल साधक होते हैं सिद्ध नहीं। ब्रह्मसूत्र में यद्यपि सभी ब्रह्मविद्या समान भाव से मोक्ष में हेतु है फिर भी बीच में होने से फल भेद का निषेध नहीं है ऐसा पौराणिक विद्वान मानते हैं।

ब्रह्मवैवर्त पुराण के प्रकृतिखण्ड में मनसादेवी को मोक्षाभिलाषियों को मोक्ष देने वाली कहा गया है। सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य और ऐक्य आदि मुक्ति के प्रकार माने गये हैं तथा अन्तिम तृतीय खण्ड में ब्रह्मवैवर्त पुराण के महत्व का निरूपण हुआ है इसके अन्तर्गत वर्णव्यवस्था, आश्रम व्यवस्था और चिकित्सापद्धति आदि के महत्व का विवेचन हुआ है। वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत चारों वर्णो अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र को वर्णित किया है, आश्रम व्यवस्था के अन्तर्गत ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास आदि चारों आश्रमों का महत्व इस पुराण मे बताया गया है। इसके अतिरिक्त ब्रह्मवैवर्त पुराण के महत्व में चिकित्सा पद्धति और विभिन्न रोगों तथा उसके निवारण का अनुशीलन भी प्राप्त होता हैं।

प्रस्तुत 'शोध-प्रबन्ध' के विषयाधारभूत **'ब्रह्मवैवर्त पुराण'** 'एक दार्शनिक अध्ययन' तथा इस ग्रन्थ पर आधारित शोध विषय पर अनुसधान कार्य करने की प्रेरणा एव प्रोत्साहन की पूर्णरुपेण प्राप्ति मुझे अपने परम श्रद्धेय गुरुजी डा० कौशल किशोर श्रीवास्तव, रीडर- सस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद से हुई थी तथा गुरुदेव के आशीर्वाद, मार्गदर्शन एव पूर्ण सहयोग से ही अनुसधान कार्य सम्पन्न हो सका है। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का गुण-दोष-विवेचन के रूप में मूल्याकन सुधी पाठक एव गुरुजन ही करेंगे। मेरे इस प्रयत्न से पाठकों एव गुरुजनों को यदि बौद्धिक एव मानसिक सन्तुष्टि की प्राप्ति हो सकी तो यही मेरे इस परिश्रम का सच्चा प्रतिफल होगा, जो कि शोध-प्रबन्ध के प्रणयन एव प्रस्तुति के उद्देश्य की पूर्ति में सहायक सिद्ध होगा।

अन्त म मैं उन सभी महानुभावों को धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकता जिन्होंने प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से इस 'शोध-प्रबन्ध' की पूर्णाहुति में योगदान दिया है। मेरे शोध-प्रबन्ध के सवर्धन एव उन्नयन में मेरे पूज्य पिता 'श्री राजपति लाल' एव पूजनीया माता 'श्रीमती विमला श्रीवास्तवा' जी का अप्रतुल योगदान और आशीर्वाद हमेशा मेरे साथ रहा है, उसके निमित्त मैं जितना भी आभार व्यक्त करूँ, अत्यन्त अल्प होगा। अपने सर्वप्रिय सरक्षक एव अग्रज भ्राता 'राजेश कुमार श्रीवास्तव' एव भ्रातृजाया 'श्रीमती प्रतिभा श्रीवास्तवा' का मैं आजीवन ऋणी रहूँगा, जिनका स्नेह और आशीर्वाद सदैव हमारे साथ रहा है। मै अपने अग्रज भ्राता अशोक कुमार और अनुज सन्तोष को बिना धन्यवाद दिये नही रह सकता क्योंकि इन्होंने हमें हमेशा ही इस कार्य के लिये उत्साहित किया है।

इस प्रकार प्रूफ सशोधन के लिये अपने वरिष्ठ सहपाठी ज्ञान प्रकाश श्रीवास्तव एव अनुज गौरव और उत्सव को भी धन्यवाद दिये बिना नही रह सकता जिनके परिश्रम से यह कार्य सभव हुआ है।

विदुषा वशवद

विनय कुमार

(विनय कुमार)

दिनाक 17-12-2002

अनुक्रमणिका

तृतीय खण्ड

प्रथम खण्ड

पुराण-परिचय एवं उनका संक्षिप्त विवरण, रचनाकाल

प्रथम अध्याय

पुराण परिचय-

ब्रह्माण्ड पुराण में लिखा है कि सर्वप्रथम ज्ञान का प्रकाश करने के कारण इसकी पुराण सज्ञा हुई। इसकी निरुक्ति या व्युत्पत्ति जो जानते है वे सब पापों से छूट जाते हैं।[1]

पुराण शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की जाती है- 'पुरानीयते इति पुराणम् पुरा+नी+उ (अ), ईकार का लोप, णत्व। अथवा पुरा भवम् इति पुराणम् पुरा+टयु (यु) प्रत्यय सामंचिरप्राह्णे प्रगेऽव्ययेभ्यष्ट्युट्युलौ तुट् च' इस सूत्र से, अनन्तर यु के स्थान में युवोरनाकौ सूत्र से 'अन' आदेश, 'नकार' को 'अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि' सूत्र से 'णत्व'। यहा 'सायंचिर'-इत्यादि सूत्र से ट्यु प्रत्यय तो होता है, पर तुट् का आगम नहीं हो पाता है, कारण 'पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराण नवकेवला समानाधिकरणेन' इस सूत्र में पाणिनी ने पुराण शब्द का निर्देश किया है। यदि तुट् हो जायेगा तो उक्त सूत्र में पठित पुराण शब्द कैसे बनेगा? अथवा 'पुराणप्रोक्तेषु ब्रह्मणकल्पेषु' इस सूत्र निर्देश से निपातन करके पुराण शब्द बन सकता है।

निरुक्त में पुराण शब्द का निर्वचन इस प्रकार आया है- 'पुरा नव भवति' जिसकी नव द्युति सबसे प्रथम प्रकट हुई वह पुराण है। इसलिये भगवान् को भी पुराण पुरुष कहते है। पुराण का अर्थ जीर्ण नहीं है, अपितु आदि विकास है। गीता मे आया है कि - भगवान् कान्तदर्शी तथा पुराण होने से सबके अनुनाशक हैं।[२] अत पुराण शब्द से आदि साहित्य का तात्पर्य है । आदि साहित्य वह है जिसमें आदिदेव आत्मा का प्रबोध हो। इस आदि विद्या को बेदव्यास जी ने जगत्कल्याण के लिये सर्गादि पाच लक्षणों में ग्रथित कर दिया। इसी को पुराण कहते है।

प्राचीनकाल से ही भारतवर्ष में पुराणों का बड़ी श्रद्धा से पठन्, श्रवण, मनन, अनुशीलनादि होता आया है। भारतीय जनता के हृदय में भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, सदाचार तथा धर्मपरायणता को दृढतापूर्वक प्रतिष्ठित करने का श्रेय पुराणों को ही है। वेद, शास्त्र, ईश्वर वर्णाश्रम-धर्म, पुनर्जन्म,

---

[1] 'यस्मात्पुरा ह्यनक्तीद पुराण तेन तत्स्मृतम्।
निरुक्तमस्य यो वेद सर्वपापै प्रमुच्यते।। - ब्रह्माण्डपुराण

[2] कवि पुराणमनुशासितारमणोरणीया समनुस्मरेद्य। - गीता ८/६

आत्मा की अमरता एव परलोक की सत्ता पर जो हमारा अटूट विश्वास है उस सबका श्रेय पुराणों को ही है।

पुराणो का आविर्भाव-

महर्षि वात्स्यायन ने अपने न्याय दर्शन भाष्य में लिखा है कि वेदों और पुराणों का आविर्भाव-काल समान ही है। जैसे वेद 'अपौरुषेय' है; गौतम, वशिष्ठ, अत्रि, कश्यप, भारद्वाज, वामदेव, आदि ऋषि वेद-मन्त्रों के द्रष्टा मात्र हैं कर्त्ता नहीं वैसे ही पुराणों की मौलिक सामग्री का कर्त्ता कोई भी नहीं है; किन्तु वेद प्रतिपादित पुराणों के स्मर्त्ता ब्रह्मदेव हैं और वक्ता अनेक ऋषि हैं। तात्पर्य यह है कि जो वेद के द्रष्टा हैं वे ही पुराणों के स्मर्त्ता एव वक्ता है। जिस प्रकार वेद का आरम्भ ब्रह्मा से है, उसी प्रकार पुराणों का आरम्भ भी ब्रह्मा से ही हुआ है। विशेषता इतनी है कि मन्त्रोपदेश से पूर्व विनियोग आवश्यक है तथा विनियोग की पूर्णता के लिये ऋषि, देवता, छन्द तथा चरित्र का ज्ञान भी अत्यावश्यक है। अत पहले पुराणों को जान लेने पर ही मन्त्रोपदेश सफलहो सकता है। अन्यथा नहीं। इसी अभिप्राय से पद्म पुराण के सृष्टिखण्ड[1] में सिद्ध किया गया है कि सर्वप्रथम ब्रह्मा के मुख से पुराणों का ही स्मरण हुआ है, इसके पश्चात् उनके मुख से वेदमन्त्र निकले।

इस सम्बन्ध में, अपने समय के अद्वितीय विद्वान् विद्यावाचस्पति मधुसूदन ओझा का अभिमत है कि मन्त्र ब्राह्मणात्मक वेद-ग्रन्थों के आविर्भाव से पहले या उसके समकाल ही ब्रह्माण्ड पुराण नामक वेद विशेष था जिसमें सृष्टि और प्रलय का निरूपण था। इसीलिये शतपथ ब्राह्मण के '**ऋग्वेदों यजुर्वेद. सामवेदोऽथर्वागिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानीति।**' वाक्य में पुराण शब्द का उल्लेख मिलता है। मत्स्य पुराण में भी इसकी पुष्टि की गयी है।[2] अर्थात् हे निष्पाप! कल्पान्तर में एक ही पुराण था, जो धर्म, अर्थ, और काम का साधक तथा सौ करोड श्लोकों

[1] पुराण सर्वशास्त्राणा प्रथम ब्रह्मणास्मृतम। अनन्तरच वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिर्गता।। सृ० ख० अ० १०४

[2] पुराणमेकमेवासीत्तदा कल्पान्तरेऽनघ। त्रिवर्गसाधन पुण्य शतकोटिप्रविस्तरम्।। म० पु० १
कालेनाग्रहण दृष्ट्वा पुराणस्य ततोनृप। तदष्टादशधा कृत्वा भूलोकेऽस्मिन् प्रकाश्यते।। म० पु० २

में फैला (रचित) हुआ था। तब हे राजन! समय बीतने पर उस विस्मृत पुराण का ग्रहण करना असभव देखकर उसे आठ भागों में विभक्त करके इस भूलोक में प्रकाशित किया गया।

पद्मपुराण एव बृहन्नारदीय पुराण में भी इसी प्रकार के श्लोक पाये जाते है। इससे सिद्ध होता है कि पहले के प्रसिद्ध पुराण ग्रन्थ के आधार पर ही अठारह पुराणों की उत्पत्ति हुई है। उसी आदिम ब्रह्माण्ड पुराण से मन्त्रार्थोपयोगी आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक उपाख्यानों को लेकर महर्षियों ने ब्राह्मण ग्रन्थों में सन्निविष्ट कर दिया।

यद्यपि ब्राह्मण ग्रन्थों में महर्षियों ने ही आख्यानों को कहा है, किन्तु आख्यान ब्राह्मण ग्रन्थकर्त्ता महर्षियों द्वारा प्रणीत नही है क्योंकि मन्त्रार्थ के उपादान में उन आख्यानों का उपादान होने से उन्हें मन्त्र-रचना के बाद की कल्पना का विषय नहीं माना जा सकता। इसलिये ब्रह्मा द्वारा प्रस्तुत चिरन्तर ब्रह्माण्ड पुराण से ही आख्यान सकलित किये गये है। इन ब्राह्मण ग्रन्थों में प्राय सभी विद्याओं का उल्लेख पाया जाता है, किन्तु वे क्रमबद्धता से रहित सूत्ररूप में अस्पष्ट है अतएव उन्हें बुद्धिग्राह्य बनाने के लिये विशिष्ट बुद्धिशाली महर्षियों ने अपनी प्रतिभा के बल पर उन ब्राह्मण ग्रन्थों से उन विद्याओं को अलग करके युक्ति-प्रत्युक्ति और सिद्धि के द्वारा विशद करके लोक-कल्याणार्थ प्रसारित किया। जैसे कपिल और पतजलि आदि ने साख्य और योग को, वात्स्यायन आदि ने कामसूत्र को, मनु आदि ने धर्मसूत्र को, धन्वन्तरि आदि ने आयुर्वेद को, यास्क आदि ने निरुक्त को, और इन्द्र, पाणिनि आदि ने व्याकरण को प्रवर्तित किया।

इसी प्रकार वसिष्ठ के प्रपौत्र शक्ति के पौत्र और पराशर के पुत्र सत्यवती के गर्भ से उत्पन्न भगवान् कृष्ण द्वैपायन ने लोकोपकार के लिए समस्त ब्राह्मण-ग्रन्थों से सभी उपाख्यानों एव गाथाओं का सकलन करके कथा-प्रसग में आयी हुई कल्पशुद्धियों को भी ठीक-ठीक जोड़कर लौकिक आख्यानों से मिश्रित तथा सगतिबद्ध करके पूर्वोक्त वेदरूप ब्रह्माण्डपुराण में कहे गये जगत्सृष्टि प्रलय रूप पदार्थो को आख्यान,[१] उपाख्यान,[२] गाथा,[३] और कल्पशुद्धि[४] से गुम्फित करके अठारह खण्डो में विभक्त एक पुराणसहिता का निर्माण किया।

---

[1] स्वय देखे गये विषयों का वर्णन।

[2] कर्ण-परम्परा द्वारा सुने गये विषयों का वर्णन।

[3] पितरगण, परलोक, अथवा अन्यान्य विभिन्न विषयों के गीत व अनुश्रुतियाँ।

[4] श्राद्धकल्प आदि के निर्णय।

पुराण सहिता उसे इसलिये कहते है कि उसमें पुराण पद से अभिहित तथा ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में उल्लिखित विश्वसृष्टि विद्याओं का एक जगत् सग्रह करके समाहार किया गया है। फिर कृष्णद्वैपायन ने अपने शिष्य सूतोत्पन्न लोमहर्षण को वह सहिता पढायी लोमहर्षण ने भी सम्पूर्ण सहिता को पढकर १. सर्ग (सृष्टि) २. प्रतिसर्ग प्रलय ३. वश (देवताओं और पितरों की वशावली) ४. मन्वन्तर (किस मनु का कब तक अधिकार रहता है) तथा ५. वशानुचरित (सूर्य, चन्द्र, प्रभूति, राजवशों में उत्पन्न होने वाले राजाओं का सक्षिप्त वर्णन) इन पाच विषयों में विभक्त करके एक 'लोमहर्षणी' नाम की सहिता बनायी। उन्हें अपने छह शिष्यों-सुमति, अग्निवर्चस्, मित्रयु, सुशमी, अकृतव्रण और सोमदत्ति को पढा दिया। ये ही छह व्यक्ति गोत्र-नाम के क्रम से-आत्रेय, भारद्वाज वशिष्ठ, शाशपायन, कश्यप, और सावर्णि कहे जाते हैं। इन छहों ने भी पूर्वोक्त संहिताबद्ध के आधार पर स्वेच्छानुसार क्रम रखकर छह सहिताओं का निर्माण किया।

उन छहों सहिताओं में जिज्ञासा, आख्यान, सवाद एव प्रवृत्ति के अनुरोध से प्रसगत संक्षिप्त और विस्तृत अनेक कथानक जोड दिये गये। जिससे उनके आकारों में भिन्नता आ गयी, पर सर्ग, प्रतिसर्ग आदि सामान्य धर्म उनमें बराबरही बने रहे। इस प्रकार पुराणों की आठ संहितायें है- १. लोमहर्षिणिका, २. काश्ययिका, ३. सावर्णिका, ४. और शाशपायनिका। इन चार संहिताओं के आधार पर ही वेद व्यास ने ब्रह्म पुराण आदि प्रसिद्ध पुराणों की रचना की और उनमें उग्रश्रवा प्रभृति सूतों में सवृद्धि की।

आगे चलकर उन चारों संहिताओं में उल्लिखित कथाओं में भिन्नता आ गयी। इसका कारण यह है कि समय-समय पर मुनियों की गोष्ठियों में उन पर चर्चा होती रही, जिनमें सात्त्विक, राजस् और तामस् उपासना के भेद से उनकों भिन्न-भिन्न प्रकार से निरूपित किया गया, फलत मुख्य उद्देश्य में भिन्नता आ जाने से इतिहास और प्रबन्ध में भी भेद हो गया। बाद में उन-उन पुराणों में आये हुए पुलस्त्य एव भीष्म और पराशर एव मैत्रेय आदि के सवादों का प्रचार करने के लिए कभी लोमहर्षणसूत नैमिषारण्य में जाकर वेदव्यास ही के द्वारा विभक्त किये गये अठारह पुराणों को शैनक आदि जिज्ञासु मुनियों को सुनाने लगे। यद्यपि वेदव्यास द्वारा व्यक्त किये गये अठारह पुराणों का पूर्वापर क्रम दूसरे प्रकार से निर्धारित क्रम की उपेक्षा करके क्रमश. ब्रह्मपुराण, पद्मपुराण विष्णुपुराण,

कूर्मपुराण, मत्स्यपुराण, वामनपुराण, वराहपुराण, ब्रह्मवैवर्तपुराण, नारदीयपुराण तथा भविष्यपुराण- इन दस पुराणों को पूर्णरूप से सुनाकार अग्निपुराण को आधा ही सुनाया।

इसी बीच सयोग से नैमिषारण्य में आये हुए बलभद्र ने अवशिष्ट अग्निपुराण को सुनाते हुए ही सूत को यह बिना मेरा अभिवादन किये शूद्र होकर पुराण सुना रहा है- ऐसा सोचकर क्रोधावेश में मार डाला। तब लोमहर्षण के दिवगत हो जाने पर शोकाकुलित शौनक आदि मुनियों ने लोमहर्षण के पुत्र उग्रश्रवा नामक सूत को बुलाकार व्यासगद्दी पर बैठाकर उससे अग्निपुराण के अवशिष्ट आधे भाग के साथ और भी सात पुराण सुन लिये। लोमहर्षण की जीवितावस्था में भी नित्य वे मुनियों को पुराण नहीं सुनाते थे, अपितु उनकी आज्ञा से उग्रश्रवा भी नैमिषारण्य में जाकर मुनियों को पुराण सुनाया करते थे।

(।) पुराण लक्षण-

पुराण के साथ 'पचलक्षण' का सम्बन्ध प्राचीन तथा घनिष्ठ है। स्वय पुराणों में ही 'पुराण' के कई लक्षण दिये गये है। कोशकारों के अनुसार उसका सर्वाधिक प्रचलित लक्षण इस प्रकार है- कि "जिसमें सर्ग ईश्वरकृत सृष्टि (कारण सृष्टि), प्रतिसर्ग पुन (कार्य) सृष्टि और लय, देवताओं एव पितरों की वशावली, समस्त मन्वन्तर (किस मनु का कब तक अधिकार रहता है) तथा वशानुचरित (सूर्य चन्द्र प्रभृति राजवशों में उत्पन्न होने राजाओं के संक्षिप्त वर्णन) पुराण के ये ही पाच लक्षण है।[1]

इस लक्षण से सर्वासत घटित होने वाले प्राय अधिकाश महापुराण हैं, पर कुछ ऐसे भी है जिनमें सब लक्षण घटित नहीं होते। 'पुराण' शब्द का व्यवहार अथर्ववेद, शतपथ ब्राह्मण, छान्दोग्य, वृहदारण्यक, तैत्तिरीयारण्यक, आश्वलायनगृह्मसूत्र, आपस्तम्बधर्मसूत्र, मनुसंहिता, रामायण, महाभारत, प्रभृति हिन्दू जाति के प्राचीनतम एव सम्मान्य ग्रन्थों में किया गया है। पर यह विवादास्पद है कि उस समय भी पुराण का यहीं लक्षण था। अथर्वसंहिता के 'ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह'।[2]

---

[1] सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वशो मन्वन्तराणि च।
वशानुचरितचैव पुराण पचलक्षणम् ।। - वि० पु० ३/६/२४, मार्कण्डेय १३४/१३, अग्नि पु० १/१४, भविष्य पु० २/५, ब्र० वै० कृ० ख० १३३/६, वराह २/४, स्कन्द पु० २/८४, कूर्म १/१२, मत्स्य ५३/६४, गरुण २/२८, ब्रह्माण्ड १/३८, शिव पु० १/४१

[2] अथर्ववेद - ११/७/२४

इस मत का ऋृक्, साम, छन्द और पुराण- ये साथ उत्पन्न हुए। यह स्फुट अर्थ है वृहदारण्यक और शतपथ ब्राह्मण में एक स्थान पर यह वर्णन किया गया है कि जिस प्रकार गीले काष्ठ से उत्पन्न अग्नि से पृथक्-पृथक् धुँआ निकलता है उसी प्रकार इस महान् भूत के नि श्वास से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, व्याख्यान और अनुख्यान निकले है। ये सभी इनके नि श्वास हैं।

इसमें भी 'पुराण' का इतिहासादि से पृथक् कथन किया गया है। छान्दोग्योपनिषद् के 'स होवाच ऋृग्वेद भगवोऽध्येमि यजुर्वेदनाथर्वणं चतुर्थमितिहासं पुराणं पचम वेदाना वेदम्।"[1] इस वचन के द्वारा 'पुराण' भी वेद समूह में पाचवा वेद माना गया है। इसी प्रकार महाभारत और रामायण में भी पुराण शब्द का अनेक स्थलों पर प्रयोग हुआ है। भगवान् शकराचार्य ने बृहदारण्यक के भाष्य में 'पुराण' शब्द की व्याख्या की है। उनका कहना है कि वेदों में उर्वशी और पुरुरवा के कथोपकथन आदि ब्राह्मण भाग का नाम इतिहास और सबसे पहले एकमात्र असत् था इत्यादि सृष्टिप्रक्रिया के घटित वृत्तान्त का 'पुराण' है।

इसी प्रकार आचार्य सायण ने भी वेदों में आये हुए शब्द की निरुक्ति करते हुए सृष्टि-प्रक्रिया-घटित वृत्तान्त को 'पुरा' माना है। शकराचार्य एव सायणकी परिभाषा के अतिरक्त महाभारत एव रामायण में पुराणों का जो परिचय दिया गया है, उसमें सृष्टि-प्रक्रिया-घटित वृत्तान्तों के अतिरिक्त अन्य विषयों का भी उल्लेख किया गया है। महाभारत के आदिपर्व में महर्षि शौनक ने कहा है। कि- "पुराणों में दिव्य कथाओं एव परम् बुद्धिमान् व्यक्तियों के आदिवशो के वर्णन है। यही नहीं महाभारत के आदिपर्व में उन समस्त राजाओं की नामावली है, जिनके वश पुराणों में वर्णित हैं।[2]

इसीप्रकार रामायण के बालकाण्ड के नवम सर्ग से लेकर ग्यारहवें सर्ग तक वर्णित कथाओं को भी 'पुराण' सज्ञा दी गयी है। वेद-काल से लेकर रामायण एव महाभारत काल तक जो पुराण प्रचलित थे, उनमें सृष्टि-प्रक्रिया-घटित वृत्तान्तों, दिव्य कथाओं एव परम बुद्धिमान् व्यक्तियों के आदिवशों का वर्णन था। पुराण के अधुना प्रचलित 'सर्गश्च प्रतिसर्गश्च' इस उपर्युक्त लक्षण से इसकी समानता है।

---

[1] छा० उ० ७/१/१

[2] पुराणे हि कथा दिव्या आदिवशाश्च धीमताम्। कथ्यन्ते मे पुरास्माभि श्रुतपूर्व पितुस्तव।।- महाभारत आदिपर्व ५ २

इस पुराण में कहा गया है कि सृष्टि, स्थिति, उनका पालन, कर्मो की वासना, बिना क्रम के मनुओं की वार्त्ता, प्रलयों का वर्णन, मोक्ष का निरूपण, हरि का उत्कृष्ट कीर्तन, वेदों का पृथक्-पृथक् कीर्तन, ये दश लक्षण प्रधान पुराणों में अधिक हैं। इस प्रकार यदि ब्रह्मवैवर्त पुराण का मत माना जाय तो महापुराण में उपर्युक्त दश लक्षण होने चाहिए और उप-पुराणों में पाच। किन्तु इससे भी अमरकोश में वर्णित उक्त सर्वसम्मत लक्षण की ही मान्यता सिद्ध होती है, क्योंकि उपपुराणों में उक्त पाच लक्षण भी नही मिलते।

पुराण के दश लक्षण-

श्रीमद्भागवत् मे दो स्थानों पर तथा ब्रह्मवैवर्त के दश लक्षण महापुराण में निर्दिष्ट है और पूर्वोक्त पाच लक्षणों को क्षुल्लक पुराण का लक्षण माना गया हे। यहा दश लक्षण तथा पच लक्षण के तुलनात्मक विवेचना का सक्षिप्त रूप निम्नलिखित है-

१. सर्ग- जगत् की तथा उसके नाना पदार्थो की उत्पत्ति अथवा सृष्टि 'सर्ग' कहलाती है। अर्थात् जब मूल प्रकृति में तीन गुण क्षुब्ध होते हैं तब महत् तत्त्व की उत्पत्ति होती है। महत् तत्त्व से तीन प्रकार तामस् राजस तथा सात्त्विक- के अहकार बनते है। त्रिविध अहकार से ही पचतन्मात्रा, इन्द्रिय तथा (पच) भूतों की उत्पत्ति होती है। इसी उत्पत्ति क्रम का नाम सर्ग है।

२. विसर्ग-

जीव की सृष्टि। परमेश्वर के अनुग्रह से ब्रह्मा सृष्टि का सामर्थ्य प्राप्त करके महत् तत्त्व आदि पूर्ण कर्मो के अनुसार अच्छी और बुरी वासनाओं की प्रधानता के कारण जो यह चराचर शरीरात्मक उपाधि से विशिष्ट जीव की सृष्टि किया करते है इसे ही 'विसर्ग' कहते है। इसकी उपमा के विषय में कहा गया है कि जैसे एक बीज से दूसरे बीज का जन्म होता है, उसी प्रकार एक जीव से दूसरे जीव की सृष्टि को इस नाम से पुकारते हैं।[1]

---

[1] भाग० पु० - १२/७/१२

३. वृत्ति-

जीवों के जीवन निर्वाह की सामग्री भागवत् के अनुसार चर पदार्थो की अचर पदार्थ वृत्ति है।[1] मानव जीवन को चलाने के लिये जिन वस्तुओं का उपयोग मनुष्य करता है वही उसकी वृत्ति है। चावल, गेहूँ आदि अन्न सब वृत्ति के अन्तर्गत आते है। कुछ वृत्तिको तो मनुष्य ने स्वभाववश अपनी कामना से निश्चित कर लिया है और कुछ वृत्ति को शास्त्र के आदेश के कारण वह ग्रहण करता है। दोनों का उद्‌देश्य एक ही है मानव जीवन का धारण तथा सरक्षण।

४. रक्षा-

इसका सम्बन्ध भगवान् के अवतारों से है। भगवान् युग-युग में पशु-पक्षी, मनुष्य, ऋषि, देवता आदि के रूप में अवतार ग्रहण कर अनेक लीलाए किया करते हैं। इन अवतारों के द्वारा वे वेदत्रयी-वेदधर्म- से विरोध करने वाले व्यक्तियों का सहार भी किया करते हैं। इस कारण भगवान् की यह अवतार-लीला विश्व की रक्षा के लिये ही होती है। इसलिये इसकी सज्ञा है-रक्षा।[2]

भागवत् ने इस पद्य के द्वारा अवतार-तत्त्व के हेतु पर प्रकाश डाला है। आवतार का लक्ष्य वेद के विरोधियों का सहार करना तथा वेदधर्म की रक्षा करना है। श्रीमदभगवद्‌गीता के प्रख्यात श्लोकों की ओर यहा स्पष्ट सकेत है। परन्तु त्रयीद्वेषकों का हनन विभु भगवान के लिये तो एक सामान्य कार्य है। इसी के लिये वे अवतार का ग्रहण नहीं करते; प्रत्युत लीला-विलास ही उसका प्रधान लक्ष्य है जिसका चिन्तन तथा कीर्तन करता हुआ जीव इस ताप बहुल संसार से अपनी मुक्ति प्राप्त करने में समर्थ होता है। लीला के द्वारा आनन्द-रस का आस्वादन कराना तथा करना ही भगवान् के अवतारों का लक्ष्य है। भगवान् अपनी इच्छा से ही देह का ग्रहण करते हैं, भक्तों की आर्तपुकार इसमें कारणभूत अवश्य होती है, परन्तु रहती है भगवान् की स्वेच्छा ही प्रधान प्रयोजिका। भक्तों का रक्षण करना भी उनकी ललित-लीला से बहिर्भूत नहीं होता। जीव को मुक्ति प्रदान करना ही सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् परमात्मा का एकमात्र लक्ष्य होता है।

---

[1] भाग० पु० - १२/७/१३

[2] भाग० पु० १२/७/१४

५. अन्तराणि-

यह मन्वन्तर के समान ही है। अर्थात् मन्वन्तर की कालगणना में पुराणों ने सन्धिकाल को उसमें सम्मिलित न कर उसे अलग ही छोड दिया है। यह रीति बिल्कुल ठीक है क्योंकि सन्धिया पन्द्रह होती हैं और मन्वन्तर चौदह होते है। दो मन्वन्तरों के बीच में सन्धि होती है। इस प्रकार सन्धियों की सख्या पन्द्रह है। यदि सन्धियों का भी काल मन्वन्तर के साथ सम्मिलित किया जायेगा, तो 'कल्प' की सख्या-गणना में बडी गडबडी मच जायेगी। इसे हटाने के लिये पुराणों ने 'सन्धिका होकसप्तति। पुराणों की मन्वन्तर परिभाषा ज्योतिषशास्त्र के साक्ष्य पर बिल्कुल यथार्थ है।

मन्वन्तर के नामः-

चौदह मन्वन्तरों के नाम पुराणों में प्राय· एकाकार ही हैं-

१. स्वायम्भुव मनु
२. स्वारोचिष मनु
३. उत्तम मनु
४. तामस मनु
५. रैवत मनु
६. चाक्षुष मनु
७. वैवस्वत मनु (=श्राद्धदेव)
८. सावर्णि मनु
९. दक्षसावर्णि मनु
१०. ब्रह्मसावर्णि मनु
११. धर्मसावर्णि मन
१२. रुद्रसावर्णि मनु
१३. देव सावर्णि मनु
१४. इन्द्र सावर्णि मनु

मन्वन्तर के अधिकारी-

प्रत्येक मन्वन्तर में अधिकाश पुराणों के अनुसार पॉच (भागवत के अनुसार छ) अधिकारी होते है, जो अपना विशिष्ट कार्य सम्पादित करने आते हैं और उस कार्य के अवसान होने पर मन्वन्तर के परिवर्तन होने पर वे अपने अधिकार को छोडकर निवृत्त हो जाते है। उनके स्थान पर नये मन्वन्तर में नये अधिकारी नियुक्त किये जाते है। इन अधिकारियों के रूप में भगवान् विष्णु की ही शक्ति समर्थ तथा क्रियाशील रहती है, और इन अधिकारियों को विष्णु पुराण स्पष्ट शब्दों में विष्णु की विभूति मानता है।[1] विष्णु शब्द की निष्पत्ति 'विश प्रवेशने' धातु से होती है। और इसलिये यह समग्र विश्व जिस परमात्मा की शक्ति से व्याप्त है, वही विष्णु नाम से अभिहित किये जाते है।[2]

इन अधिकारियों के नाम विष्णु पुराण[3] के अनुसार मनु, सप्तर्षि, देव, देवराज इन्द्र तथा मनु पुत्र हैं। श्रीमद् भागवत् में इन पाचो अधिकारियों के साथ ही हरि के अशावतार की भी कल्पना कर सख्या में एक ही वृद्धि की गयी है। इन अधिकारियो का कार्य बडा ही विशिष्ट तथा महत्वपूर्ण है। विष्णुपुराण के कथनानुसार जब चतुर्युग समाप्त हो जाता है तब वेदों का विप्लव लोप हो जाता है। उस समय वेदों का प्रवर्तन नितान्त आवश्यक हो जाता है और इस राष्ट्रहित के कार्यनिमित्त सप्तर्षि लोग स्वर्ग से भूतल पर आकर उन उच्छिन्न तथा विप्लुत वेदों का प्रवर्तन करते है। अत सप्तर्षि प्रत्येक मन्वन्तर में वेदों के प्रर्वतक रूप से अधिकारी हैं।

सूर्य सिद्धान्त के मत का चतुर्युग के अन्त में जलप्लावन की घटना का अवश्यम्भावी रूप से उल्लेख करता है। इसलिये प्रत्येक सत्ययुग के आदि में मनुष्यों की धर्म-मर्यादा स्थापित करने के निर्मित्त स्मृति के प्रणयनकार्य के लिये मनु का जन्म होता है। फलत स्मृति रचयिता के रूप मे मनु का अधिकारी होना उचित ही है मनु की व्यवस्था में द्विजों के लिये यज्ञ का सम्पादन नितान्त आवश्यक कृत्य है। फलत. मन्वन्तर के अन्त तक देवता लोग यज्ञ-यागों के फल भोगने का कार्य करते है। और इस प्रकार वे अपने अधिकार को चरितार्थ करते है। देवों के राजा होने से इन्द्र का भी अधिकारी होना स्वभावसिद्ध है। ससार की वृद्धि तथा अभ्युदय के लिये बीज का पर्याप्त उद्गम

---

[1] विष्णु पुराण - ३/१४/६
[2] विष्णु पुराण - ३/१/४५
[3] विष्णु पुराण - ३/२/४६

होना आवश्यक होता है और इस कार्य को जल की वृष्टि कर, भगवान् इन्द्र ही करते है। फलत मन्वन्तर में उनका एक विशिष्ट अधिकारी होना न्याय्य हैं।[1] मनुपुत्र से तात्पर्य क्षत्रिय राजाओं से है, जो उस समय पृथ्वी का पालन तथा प्रजावर्ग का सरक्षण करते है। मनुपुत्र की अन्वर्थता इस हेतु से है कि ये राजा लोग परम्परया मनु की सन्तान है अथवा तदीय वश में अन्तर्भुक्त न होने पर भी मनु-प्रणीत व्यवस्था-पद्धति का रमाश्रयण करते हैं। दण्डनीति के विधान में और इस प्रकार प्रजाओं के सरक्षण में वे सर्वथा कृतकार्य होते हैं।

भागवत के कथनानुसार प्रति मन्वन्तर में हरि के अशावतार का भी उदय होता है। अवतार का कार्य विश्रुत ही है- धर्म का सरक्षण तथा अधर्म का विनाश। प्रत्येक काल में ऐसी विषम परिस्थिति के उपस्थित होने पर भक्त वत्सल भगवान् इस भूतल पर अपने प्रतिज्ञानुसार स्वय अवतीर्ण होते हैं और भक्तों का क्लेश स्वय ध्वस्त कर देते हैं। अतएव भागवत द्वारा अशावतार को षष्ठ अधिकारी मानने में सर्वथा औचित्य उद्भाषित होता है।

निष्कर्ष यह है कि पुराण मनु को एक विशिष्ट दीर्घकाल के लिये सम्राट तथा शास्ता मानता है। मनु आदि पाचो व्यक्ति भगवान् विष्णु के सात्त्विक अश हैं जिसका कार्य ही जगत् की स्थिति करना है।[2] फलत जगत् के सरक्षण के कार्य में सहायक जितने भी अधिकारी होते है वे मनु के साथ ही उत्पन्न होते हैं, अपना विशिष्ट कार्य सम्पादित करते हैं, जिससे लोक में सुव्यवस्था की शीतल छाया मानवों का मगल करती है। इस प्रकार मन्वन्तर की कल्पना लोकमगल की भावना का एक जाग्रत प्रतीक है। बिना सुव्यवस्था हुए विश्व का कल्याण नहीं हो सकता और मन्वन्तर सुव्यवस्था के निर्धारण का एक सुचारु साधन है। यहीं उसका मागलिक पक्ष है।[3]

६ वश-

ब्रह्मा जी के द्वारा जितने राजाओं की सृष्टि हुई, उनकी भूत-भविष्य तथा वर्तमान कालीन सन्तान परम्परा को वश नाम से पुकारते हैं।[4] भागवत के द्वारा व्याख्यात इस शब्द के भीतर राजाओं

---

[1] भाग० पु० ८/१४/७

[2] मनवो भूभुज सेन्द्रा देवा सप्तर्षयस्तथा। सात्त्विकोंऽश स्थितिकरोजगतो द्विजसत्तम्।। वि० पु० ३/२/५४

[3] भाग० ८/१४

[4] राज्ञा ब्रह्मप्रसूताना वशस्त्रैकालिकोऽन्वय।। भाग० १२/७/१६

की ही सन्तान परम्परा का उल्लेख प्राधान्यधिया है, परन्तु वश को राजवश तक ही सीमित करना उपयुक्त नहीं है। इस शब्द के भीतर ऋषियों के वश का ग्रहण अन्य पुराणों में किया गया है।

७. वंशानुचरित-

पूर्वोक्त वशों में उत्पन्न हुए वशधरों का तथा मूलपुरुष राजाओं का विशिष्ट विवरण जिसमें वर्णित होता है वह 'वशानुचरित' कहलाता है। यहॉ मनुष्य वश में प्रसूत महर्षियों का तथा राजाओं का चरित भी समाविष्ट समझना चाहिए। महर्षियों के चरित्र की अपेक्षा राजाओं के चरित्र का ही विशेष विवरण पुराणों में उपलब्ध होता है। राजनीतिशास्त्र में 'पुराण पचलक्षलणम' का एक नया ही सकेत उपस्थित किया गया है जो पूर्व निर्दिष्ट लक्षण से ही नितान्त भिन्न है। कौटिल्य अर्थशास्त्र की व्याख्या में जयमगला ने किसी प्राचीन ग्रन्थ से यह श्लोक उद्धृत किया है-

"सृष्टि-प्रवृत्ति-सहार-धर्म-मोक्ष प्रयोजनम्।
ब्रह्माभिर्विविधैः प्रोक्त पुराण पचलक्षणम्।।"

इसमें 'पचलक्षण' की एक नितान्त नूतन व्याख्या दी गयी है। ध्यान देने की बात यह है कि धर्म पुराण का एक अविभाज्य लक्षण स्वीकार किया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि मूल रूप से पुराणों में धार्मिक विषयों का सन्निवेश अभीष्ट था। धर्म का सम्बन्ध पुराण के साथ अवान्तर शताब्दियों की घटना है जब वह विकसित होकर अन्य विषयों को भी अपने में सम्मिलित करने लगा था- आधुनिक सशोधकों का प्राय यह सर्वमान्य मत है परन्तु जयमगला के इस महत्त्वपूर्ण उल्लेख से यह मन यथार्थत विशुद्ध प्रतीत नहीं होता' मन्वन्तराणि सद्धर्म कहकर भागवत ने भी मन्वन्तर के भीतर धर्म का उपन्यास न्याय्य माना है।

इस सक्षिप्त विवरण में वश के अन्तर्गत देवताओं तथा ऋषियों के वशों का भी समावेश समझना चाहिए। इन विषयों को पुराण का मौलिक वर्ण्य विषय मानने में प्रधान हेतु सूत के कार्यो के साथ इसकी पूर्ण सगति है। पुराण का वाचन तथा व्याख्यान करना सूत का प्रधान कार्य था। वायु पुराण के प्रथम अध्याय में सूत ने स्वय ही स्वधर्म का निर्देश इन महत्वपूर्ण शब्दों में किया है- पुरातन सज्जनों के द्वारा दृष्ट या उपदिष्ट सूत का स्वधर्म है- देवताओं, ऋषियों, अमिततेजसम्पन्न राजाओं का तथा लोक विश्रुत महात्माओं के वंशों का धारण करना। ये महात्माजन आदि

इतिहास-पुराणों में ब्रह्मवेत्ताओं के द्वारा दिष्ट होते हैं। सूत का अधिकार वेद में नहीं होता। वायुपुराण के इन वचनों के द्वारा इतिहास पुराण और वेद का द्वैविध विशदतया द्योतित किया गया है। यह पौराणिक वचन हमारे कथन की पुष्टि करता है कि पुराण की धारा वैदिक धारा से पृथक् विभिन्न धारा भी जिसके सरक्षण-सवर्धन, प्रचार-प्रसार का कार्य सूत की अधिकार सीमा से भीतर था।

८. संस्था-

सर्ग से विपरीत वस्तु अर्थात् प्रलय विष्णुपुराण में प्रतिसर्ग के स्थान पर 'प्रतिसचर' शब्द का प्रयोग मिलता है।[1] श्रीमद् भागवत् में इस शब्द के स्थान पर सस्था शब्द प्रयुक्त हुआ है। इस ब्रह्माण्ड का स्वभाव से ही प्रलय हो जाता है और यह प्रलय चार प्रकार का है-नैमित्तिक, प्राकृतिक, नित्य तथा आत्यन्तिक। यही 'सस्था' शब्द से अभिहित किया जाता है।[2]

९. हेतु-

हेतु शब्द से जीव का ग्रहण अभीष्ट है। वह अविद्या के द्वारा कर्म का कर्त्ता है। ससार की सृष्टि में जीव को कारण मानने का रहस्य यह है कि जीव के अदृष्ट के द्वारा प्रयुक्त होने से विश्व का सर्ग तथा प्रतिसर्ग आदि होता है। फलत. जीव अपने अदृष्ट के साथ विश्व सृष्टि या विश्व प्रलय का कारण होता है और इसी अभिप्राय से वह भागवत में 'हेतु'[3] जैसे सार्थक शब्द के द्वारा अभिहित किया गया है। चैतन्य के प्रधान से वह अनुशयी-साक्षी माना गया है और उपाधि प्राधान्य की विवक्षा से कुछ लोग उसे 'अव्याकृत' नाम से पुकारते है। जो लोग उसे चैतन्य प्रधान की दृष्टि से देखते है, वे उसे अनुशयी-प्रकृति में शयन करने वाला कहते है; वे उसे 'अव्याकृत' अर्थात् प्रकृति रूप कहते है।

१०. अपाश्रय-

ब्रह्मा का द्योतक महनीय अभिधान है। जीव की तीन वृत्तियां या अवस्थाए होती हैं- जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति और इन दशाओं में चैतन्य का निवास है जो क्रमशः विश्व, तैजस, तथा प्राज्ञ के

---

[1] विष्णु पु० १/२/२५
[2] भा० पु० १२/७/१७
[3] भा० पु० १२/७/१८

नाम से प्रख्यात है। इन मायामयी वृत्तियों में साक्षिरूपेण जो समस्त प्रतीत होती है वही अधिष्ठानरुप अपाश्रय तत्त्व है। वह इन अवस्थाओं से परे तुरीय तत्त्व के रूप में लक्षित होता है वहीं 'ब्रह्म' है और उसे 'अपाश्रय' कहते है।[1] नाम-विशेष (देवदत्त, घट, पट आदि) तथा रूप-विशेष (कोई मानव आकार का है तो कोई पशु आकार का है आदि आदि) के युक्त पदार्थो पर विचार करें तो वे सत्तामात्र-वस्तु के रूप में सिद्ध होते है और उनकी बाहरी विशेषताए नष्ट हो जाती हैं।

वह सत्ता ही एकमात्र उन विशिष्टताओं के रूप में प्रतीत होती है और वह उनसे पृथक भी है। ठीक यही दशा है देह तथा ब्रह्म के सम्बन्ध में। इस देह का आदि बीज है तथा पचता है इसका अन्त। शरीर तथा विश्व ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति से लेकर मृत्यु और महाप्रलयपर्यन्त जितनी नाना विशेष अवस्थाए होती है उन सब में सब रूपों में परम सत्य ब्रह्म ही प्रतीत होता है और वह उनसे पृथक् भी है। वह 'युतायुत'[2] रूप में प्रतीत हो रहा है अनुस्यूत होने से अर्थात् वह नाम रूपात्मक पदार्थो के साथ 'युत' भी है और उनमें पृथक् रूप में रहने के कारण अयुत भी है। यही अधिष्ठान और साक्षी रूप में प्रतिभासित होने वाला 'ब्रह्म' ही भागवत-सम्मत अपाश्रय तत्त्व है।

(।।) पुराणों की संख्या और संक्षिप्त विवरण-

यद्यपि पौराणिक शैली प्रधानतया त्रैगुण्य-रचना और प्रकृति की विकासक है तथा प्रत्येक पुराण में गुणत्रय और गुणातीत ससार एव अव्यक्त ब्रह्म का प्रतिपादन और उस प्रतिपाद्य की प्राप्ति का विधान है तो भी कोई पुराण प्रधानतया सात्त्विक, कोई राजसिक और कोई तामसिक होने से प्रधान-अप्रधान के भेद से नौ भेदों में पर्यवसित हो जाते है। फिर नवों के शक्त्यात्मक एव शिवात्मक भेद होने से अठारह सख्या हो जाती है। वस्तुत सख्या नौ ही है। परन्तु तन्त्रशास्त्र के अनुसार शिव शक्त्यात्मक योग से नौ सख्या अष्टादश हो जाती है।

इसी सिद्धान्त के आधार पर अष्टादश पुराण, अष्टादश समृतिया अष्टादश पर्व तथा गीता के अष्टादश अध्याय आदि कहे गये हैं। वैदिक प्रक्रिया के अनुसार सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड तीन भागों में विभक्त

---

[1] व्यतिरेकान्वयो यस्य जाग्रत स्वप्नसुषुप्तिषु।
मायामायेषु तद् ब्रह्म जीववृत्तिस्वपाश्रय।। भाग० पु० १२/७/१६

[2] पदार्थेषु यथा द्रव्य सन्मात्र रुपनामसु।
बीजादि पचतान्तासु ह्यवस्थासु युतायुतम्।। श्रीधर-२०

है- १. पृथ्वी, २. अन्तरिक्ष और ३. द्यो। कालक्रमानुसार इन तीनों में ६-६ परिवर्तनशील होते है, १. सत्ता २. उत्पत्ति ३. वृद्धि, ४. परिपाक ५. अपचय और ६. विनाश। ३ से प्रत्येक विकारों की गणना करने से १८ होता है। १८ पुराण इन तीनों स्थानों की सृष्टि, प्रलय आदि का निरूपण करते हैं। इसलिये १८ भाव विकारों को व्यक्त करने के लिये पुराण भी १८ माने गये ह। एक-एक कल्प में एक-एक पुराण की प्रधानता रहती है।

पुराणो का वर्गो में विभाजन-

उक्त अष्टादश पुराणों को वर्गो में विभक्त किया गया है। स्कन्द पुराण के केदारखण्ड में यह चर्चा आयी है कि अठारहवों महापुरुषों में दस शैव, चार ब्राह्म, दों शाक्त और दो वैष्णव है। फिर उसी पुराण के शिव रहस्य खण्डान्तर्गत 'सम्भव काण्ड' में लिखा है कि शिव, भविष्य, मार्कण्डेय लिग, वाराह, स्कन्द, मत्स्य, वामन, और ब्रह्माण्ड- ये दस पुराण शैव है। इन सबकी श्लोक सख्या ३ लाख है। विष्णु, भागवत, नारदीय और गरूड ये चार वैष्णव हैं इनमें भगवान् विष्णु की महिमा वर्णित है। ब्रह्म और पद्म- ये दो पुराण ब्रह्मा से सम्बन्धित हैं। अग्नि पुराण अग्नि की और ब्रह्मवैवर्त पुराण कृष्ण की (मतान्तर में सूर्य की) महिमा से पूर्ण है। ब्रह्मपुराण में ब्रह्मा, विष्णु और महेश का साम्य प्रतिपादित करते हुए भी ब्रह्मा को श्रेष्ठ और विष्णु को त्रिदेवात्मक सिद्ध किया गया है।

इसी प्रकार शैव पुराणों में शिव को सभी देवताओं से अधिक शक्तिशाली माना गया है। मत्स्य पुराण में यद्यपि विष्णु के मत्स्यावतार का ही वर्णन किया गया है पर शिव के विविध अवतारों एव कार्यो का भी इसमें वर्णन मिलता है। इसी प्रकार वाराह, वामन और ब्रह्माण्ड में भी शिव की अनन्त शक्ति का वर्णन किया गया है, जिसके सम्मुख विष्णु, ब्रह्मा प्रभृति सभी देवों एव शक्तियों को कई बार प्रभावहीन होते दिखाया गया है। शैव मत की प्राचीनता एव उसके उदात्त विचारों का ही यह परिणाम है कि अधिकाश पुराणों में उसकी चर्चा की गयी है।

ऋृग्, यजु, साम और अथर्व इन चारों वैदिक संहिताओं में रुद्र की स्तुति मिलती है। इनमें यजुर्वेदान्तर्गत, रुद्राष्टाध्यायी का आज भी बहुत प्रचार है। यद्यपि इस बात में विवाद उठाया गया है कि वैदिक रुद्र ही पौराणिक शिव अथवा रुद्र हैं, पर यह परम्परा इतनी प्रचलित हो गयी कि वह तर्क

नहीं स्वीकार करती। वाजसनेयी सहिता में शतरुद्रों के बीच-बीच में शिव, गिरीश, पशुपति नीलग्रीव, शितिकण्ठ, भव, शर्व, महादेव, इत्यादि नामों को देखने से रुद्र और शिव के एकत्व में अविश्वास नही रह जाता। अथर्व संहिता में भी महादेव, भव पशुपति, आदि नामों का उल्लेख हुआ है, अस्तु शैव पुराणों में प्राय इन्ही उपर्युक्त नामों की चरितार्थता मनोहर कथनों के रूप में की गयी है। इनके अतिरिक्त सात्विक, राजस एव तामस- इन तीन गुणों के आधार पर भी पुराणों का वर्ग विभाग किया गया है।

उपर्युक्त अठारहों पुराणों में आये हुए श्लोकों एव अध्यायों की सख्या ब्रह्मवैवर्त पुराण के अनुसार इस प्रकार है-सबसे उत्कृष्ट ब्रह्मपुराण है जिसमें दस हजार श्लोक हैं। इसके पश्चात् पचपन हजार श्लोकों का पद्मपुराण है। विद्वान् लोग तेईस हजार श्लोकों का विष्णु पुराण मानते है। शिव पुराण चौबीस हजार श्लोकों का है। अठारह हजार श्लोकों का श्रीमद्भागवत है। नारदीय पुराण पचीस हजार श्लोकों का हे। मार्कण्डेय पुराण नौ हजार श्लोकों का है, ऐसा पण्डित जन जानते है। पन्द्रह हजार चार सौ श्लोकों का अग्निपुराण उत्कृष्ट एव रुचिर है। चौदह हजार पाच सौ श्लोकों का पुराण प्रवर भविष्यपुराण है। अठारह हजार श्लोकों का ब्रह्मवैवर्तपुराण है।[१]

इस ब्रह्मवैवर्त पुराण को विद्वान् लोग सभी पुराणों का तत्त्व मानते है। लिग पुराण ग्यारह हजार श्लोकों का है। वाराह पुराण चौबीस हजार श्लोकों का है। सज्जनों ने इक्यासी हजार एक सौ श्लोकों का स्कन्द पुराण निरूपित किया है। दस हजार श्लोकों का वामन पुराण तथा सत्रह हजार श्लोकों का कूर्म पुराण है। पण्डितों ने मत्स्यपुराण को चौदह हजार श्लोकों का कहा है। गरुड़ पुराण उन्नीस हजार श्लोंकों का है।[२] ब्रह्माण्ड पुराण बारह हजार श्लोकों का है। इस प्रकार पुराणों के श्लोकों की सख्या चार लाख हे। इस प्रकार अठारह पुराणों की श्लोक सख्या विद्वान् लोग बताते है। इसी प्रकार अठारह उपपुराण भी है। जो विश्व-समूह का वरण करता है, जीव धारियों का परमात्मस्वरूप है; वहीं ब्रह्म कर्म करने वालों के कर्मो का साक्षी रूप है। उस ब्रह्म का तथा उसकी अनुपम विभूति का जिसमें विवरण किया गया है; उसी कारण विद्वान-लोग इसे 'ब्रह्मवैवर्त' कहते हैं। यह पुराण मगलमय पुण्यप्रद तथा मगलप्रद है।[३]

---

[1] ब्र० वै० कृ० ख० १३३/१४-१६
[2] ब्र० वै० कृ० ख० १३३/२०
[3] ब्र० वै० कृ० ख० १३३/३०-३२

पुराणो का सक्षिप्त विवरण-

पुराणों का सक्षिप्त विवरण निम्नलिखित है-

१ ब्रह्मपुराण-

यह पुराण 'आदि ब्रह्मा' के नाम से भी प्रसिद्ध है। इसके अध्यायों की सख्या २४५ है और श्लोकों की सख्या दस हजार है। पुराण सममत समस्त विषयों का वर्णन यहाँ उपलब्ध होता है। सृष्टि कथन के अनन्तर सूर्यवश तथा सोमवश का अत्यन्त सक्षिप्त विवरण है। पार्वती-आख्यान बडे विस्तार से १० अध्यायों में - (३० अध्याय से ५० तक)- दिया गया है। मार्कण्डेय के आख्यान (अध्याय ५२) के अनन्तर गौतमी, गगा कृत्तिका-तीर्थ, चक्रतीर्थ, पुत्रतीर्थ, यमतीर्थ, आपस्तम्ब तीर्थ आदि अनेक प्राचीन तीर्थो के माहात्म्य, गौतमी माहात्म्य के अन्तर्गत दिये गये हे। भगवान् कृष्ण के चरित्र का भी वर्णन ३२ अध्यायों में बडे विस्तार के साथ वर्णित है। कथानक वहीं है। जिसका वर्णन भागवत् के दशम स्कन्द में है। मरण के अनन्तर होने वाली अवस्था का वर्णन अनेक अध्यायों में किया गया है।

इस पुराण में भूगोल का विशेष वर्णन नहीं है। परन्तु उडीसा में स्थित कोणादित्य (कोणार्क) नामक तीर्थ तथा तत्सम्बद्ध सूर्य-पूजा का वर्णन इस पुराण की विशेषता प्रतीत होती है। सूर्य की महिमा तथा उनके व्यापक प्रभुत्व का निर्देश छ अध्यायों में है। इस पुराण में साख्ययोग की समीक्षा भी बडे विस्तार के साथ दश अध्यायों में की गयी है। कराल जनक के प्रश्न करने पर महर्षि वसिष्ठ ने साख्य के महनीय सिद्धान्तों का विवेचन किया है। ध्यान देने की बात है कि इन पुराणों में वर्णित साख्य अनेक महत्वपूर्ण बातों में अवान्तरकालीन साख्य से भेद रखता है। पिछले साख्य में तत्त्वों की सख्या केवल २५ ही है। परन्तु यहाँ। मूर्धस्थानीय २६वें तत्त्व का भी वर्णन है।

पौराणिक साख्य निरीश्वर नहीं है। तथा उसमें ज्ञान के साथ भक्ति का भी विशेष पुट मिला हुआ है। इस ग्रन्थ में एक और भी विशेषता है। इसके कतिपय अध्याय महाभारत के १२वें पर्व (शान्ति पर्व) के कतिपय अध्यायों से अक्षरश मिलते है। धर्म ही परम पुरुषार्थ है।

२. पद्मपुराण-

यह पुराण परिमाण के स्कन्दपुराण को छोड़कर अद्वितीय है। इसके श्लोकों की सख्या ५५,००० बतायी गयी है। इस प्रकार से इसे महाभारत का आधा और भागवत पुराण से तिगुनी

परिमाण में समझना चाहिए। इसके दो सस्करण उपलब्ध होते है- १. बगाली सस्करण २. देवनागरी सस्करण। बगाली सस्करण तो अभी तक अप्रकाशित हस्तलिखित प्रतियों में पडा है। देवनागरी सस्करण आनन्दाश्रम सस्कृत ग्रन्थावली में चार भागों में प्रकाशित हुआ है। आनन्दाश्रम सस्करण में छ खण्ड है- १. आदि २. भूमि ३. ब्रह्म ४. पाताल ५. सृष्टि और ६. उत्तराखण्ड। परन्तु भूमिखण्ड से ही पता चलता है कि छ खण्डों की कल्पना पीछे की है। मूल में पाच ही खण्ड थे जो बगाली सस्करण में आज भी उपलब्ध होते हैं। ये पॉचों खण्ड निम्नलिखित है-

(१) सृष्टिखण्ड-

इसमें ८२ अध्याय है। इसके प्रथम अध्याय से पता चलता है। कि इसमें ५५,००० श्लोक थे तथा यह पुराण पॉच पर्वो में विभक्त था-

१. पौष्कर पर्व- जिसमें देवता, मुनि, पितर तथा मनुष्यों की ९ प्रकार की सृष्टि का वर्णन है।

२. तीर्थपर्व- जिसमें पर्वत, द्वीप तथा सप्तसागर का वर्णन है।

३. तृतीय पर्व- जिसमें अधिक दक्षिणा देने वाले राजाओं का वर्णन है।

४. राजाओं के वशानुकीर्तन है।

५. मोक्ष पर्व- मोक्ष पर्व में मोक्ष तथा उसके साधक का वर्णन किया गया है। इस खण्ड में समुद्र-मथन, पृथु की उत्पत्ति, पुष्करतीर्थ के निवासियों का धर्मकथन, वृत्तासुर-सग्राम, वामनावतार, मार्कण्डेय की उत्पत्ति, कार्तिकेय की उत्पत्ति, रामचरित, तारकासुरवध आदि कथाऍ विस्तार के साथ दी गयी है।

२. भूमिखण्ड- उस खण्ड के आरम्भ में शिवकर्मा नामक ब्राह्मण की पितृभक्ति के द्वारा स्वर्गलोक की प्राप्ति का वर्णन है। राजा पृथु के जन्म और चरित्र का वर्णन है। किसी छद्मवेशधारी पुरुष के द्वारा जैन धर्म का वर्णन सुनकर वेन उन्मार्गगामी बन जाता है। तब सप्तर्षियों के द्वारा उसकी भुजाओं का मन्थन होता है।, जिससे पृथु की उत्पत्ति होती है। नाना प्रकार के नैमित्तिक तथा अभ्युदयिक दोनों के अनन्तर सती सुकला की पातिव्रतसूचक कथा बडे विस्तार के साथ दी गयी है। ययाति और मातलि के अध्यात्म-विषयम-सवाद में पाप और पुण्य के फलों का वर्णन है। और विष्णुभक्ति की प्रशसा की गयी है। महर्षि च्यवन की कथा भी बडे विस्तार के साथ दी गयी है। यह

पद्‌मपुराण विष्णु-भक्ति का प्रधान-ग्रन्थ है परन्तु इसमें अन्य देवताओं के प्रति अनुदार भावों का प्रदर्शन कहीं भी नहीं किया गया है।

३. स्वर्ग खण्ड-

इस खण्ड में देवता, गन्धर्व, अप्सरा, यक्ष आदि के लोकों का विस्तृत वर्णन है। इसी खण्ड में शकुन्तलोपाख्यान है जो महाभारत के शकुन्तलोपाख्यान से सर्वथा भिन्न है; परन्तु कालिदास के 'अभिज्ञान-शाकुन्तलम्' से बिल्कुल मिलता-जुलता है। इसके कुछ विद्वानों का कहना है कि कालिदास ने अपने सुप्रसिद्ध नाटक की कथावस्तु महाभारत से न लेकर इसी पुराण से ली है। 'विक्रमोर्वशी' के सम्बन्ध में भी यही बात है।

४. पाताल खण्ड-

इसमें नागलोक का विशेष रूप से वर्णन है। प्रसगत. रावण के उल्लेख होने से पूरे रामायण की कथा इसमें कही गयी है। इसमें विशेष बात यह है कि कालिदास के द्वारा रघुवश में वर्णित राम की कथा से यह कथा मिलती -जुलती है। रावणके वध के अनन्तर सीता-परित्याग तथा रामाश्वमेघ की कथा भी इसमें सम्मिलित है। यह कथा भवभूति के 'उत्तररामचरित' में वर्णित रामचरित से बहुत कुछ मिलती है। इस पुराण में व्यास जी द्वारा १८ पुराणों के रचे जाने की आत उल्लिखित है, जिसमें भागवत्-पुराण की विशेष रूप से महिमा गायी गयी है।

५. उत्तर खण्ड-

इस पाँचवें खण्ड में विविध प्रकार के आख्यानों का सग्रह है। इसमें विष्णु भक्ति की विशेषरूप से प्रशसा की गयी है। क्रियायोगसार नामक इसका एक परिशिष्ट अश भी है। जिसमें यह दिखाया गया है कि विष्णु भगवान् व्रतों तथा तीर्थो के सेवन से विशेष रूप से प्रसन्न होते है। पद्यपुराण विष्णुभक्ति का प्रतिपादक सबसे बडा पुराण है। भगवान् का नाम कीर्तन किस प्रकार सुचारु रूप से किया जा सकता ह? कितने नामापराध है? आदि प्रश्नो के उत्तर इस पुराण में बड़ी प्रामाणिकता से दिये गये है। इसीलिये अवान्तर-कालीन वैष्णव सम्प्रदाय के ग्रन्थों ने इसका महत्व बहुत अधिक माना है। साहित्यिक दृष्टि से भी यह बहुत सुन्दर है। पुराणों में तो अनुष्टुप का ही साम्राज्य रहता है, परन्तु इस पुराण में अनुष्टुप के अतिरिक्त अन्य बड़े छन्दों का भी समावेश है।

३. विष्णु पुराण-

दाशनिक महत्त्व की दृष्टि से यदि भागवत पुराण पुराणों की श्रेणी में प्रथम स्थान रखता है, तो विष्णुपुराण निश्चय ही द्वितीय स्थान का अधिकारी है। यह वैष्णव-दर्शन का मूल आलम्बन है। इसीलिये आचार्य रामानुज ने अपने 'श्रीभाष्य' में उसका प्रमाण तथा उद्धरण बहुलता से दिया है। परिमाण में यह न्यून होते हुए भी इसका महत्व अधिक है। इसके खडों को अश कहते है; इसके अशो की सख्या ६ है तथा अध्यायों की सख्या १२६ है। इस प्रकार परिमाण में यह भागवतपुराण का तृतीयाश मात्र है। प्रथम अश मे सृष्टि वर्णन है।

द्वितीय अश में भूगोल का बडा ही सागोपाग विवेचन है। तृतीय अश में आश्रम सम्बन्धी कर्तव्यों का विशेष निर्देश है। इसके तीन अध्यायों में वेद की शाखाओं का विशिष्ट वर्णन है जो वेदाभ्यासियों के लिये बडे काम की वस्तु है। चतुर्थ अश विशेषत ऐतिहासिक है जिसमें सोमवश के अन्तर्गत ययाति का चरित वर्णित है। यदु, द्रुहयु, अनु, पुरु, तुर्वसु, इन पाच प्रसिद्ध क्षत्रिय वशों का भिन्न-भिन्न अध्यायों में वर्णन मिलता है। पचम वश के ३८ अध्याय में भगवान् कृष्ण का अलौकिक चरित वैष्णव-भक्तों का आलम्बन है। इस खण्ड में दशम स्कन्ध के समान कृष्णचरित पूर्णतया वर्णित है, परन्तु इसका विस्तार कम है। षष्ठ अश केवल आठ अध्यायों का है। जिसमें प्रलय तथा भक्ति का विशेष रूप से विवेचन किया गया है।

साहित्यिक दृष्टि से यह पुराण बडा ही रमणीय सरस और सुन्दर है। इसके चतुर्थ अश प्राचीन सुष्ठु गद्य की झलक देखने को मिलती है। ज्ञान के साथ भक्ति का सामन्जस्य इस पुराण में बडी सुन्दरता से दिखाया गया है। विष्णु की प्रधान रूप से उपासना होने पर भी इस पुराण में साम्प्रदायिक सकीर्णता का लेश भी नहीं है। भगवान् कृष्ण ने स्वय महादेव शिव के साथ अपनी अभिन्नता प्रकट करते हुए अपने श्रीमुख से कहा है-

> योऽह स त्व जगच्चेद, सदेवासुररमानुषम्।
> मत्तों नान्यदशेष यत्, तत्वज्ञातुमिहार्हसि।।
> अविद्यामोहितात्मान पुरुषा भिन्नदर्शिना।
> वदन्ति भेद पश्यन्ति, चावयोरन्तर हर।।

४. शिव पुराण-

यह पुराण अत्यन्त प्राचीन है। बाणभट्ट ने अपनी कादम्बरी में इसका उल्लेख 'पुराणे वायुप्रलपितम्' लिखकर किया है। अत इससे जान पडता है कि इस ग्रन्थ की रचना बाणभट्ट से बहुत पहले हो चुकी थी। यह पुराण परिमाण में अन्य पुराणों से अपेक्षाकृत न्यून है। इसके अध्यायों की सख्या केवल ११२ है तथा श्लोकों की चौबीस हजार के लगभग है। इस पुराण में चार खण्ड है जो 'पाद' कहलाते है- १. प्रक्रिया पाद २. अनुषग पाद ३. उपोद्घात पाद ४. उपसहार पाद। इसके आरम्भ में सृष्टिप्रकरण बडे विस्तार के साथ कई अध्यायों में दिया गया है। तदनन्तर चतुराश्रम विभाग प्रदर्शित किया गया है। यह पुराण भौगोलिक वर्णन के लिये विशेष रूप से पठनीय है।

जम्बू-द्वीप का वर्णन विशेष रूप से है ही, परन्तु अन्य द्वीपों का भी वर्णन बडी सुन्दरता से यहा किया गया हे। खगोल का वर्णन भी इस ग्रन्थ में विस्तृत रूप में उपलब्ध है। अनेक अध्यायों में युग, यज्ञ, ऋृषि, तीर्थ का वर्णन किया गया है। अध्याय ६० में चारों वेदों का वर्णन किया गया है जो साहित्यिक दृष्टि से विशेष अनुशीलन करने योग्य है। प्रजापति-वश वर्णन, कश्यपीय प्रजासर्ग तथा ऋषिवश, प्राचीन ब्राह्मण-वशों के इतिहास को जानने के लिये बडे ही उपयोगी है। श्राद्ध का भी वर्णन अनेक अध्यायों में है। अध्याय ८६ और ८७ में सगीत का विशद वर्णन उपलब्ध है। ६६वा अध्याय प्राचीन राजाओं का विस्तृत वर्णन प्रस्तुत करने के कारण ऐतिहासिक दृष्टि से विशेष महत्व रखता है।

इस पुराण की सबसे बडी विशेषता शिव के चरित्र का विस्तृत वर्णन है, परन्तु यह साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से दूषित नहीं है। विष्णु का भी वर्णन इसमें अनेक अध्यायों में मिलता है। विष्णु का महत्त्व तथा उनके अवतारों का वर्णन कई अध्यायों में यहा उपलब्ध है। पशुपति की पूजा से सम्बद्ध 'पाशुपतयोग' का निरूपण इस पुराण की महती विशेषता है। पाशुपत योग का वर्णन अन्य पुराणों में नही मिलता परन्तु इस पुराण में उसकी पूरी प्रक्रिया बडे विस्तार के साथ दी गयी है। यह अश प्राचीन योगशास्त्र के स्वरूप को जानने के लिये अत्यन्त उपयोगी है। अध्याय २४ में वर्णित ' शार्वस्तव' साहित्यिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। अध्याय ३० में दक्ष प्रजापति ने जो शिव की स्तुति की है वह भी बडी सुन्दर है।

५ श्रीमद् भागवत्-

यह पुराण सस्कृत-साहित्य का एक अनुपम रत्न है। भक्तिशास्त्र का तो यह सर्वस्व है। यह निगम कल्पतरु का स्वय गलित अमृतमय फल है। वैष्णव आचार्यो ने प्रस्थानत्रयी के समान भागवत् को भी अपना उपजीव्य माना है। बल्लभाचार्य भागवत को महर्षि व्यासदेव की 'समाधिभाषा' कहते है। अर्थात् भागवत के तत्त्वों का प्रभाव बल्लभ सम्प्रदाय और चैतन्य सम्प्रदाय पर बहुत अधिक पडा है। इन सम्प्रदायों ने भागवत् के आध्यात्मिक तत्त्वों का निरूपण अपनी-अपनी पद्धति से किया है। इन ग्रन्थों में आनन्दतीर्थ कृत 'भागवततात्पर्यनिर्णय' से जीव गोस्वामी का 'षट्सन्दर्भ' व्यापकता तथा 'विशदता की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण है। भागवत् के गूढार्थ को व्यक्त करने के लिये प्रत्येक वैष्णव सम्प्रदाय ने इस पर स्वमतानुकूल व्याख्या लिखी है।

रामानुजमत् में सुदर्शन सूरि की शुकपक्षीय तथा वीररघवाचार्य की 'भागवतचन्द्रचन्द्रिका' माध्वमत में विजयध्वज की 'पदरत्नावली' निम्बार्क मत में शुकदेवाचार्य की 'सिद्धान्त प्रदीप' बल्लभमत में स्वय आचार्य बल्लभ की 'सुबोधिनी' तथा गिरिधराचार्य की आध्यात्मिक टीका, चैतन्यमत में श्रीसनातन की 'बृहद्वैष्णवतोषिणी' (दशम स्कन्ध पर) जीव गोस्वामी की 'क्रमसन्दर्भ', विश्वनाथ चक्रवर्ती की 'सारार्थदर्शिनी'। सबसे अधिक लोकप्रिय श्रीधर गोस्वामी की 'श्रीधरी' है। श्रीहरि नामक भक्तवर का 'हरिभक्त रसायन' पूर्वार्ध दशम का श्लोकात्मक व्याख्यान है। इन सम्प्रदायों की मौलिक आध्यात्मिक कल्पनाओं का आधार यहीं अष्टादश सहस्त्रश्लोकात्मक भगवद्विग्रह रूप भागवत है।

श्रीमद्भागवत् अद्वैत तत्व का ही प्रतिपादन स्पष्ट शब्दों में करता है। श्री भगवान् ने अपने विषय में ब्रह्माजी को इस प्रकार उपदेश दिया कि सृष्टि के पूर्व मै ही था- मैं केवल था, कोई क्रिया न थी। उस समय सत् अर्थात् कार्यात्मक स्थूलभाव न था, असत्-कारणात्मक सूक्ष्मभाव न था। यहाँ तक कि इनका कारणभूत प्रधान भी अन्तर्मुख होकर मुझमें लीन था। सृष्टि का यह प्रपच मै ही हूँ और प्रलय में सब पदार्थो के लीन हो जाने पर मैं ही एकमात्र अवशिष्ट रहूँगा। इससे स्पष्ट है कि भगवान् निर्गुण, सगुण, जीव, तथा जगत् सब वहीं है। अद्वयतत्त्व सत्य है; उसी एक अद्वितीय, परमार्थ को ज्ञानी लोग ब्रह्म, योगीजन परमात्मा और भक्तगण भगवान् के नाम से पुकारते है।[1] वही

---

[1] वदन्ति तत् तत्त्वविदस्तत्त्व यज्ज्ञानमद्वयम।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ।। - भाग १/२/११

जब सत्त्वगुणरूपी उपाधि से अविच्छिन्न न होकर अव्यक्त निराकार रूप से रहते है तब निर्गुण कहलाते हैं। और उपाधि से अवच्छिन्न होने पर 'सगुण' कहलाते है। 'परमार्थभूत'[1] ज्ञान, सत्य, विशुद्ध, एक बाहर-भीतर भेदरहित, परिपूर्ण, अन्तर्मुख तथा निर्विकार है- वही भगवान् तथा वासुदेव शब्दों के द्वारा अभिहित होता है।

सत्त्वगुण की उपाधि से अवच्छिन्न होने पर वही निर्गुण ब्रह्म प्रधानतया विष्णु, रुद्र, ब्रह्मा तथा पुरुष चार प्रकार का सगुण रूप धारण करता है। शुद्धसत्त्वावच्छिन्न चैतन्य को ' ब्रह्मा' तमोमिश्रित सत्त्वावच्छिन्न चैतन्य को रुद्र और तुल्यबल रज-तम से मिश्रित सत्त्वावच्छिन्न चैतन्य को पुरुष कहते है। जगत् की स्थिति, सृष्टि तथा सहार- व्यापार में विष्णु, ब्रह्मा और रुद्र निमित्त कारण होते है, 'पुरुष' उपादान कारण होता है। ये चारों ब्रह्म के ही सगुण रूप हैं। अत भागवत के मत में ब्रह्म ही अभिन्ननिमित्तेपादान कारण है।

परब्रह्म ही जगत् के स्थित्यादि व्यापार के लिये भिन्न-भिन्न अवतार धारण करते है।[2] परमेश्वर का जो अश प्रकृति तथा प्रकृतिजन्य कार्यो का वीक्षण, नियमन, प्रवर्तन आदि करता है।, मायासम्बन्ध से रहित होते हुए भी माया से युक्त रहता है, सर्वदाचित्‌शक्ति से समन्वित रहता है, उसे 'पुरुष' कहते है। इस पुरुष से भिन्न-भिन्न अवतारों का उदय होता है। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र परब्रह्म के गुणावततार है। इसी प्रकार कल्पवतार, युगावतार, मन्वन्ततरावतार, आदि का वर्णन भागवत में विस्तार के साथ दिया गया है।

भगवान् अरूपी होकर भी रूपवान् हैं। भक्तों की अभिरुचि के अनुसार वे भिन्न-भिन्न रूप धारण करते है। भगवान् की शक्ति का नाम 'माया' है जिसका स्वरूप भगवान् ने इस प्रकार बतलाया है-वास्तविक वस्तु के बिना भी जिसके द्वारा आत्मा में अनिर्वचनीय वस्तु की प्रतीति होती है (जैसे आकाश में एक चन्द्रमा के रहने पर भी दृष्टिदोष से दो चन्द्रमा दीख पडते है) और जिसके द्वारा विद्यमान रहने पर भी वस्तु की प्रतीति नहीं होती। (जैसे विद्यमान भी राहु नक्षत्र मण्डल में नहीं दीख पडता) वहीं 'माया' है। भगवान् अचिन्त्य शक्ति समन्वित है। वे एक समय में भी एक होकर भी अनेक है। नारदजी ने द्वारिकापुरी में एक समय में ही श्रीकृष्ण को समस्त रानियों के महलों मे

---

[1] भाग० - ५/१२/११

[2] २/६/४१

विद्यमान भिन्न-भिन्न कार्यो में सलग्न देखा था। यह उनकी अचिन्तनीय महिमा का विलास है। जीव और जगत् भगवान् के ही रूप है।

साधन मार्ग-

इस भगवान् की उपलब्धि का सुगम उपाय बतलाना भागवत की विशेषता है। भागवत की रचना का प्रयोजन भी भक्तितत्त्व का निरूपण है। वेदार्थोपवृहित विपुलकाय महाभारत की रचना करने पर भी अतृप्त होने वाले वेदव्यास का हृदय भक्तिप्रधान भागवत की रचना से वितृप्त हुआ। भागवत के श्रवण करने से भक्ति के निष्प्राण ज्ञान-वैराग्य-पुत्रों में प्राण का ही सचार नहीं हुआ, प्रत्युत वे पूर्ण यौवन को भी प्राप्त हो गये। अत. भगवान् की प्राप्ति का एक मात्र उपाय भक्ति ही है।[१]

परम भक्त प्रह्लाद ने भक्ति की उपादेयता का वर्णन बडे ही सुन्दर शब्दों में किया है। कि भगवान् चरित्र, बहुज्ञता, दान, तप आदि से प्रसन्न नहीं होते। वे तो निर्मल भक्ति से प्रसन्न होते हैं। भक्ति के अतिरिक्त अन्य साधन उपहासमात्र है।[२] भागवत के अनुसार भक्ति ही मुक्ति प्राप्ति के प्रधान साधन हैं। ज्ञान कर्म भी भक्ति के उदय होने से ही सार्थक होते है, अत. परम्परया साधक है, साक्षद्रपेण नहीं । कर्म का उपयोग वैराग्य उत्पन्न करने में है। जब तक वैराग्य की उत्पत्ति न हो जाय, तब तक वर्णाश्रम विहित आचारों का निष्पादन नितान्त आवश्यक है। कर्म फलों को भी भगवान् को समर्पण कर देना ही उनके 'विषदन्त' को तोडना है।[३] श्रेय की मूल स्त्रोतरूपिणी भक्ति को छोडकर केवल बोध की प्राप्ति के लिये उद्योगशील मानवों का प्रयत्न उसी प्रकार निष्फल तथा क्लेशोत्पादक है जिस प्रकार भूसा कूटने का यत्न।[४]

भक्ति की ज्ञान से श्रेष्ठता प्रतिपादित करने वाला यह श्लोक ऐतिहासिक दृष्टि से भी महत्वशाली है, क्योकि आचार्य शकर ने दादा गुरु श्रीगौड़पादाचार्य ने 'उत्तरगीता' की अपनी टीका में 'तदुक्त भगवते' कहकर श्लोक को उद्धृत किया है। अत भागवत का समय गौडपाद (शप्तम शतक)

---

[1] "न साधयति मा योगो न साङ्ख्य धर्म उद्धव।
न स्वाध्यायस्तपो त्यागो यथा भक्तिर्मयोर्जिता।।" - भाग० ११/१४/२०

[2] भाग० ७/७/५१-५२

[3] भाग० १/१/१२

[4] भाग० १०/१४/४

से कहीं अधिक प्राचीन है। त्रयोदशशतक में उत्पन्न बोपदेव को भागवत का कर्त्ता मानना एक भयकर ऐतिहासिक भूल है।

अत भक्ति की उपादेयता मुक्तिविषय में सर्वश्रेष्ठ है। भक्ति दो प्रकार की मानी जाती है- 'साधनरूपाभक्ति' और 'साध्यरूपाभक्ति'। साधनभक्ति नौ प्रकार की होती है- श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चना, वन्दन, दास्य, सख्य, तथा आत्मनिवेदन। भागवत में सत्सगति की महिमा का वर्णन बडे सुन्दर शब्दों में किया गया है। साध्यरूपा या फलरूपा भक्ति प्रेममयी होती है। जिसके सामने अनन्य भगवत्पदाश्रित भक्त ब्रह्मा के पद, इन्द्रपद, चक्रवर्ती पद, लोकाधिपत्य तथा योग की विविध विलक्षण सिद्धियों को कौन कहे, मोंक्ष को भी नही चाहता। भगवान् के साथ नित्य वृन्दावन में ललित विहार की कामना करने वाले भगवच्चरणचचरीक भक्त शुष्क नीरस मुक्ति को प्रयासमात्र मानकर तिरस्कार करते हैं।[1]

भक्त का हृदय भगवान् के दर्शन के लिये उसी प्रकार छट पटाया करता है, जिस प्रकार पक्षियों के पखरहित बच्चे माता के लिये, भूख से व्याकुल बछडे दूध के लिये तथा प्रिय के विरह में व्याकुल सुन्दरी अपने प्रियतम के लिये छटपटाती है।[2] इस प्रेमाभक्ति की प्रतिनिधि ब्रज की गोपिकाएँ भी जिनके विमल प्रेम का रहस्यमय वर्णन व्यासजी ने रासपचाध्यायी में किया है। इस प्रकार भक्तिशास्त्र के सर्वस्व भागवत से भक्ति का रसमय स्रोत भक्तजनों के हृदय को आप्यापित करता हुआ प्रवाहित हो रहा है। भागवत के श्लोकों में एक विचित्र अलौकिक माधुर्य भरा है। अत भाव तथा भाषा उभय दृष्टि से श्रीमदभागवत्[3] का कथन यथार्थ है।

६. नारदीय पुराण-

बृहन्नारद पुराण नामक एक उपपुराण भी मिलता है। अत उससे इसे पृथक् करने के लिये इसे नारदीय पुराण नाम दिया गया है। इस ग्रन्थ में दो भाग है। पूर्वभाग में अध्यायों की सख्या १२५ है। और उत्तरभाग में ८२ है। सम्पूर्ण श्लोकों की सख्या २५,००० हैं। डाक्टर विल्सन ने इस पुराण का रचनाकाल १६वीं शताब्दी बतलाया है तथा इसे विष्णु-भक्ति का प्रतिपादक

---

[1] भाग० ११/१०/१४

[2] अजातपक्षा इव मातर खगा स्तन्य यथा वत्सतरा क्षुधार्ता।
प्रिय प्रियेव व्युषित विपण्णा मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम्।। - भाग ६/११/२६

[3] भाग० पु० - १२/१३/१८

एव सामान्य ग्रन्थ माना है। परन्तु ये दोनों बाते सर्वथा निराधार हैं। १२वीं शताब्दी में बल्लालसेन ने अपने 'दानसागर' नामक ग्रन्थ में इस पुराण के श्लोकों को उद्धृत किया है। अलबरूनी (११वी शताब्दी) ने भी अपनी यात्रा विवरण में इस पुराण का उल्लेख किया है।

अत यह पुराण निश्चय ही इन दोनों ग्रन्थकारों के काल से प्राचीन है। इस ग्रन्थ के पूर्वभाग में वर्ण और आश्रम के आचार, श्राद्ध प्रायश्चित्त आदि का वर्णन किया गया है। इसके अनन्तर व्याकरण निरुक्त, ज्योतिष छन्द आदि शास्त्रों का अलग-अलग एक-एक अध्याय में विवेचन है। अनेक अध्यायों में विष्णु, राम, हनुमान, कृष्ण काली, महेश के मन्त्रों का विधिवत् निरूपण किया गया है। विष्णुभक्ति को ही मुक्ति का परम साधन सिद्ध किया गया है। इसी प्रसग को लेकर उत्तरभाग [1]में विख्यात विष्णुभक्त राजा 'रुक्मागद' का चारू चरित्र वर्णित किया गया है।

यह पुराण ऐतिहासिक दृष्टि से भी बडा महत्त्वपूर्ण है। अठारहवों पुराणों के विषयों की विस्तृत अनुक्रमणी यहाँ[2] दी गयी है। यह अनुक्रमणी सभी पुराणों को जानने के लिये अत्यन्त आवश्यक है। इसकी सहायता से हम वर्त्तमान पुराणों के मूलरूप तथा प्रक्षिप्त अश की छानबीन बडी सुगमता के साथ कर सक्ते है। विष्णुभक्ति की इसमें प्रधानता होने पर भी यह पुराण पुराणों के पचलक्षणों से रहित नही है।

७. मार्कण्डेय पुराण-

इस पुराण का नामकरण मार्कण्डेय ऋषि द्वारा कथन किये जाने से हुआ है। परिमाण में ये पुराण छोटा है। इसके अध्यायों की सख्या १३७ है और श्लोकों की सख्या ६,००० है। इस पूरे पुराण का अग्रेजी में अनुवाद पार्जिटर साहब ने किया है (विब्लोथिका इण्डिका सीरीज कलकत्ता १८८८ से १६०५ ई०) तथा इसके आरम्भिक कतिपय अध्यायों का अनुवाद जर्मन भाषा में भी हुआ है। जिसमें मरणोत्तर जीवन की कथा कही गयी है। इन पश्चिमी विद्वानों की सम्मति में यह पुराण बहुत प्राचीन, बहुत लोकप्रिय तथा नितान्त उपादेय है। हमारी दृष्टि मेंभी यह सम्मति ठीक ही जान पडती है।

[1] नारद पु० अ० - ७-३७ तक
[2] नारद पु० अ० - ६२-१०६ पूर्व भाग

प्राचीन काल की प्रसिद्ध ब्रह्मवादिनी महिषी मदालसा का पवित्र जीवन-चरित्र इस ग्रन्थ में बडे विस्तार के साथ दिया गया है। मदालसा ने अपने पुत्र अलर्क को शैशव से ही ब्रह्मज्ञान का उपदेश किया जिससे उसने राजा होने पर भी ज्ञानयोग के साथ कर्मयोग का अपूर्व सामजस्य कर दिखाया। इसी ग्रन्थ का 'दुर्गासप्तशती' एक विशिष्ट अश है। इसमें देवी भक्तों के लिये सर्वस्वरूप दुर्गा का पवित्र चरित बडे विस्तार के साथ दिया गया है।

पुराणों में मार्कण्डेय पुराण अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है। इसका प्रधान कारण है कि इसके भीतर १३ अध्यायों में देवी माहात्म्य का प्रतिपादक बडा ही महनीय अश है, जिसमें देवी के त्रिविध रूप-महाकाली, महालक्ष्मी, महासरस्वती के चरित का वर्णन बडे विस्तार से किया गया है। इस विश्रुत आख्यान के अतिरिक्त मन्वन्तरों का विस्तृत विवरण इस पुराण का वैशिष्ट्य माना जा सकता है। औत्तम मनु का वर्णन ६६-७३ अ०, तामस् का ७४ अ०, रैवत का ७५ अ०, चाक्षुष का ७६अ० वैवस्वत का ७७-७६ अ०, तथा सावर्णि का ८० अ०-६३ अध्याय तक है और देवी माहात्म्य या सप्तशती सावर्णि मन्वन्तर के वर्णनावसर पर प्रकट किया गया है। इसमें पुराण के पचलक्षण का विवरण प्राय उपलब्ध होता है। मार्कण्डेय[1] सृष्टि वर्णन के लिये विष्णु पुराण का अधमर्ण है।

इस पुराण में वैदिक इष्टियों के महत्त्व की भी विशिष्ट सूचना है। उत्तम ने मित्रवृन्दा नामक इष्टि के द्वारा अपनी परित्यक्ता पत्नी को पाताल लोक से प्राप्त किया तथा सरस्वती इष्टि के द्वारा उस नाग-कन्या के गूँगेपन को दूर किया, जो इनकी पत्नी के साथ रहने से पिता द्वारा अभिशप्त होने से गूँगी बन गयी थी। सारस्वत सूक्तों के जप होने के कारण से यह इष्टि इस नाम से पुकारी जाती है। मार्कण्डेय पुराण का आरम्भ तो महाभारत सम्बन्धी चार प्रश्नों के समाधान के लिये होता है। मार्क० में व्रत, तीर्थ या शान्ति के विषय में श्लोक नहीं है, परन्तु आश्रम धर्म, राजधर्म, श्राद्ध, नरक, कर्मविपाक, सदाचार, योग, (दत्तात्रेय द्वारा अलर्क को उपदिष्ट) के विवरण देने में विशेष आग्रह दृष्टिगोचर होता है।

---

[1] *अध्याय ४७ - मार्कण्डेय पु०*

इस पुराण में विद्वानों ने विश्लेषण से तीन स्तरों को खोज निकाला- १ पक्षी वक्ता के रूप में कहे गये है,[1] २. जिसमें मार्कण्डेय और उनके शिष्य क्रौष्टुकि का सवाद वर्णित है,[2] ३. सप्तशती- इसी खण्ड के भीतर एक स्वतन्त्र अश मानी जाती है। ये तीनों आपस में असम्बद्ध होने पर भी एकत्र सन्निविष्ट हैं। निबन्धकारों ने इस पुराण से अनेक उद्धरण प्रस्तुत किये है। कल्पतरू ने मोक्ष के प्रसग में इस पुराण से लगभग १२० श्लोक योग-विषय में उद्धृत किये है जो प्रचलित पुराण में मिलते है। अपरार्क ने ८५ उद्धरण दिये है, जिनमें से ४२ योग के विषय में तथा अन्य दानादि के विषय में है। मार्कण्डेय का ब्रह्माण्ड के समान[3] ही कथन है कि सह्य पर्वत के उत्तर भाग में गोदावरी के समीप का देश जगत् में सर्वाधिक मनोरम है।

लेखक की दृष्टि में इस पुराण के उद्गम स्थल के विषय में यह सकेत माना जा सकता है। यह पुराण प्राचीन पुराणों में अन्यतम माना जाता है और विषय प्रतिपादन की दृष्टि से पर्याप्त रूप से नवीन तथ्यों का विवरण प्रस्तुत करता है। इसे गुप्त काल की रचना मानने में किसी प्रकार की विप्रपत्ति नहीं है। जोधपुर से उपलब्ध दधिमती माता के शिलालेख में 'सर्वमगलमागल्ये'[4] श्लोक उद्धृत है। इसका समय २८६ दिया गया है, जिसे भडारकर गुप्त सवत् मानते है, परन्तु मिराशी इसे ही तद्भिन्न भाटिक सवत् का निर्देश मानकर इसका समय ८१३ ई० मानते है।[5] जो कुछ भी हो, यह पुराण ६०० ई० से प्राचीनतर है और ४००-५०० ई० के बीच माना जाना चाहिए। देवी के तीन चरितों का वर्णन देवी भागवत में भी आता है। इन दोनों की तुलनात्मक समीक्षा से यही प्रतीत होता है कि मार्कण्डेय का देवामाहात्म्य (सप्तशती) देवी भागवत् के एतद् विषयक विवरण से नि सन्देह प्राचीन है। देवी भागवत् का विवरण सप्तशती के ऊपर विशेष रूपेण आधृत है।[6]

८. अग्नि पुराण-

वर्तमान 'अग्नि पुराण' विभिन्न शताब्दियों में प्राचीन ग्रन्थों से सार सगृहीत कर निर्मित हुआ है और यहीं कारण है कि निबन्ध ग्रन्थों में उद्धृत इसके वचन यहा उपलब्ध नहीं होते।

---

[1] अ० १-४२ - मार्कण्डेय पु०
[2] अ० ४३ - मार्कण्डेय पु०
[3] अ० ५४ - मार्कण्डेय पु०
[4] सप्तशती का प्रख्यात श्लोक
[5] मिराशी का लेख A lower limit for the date of the Devi-Mahatmya, (Purana Vol 1 no 4 PP 181-186
[6] पुराण्म् (भाग ५, स० १, जनवरी १९६३), पृ० ६०-११३

डा० हाजरा के पास 'वाह्नि पुराण' का हस्तलेख विद्यमान है, जिसमें निबन्धकारों के अग्निपुराणीय वचन शतश उपलब्ध होते है, और इसी कारण वे उसे ही प्राचीन अग्निपुराण मानते हैं। प्रचलित अग्नि पाचरात्रों के द्वारा प्रतिसस्कृत, वैष्णव पूजार्चा का माहात्म्यवबोधक पुराण है, जो विशेष प्राचीन तथा मौलिक पुराण नहीं है।

इस पुराण के विषय में ज्ञातव्य है कि लोक-शिक्षण के लिये उपयोगी विद्याओं का सग्रह प्रस्तुत करने वाला ग्रन्थ है, जिसे हम आजकल की भाषा में 'पौराणिक विश्वकोष' के अभियान से पुकार सकते है। इसका उद्देश्य समस्त विद्याओं का सग्रह प्रस्तुत करना है इस उद्देश्य में ग्रन्थ पूर्णतया सफल हुआ है, क्योकि उसने तत्तत् शास्त्रविषयक प्रौढ ग्रन्थों से सामग्री सकलित कर सचमुच इसे विशेष उपयोगी बनाया है। धर्माशास्त्रीय विषयों के सकलन के साथ ही साथ वैज्ञानिक विषयों का सग्रह भी बडा मार्मिक है। ऐसे विषयों में है- आयुर्वेद, अश्वायुर्वेद, गजायुर्वेद, वृक्षायुर्वेद, गोचिकित्सा, रत्नपरीक्षा, धनुर्विद्या, वास्तुविद्या, प्रतिमालक्षण् राजधर्म, काव्यविवेचन आदि-आदि।

इन्ही विद्याओं के विवरण से अग्निपुराण के निर्माण काल का परिचय दिया जा सकता है। अग्निपुराण भोजराज के सरस्वती कण्ठाभरण का प्रधान उपजीव्य ग्रन्थ है। फलत इसे एकादश शती से प्राचीन होना चाहिए। उधर अग्निपुराण का अपना उपजीव्य ग्रन्थ दण्डी का काव्यादर्श है। (सप्तमशती) फलत सप्तम शती से प्राक्कालीनता इस पुराण की स्वीकार नहीं की जा सकती। अत अग्निपुराण का रचना काल सप्तम-नवम शती के मध्य में कभी मानना सर्वथा समीचीन होगा।

मूल अग्निपुराण बह्निपुराण नाम से भी प्रख्यात था। स्कन्दपुराण के शिव रहस्य खण्ड का कथन है कि अग्नि की महिमा का प्रतिपादन अग्निपुराण का लक्ष्य है- यह वैशिष्ट्य प्रचलित अग्निपुराणों में न मिलकर वह्निपुराण में ही उपलब्ध होता है, जिससे इसकी मौलिकता सिद्ध होती है। यह प्राचीन पुराण है जिसकी रचना का काल चतुर्थशती से अर्वाचीन नहीं माना जाता। अग्निपुराण में विहित तान्त्रिक अनुष्ठानों के कतिपय विशिष्ट अनुष्ठान बंगाल में ही उपलब्ध तथा प्रचलित हैं। इसलिये इसका उद्भव स्थान बगाल का पश्चिम भाग प्रतीत होता है।

इस पुराण को यदि समस्त भारतीय विद्याओं का विश्वकोष कहें तो किसी प्रकार अत्युक्ति न होगी। इन पुराणों का उद्देश्य जनसाधारण में ज्ञातव्य विद्याओं का प्रचार करना भी था, इसका पूरा परिचय हमें इस पुराण के अनुशीलन से मिलता है। इस पुराण के ३८३ अध्यायों में नाना प्रकार के

विषयों का सन्निवेश कम आश्चर्य का विषय नहीं है। अवतार की कथाओं का सक्षेप में वर्णन कर रामायण और महाभारत की कथा पर्याप्त विस्तार के साथ दी गयी है। मन्दिर निर्माण की कला के साथ प्रतिष्ठा तथा पूजन के विधान का विवेचन सक्षेप में सुचारु रूप से किया गया है। ज्योतिषशास्त्र, धर्मशास्त्र, व्रत, राजनीति, आयुर्वेद आदि शास्त्रो का वर्णन बडे विस्तार के साथ मिलता है।

अलकार शास्त्र का विवेचन बडे ही मार्मिक ढग से किया गया है। व्याकरण की भी छानबीन कितने ही अध्यायों में की गयी है। कोश के विषय में भी कई अध्याय लिखे गये है जिनके अनुशीलन से पाठकों के शब्दज्ञान की विशेष वृद्धि हो सकती है। योगशास्त्र के यम, नियम आदि आठों अगो का वर्णन सक्षेप में बडा ही सुन्दर है। अत में अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्तों का सार-सकलन है। एक अध्याय में गीता का भी साराश एकत्रित किया गया है। इस प्रकार इस पुराण के अनुशीलन से समस्त ज्ञान-विज्ञान का परिचय मिलता है। इसलिये इस पुराण का दावा सर्वथा सच्चा ही प्रतीत होता है।

९. भविष्य पुराण-

इस पुराण के विषय में सबसे अधिक गडबडी दिखायी पडती है। इसके नामकरण का कारण यह है कि इसमें भविष्य में होने वाली घटनाओं का वर्णन किया गया है। इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि समय-समय पर होने वाले विद्वानों ने इसमें अपने समय में होने वाली घटनाओं को भी जोडना प्रारम्भ कर दिया, और तो क्या, इसमें 'इग्रेज' नाम से उल्लिखित अग्रेजों के आने का भी वर्णन मिलता है। प० ज्वालाप्रसाद मिश्र को इस पुराण की विभिन्न चार हस्तलिखित प्रतियाँ मिली थीं, जो आपस में विषय की दृष्टि से नितान्त भिन्न थी। उनका कहना है कि आजकल जो भविष्य-पुराण उपलब्ध होता है उसमें इन चारों प्रतियों का मिश्रण है। यही इस पुराण की गडबड़ी का कारण है।

नारद पुराण के अनुसार इसके पाच पर्व है- १. ब्राह्म पर्व २. विष्णु पर्व ३. शिव पर्व ४. सूर्य पर्व ५. प्रतिसर्ग पर्व। इसमें श्लोकों की सख्या १४,००० है। इस पुराण में सूर्य पूजा का विशेष रूप से वर्णन है। कृष्ण के पुत्र शाम्ब को कुष्ठ रोग हो गया था, जिसकी चिकित्सा करने के लिये गरुड शकद्वीप से ब्राह्मणों को लिवा लाये, जिन्होने सूर्य भगवान् की उपासना से शाम्ब को रोगमुक्त कर दिया। इन्हीं ब्राह्मणों को शाकदद्वीपी मग या भोजक ब्राह्मण कहते है। सूर्योपासना के रहस्य तथा

कलि मे उत्पन्न विभिन्न ऐतिहासिक राजवशों के इतिहास जानने के लिये यह पुराण नितान्त उपादेय है।

भविष्य-पुराण का रूप इतना बदलता रहा तथा इतने नये-नये अश उसमें जुटते रहे कि उसका मूल स्वरूप आज इन प्रतिसस्कारों के कारण बिल्कुल अज्ञेय है। वेंकटेश्वर से प्रकाशित भविष्य में इतनी नवीन बातें जोडी गयी हैं कि इन प्रक्षेपों की इयत्ता नहीं। इसकी अनुक्रमणी नारदीय[1] में, मत्स्य[2] में और अग्नि[3] में उपलब्ध होती है, जो प्रचलित पुराणस्थ विषयों से मेल नहीं खाती। तथ्य तो यह है कि आपस्तम्भ के द्वारा उद्धृत होने से इसकी प्राचीनता नि सन्दिग्ध है, परन्तु इसके नाम द्वारा प्रलोभित होकर लेखकों ने अपनी कल्पना का उपयोग कर इसका परिबृहण खूब ही किया है। इसके चार पर्व है- ब्राह्म, मध्यम, प्रतिसर्ग तथा उत्तर। वायु पुराण भविष्य का निर्देश करता है।[4]

परन्तु यह निर्देश प्राचीन भविष्य के विषय में है, प्रचलित भविष्य के विषय में नहीं। वाराह पुराण ने भी भविष्य का दो बार उल्लेख किया है, जिसमें साम्ब के द्वारा इसके प्रतिसंस्कार की, तथा सूर्यदेव की मूर्ति-स्थापना की चर्चा है। बल्लभसेन ने भविष्योत्तर को प्रामाणिक न होने से बिल्कुल ही तिरस्कृत कर दिया है। अपरार्क लगभग १६० पद्य इसके उद्धृत करते हैं। अलबरूनी के द्वारा उद्धृत होने से प्रचलित भविष्य का समय दशम शती मानना कथमपि असगत न होगा।

१०. ब्रह्मवैवर्त पुराण-

ब्रह्मवैवर्त शब्द का अर्थ है- 'ब्रह्मणो विवर्त. (परिणाम.) ब्रह्मविवर्त '- ब्रह्म का विवर्त (परिणाम)। ब्रह्म का आद्य विवर्त प्रकृति है। अतः ' ब्रह्मविवर्त' शब्द का अर्थ प्रकृति होता है। ब्रह्मविवर्तस्य (प्रकृते) विवर्ता (परिणामाः) यत्र प्रदर्श्यन्ते तत् पुराणम् ब्रह्मवैवर्तम्'। प्रकृति के भिन्न-भिन्न परिणामों का जहा प्रतिपादन हो, वह पुराण ग्रन्थ ब्रह्मवैवर्त है।

ब्रह्मवैवर्त के प्रकृति खण्ड में प्रकृति के दुर्गा, लक्ष्मी, सरस्वती, सावित्री तथा राधा नामक मुख्य पाच विवर्तो का वर्णन है। इन मुख्य विवर्तो में पाचवा राधा शब्द 'राध साध संसिद्धौ' इस धातु से निष्पन्न हुआ है। विवर्त का नाम राधा है। राधा नाम प्राण-शक्ति का है। प्राण शक्ति से ही यह

---

[1] ना० पु० १/१०० अ०
[2] मत्स्य पु० - ५३/३०-३१
[3] अग्नि पु० - २७२/१२
[4] यान् सर्वान् कीर्तमिष्यामि भविष्ये पठितान् नृपान्।
तेभ्य परेत्र ये चान्ये उत्पत्स्यन्ते महीक्षित।। - वायु० पु० ९९/२६७

विश्व राद्ध है। अत प्राणशक्ति राधा है। यह प्राणशक्ति राधा और प्राणेश्वर कृष्ण दोनों परस्पर में अनुस्यूत हैं।

भगवान् कृष्ण की राधापर- नामा यह प्राणशक्ति अनेक विवर्तो में विवर्तित होकर भगवान् के सयोग, वियोग, आलिगन आदि अवस्थाओं से विश्व में विभिन्न कार्यो की राधिका (साधिका) हैं। प्राणशक्ति की इस प्रक्रिया का वर्णन ग्रन्थकर्त्ता ने दार्शनिक परिभाषाओं से न करके कामशास्त्र में परिभाषित परिभाषाओं (सयोग, वियोग एव आलिगन) से किया है। ऐसा करने में ग्रन्थकार स्वतन्त्र है, उसकी रुचि ही प्रमाण है।

इस पुराण के श्लोकों की सख्या १८,००० के लगभग है। इस प्रकार यह पुराण भागवत की अपेक्षा परिमाण मे छोटा नही। इस पुराण में चार खण्ड है- १. ब्रह्मखण्ड २ प्रकृतिखण्ड ३. गणेश खण्ड ४ कृष्ण जन्म खण्ड।

ब्रह्म खण्ड-

इसमें केवल तीस अध्याय है जिनमें कृष्ण के द्वारा जगत् की सृष्टि का वर्णन है। इसका १६वॉं अध्याय आयुर्वेद शास्त्र के विषय का वर्णन करता है। प्रकृत पुराण के इस खण्ड में सौति आगमन एव कुशल प्रश्न के उपरान्त गुरुवन्दन पूर्वक गोलोक की सर्वोच्चता, वैकुण्ठ शिवलोक की स्थिति एव प्रलय काल में भी अन्य लोकों का नाश हो जाने पर गोलाक की शाश्वत स्थिति का उल्लेख प्राप्त होता है। ससार की रचना यहॉं श्रीकृष्ण से बतायी गयी है। उनके दक्षिणाग से विश्वोत्पत्ति के आधारभूत तत्त्व पचमहाभूतों तथा पचतन्मात्रादि की उत्पत्ति निदर्शित की गयी है। इतना ही नहीं ब्रह्मा, शिव, नारायण, धर्म, कामदेव, सरस्वती, लक्ष्मी, सावित्री, दुर्गादि देव-देवियों के वे उत्पत्ति स्थल हैं। गो-गोप भी उन्ही से उत्पन्न कहे गये हैं।

इसके अतिरिक्त ब्रह्मा द्वारा पृथ्वी पर्वत समुद्रादि की सृष्टि का उल्लेख है। चन्द्रमा को अपनी पत्नी रोहिणी में विशेष स्नेह रखने से दक्षशाप का वर्णन, घृताची विश्वकर्मा से अनेक शकर जातियों के जन्म, नारद के पूर्वजन्म का वर्णन, उपबर्हण रूप से उसके देह त्याग कर मालावती द्वारा शोक प्रकट करना, ब्राह्मण बालक के वेश में समागत भगवान् द्वारा आयुर्वेद का प्रकाशन, ब्राह्मणादि वर्णो के आन्हिक कार्य का कथन, भक्ष्या-भक्ष्य विवेचन तथा श्री कृष्ण का माहात्म्य निरूपण किया गया है। इसमें तीस अध्याय है। अध्याय १ से ६ तक का विवरण इस प्रकार है- कि पहले परमात्मा श्री कृष्ण

ने महान उज्ज्वल तेज पुज गोलोक, वैकुण्ठ लोक और शिवलोक की स्थिति का वर्णन करके गोलोक में श्याम-सुन्दर भगवान् श्री कृष्ण के परात्पर स्वरूप का निरूपण किया गया है। अनन्तर श्रीकृष्ण से सृष्टि का आरम्भ, नारायण महादेव, ब्रह्मा, धर्म, सरस्वती, महालक्ष्मी और प्रकृति (दुर्गा) का प्रादुर्भाव बताकर इन सबके द्वारा पृथक्-पृथक् श्रीकृष्ण की स्तुति कराई गयी है। इसके बाद सावित्री, कामदेव, रति, अग्नि, अग्निदेव, जल, वरुणदेव, स्वाहा, वरुणनी, वायुदेव, वायवी देवी तथा मोदिनी के प्राकट्य का वर्णन किया गया है। फिर ब्राह्म आदि कल्पों का परिचय, गोलोक में श्रीकृष्ण का नारायण आदि के साथ रासमण्डल में निवास, श्रीकृष्ण के वामपार्श्व से श्री राधा का प्रादुर्भाव राधा के रोमकूपों से गोपागनाओं का प्राकट्य तथा श्रीकृष्ण से गोपों, गौओ, बलीवर्दो, हसो, श्वेत अश्वो, और सिहों की उत्पत्ति, श्रीकृष्ण द्वारा पॉच रथों का निर्माण तथा पार्षदों का प्राकट्य एव भैरव, ईशान और डाकिनी आदि की उत्पत्ति बतायी गयी है। इसके बाद श्री कृष्ण ने नारायण आदि को पत्नी रूप मे लक्ष्मी आदि देवियॉ प्रदान की। शकर ने दार-सयोग में अरुचि प्रकट करके निरन्तर भजन करने के लिए वर मॉगा। भगवान् ने उन्हे नाम आदि की महिमा बताकर उन्हें भविष्य में शिवा से विवाह करने की आज्ञा देकर शिवा आदि को मत्र आदि का उपदेश दिया।

अध्याय ७-१३- इसमें ब्रह्मा ने मेदिनी, पर्वत, समुद्र, द्वीप, मर्यादा-पर्वत, पाताल, स्वर्ग आदि का निर्माण किया तथा कृत्रिम जगत् की अनित्यता एव बैकुण्ठ, शिवलोक और गोलोक की नित्यता का प्रतिपादन किया। सावित्री से वेद आदि की सृष्टि हुई और ब्रह्मा से सनकादि, सस्त्रीक स्वायम्भुवमनु, रुद्रों पुलस्यादि मुनियों तथा नारद की उत्पत्ति हुई, फिर नारद को ब्रह्मा का तथा ब्रह्मा को नारद का शाप पड़ा। मारीचि आदि ब्रह्मकुमारों तथा दक्षकन्याओं से अनेकानेक सताने हुई। दक्ष के शाप से पीडित चन्द्रमा भगवान् शिव की शरण में गये अपनी कन्याओं के अनुरोध पर दक्ष चन्द्रमा को लौटा लाने गये। शिव की शरणागत में वत्सलता तथा विष्णु की कृपा से दक्ष को चन्द्रमा मिल गये। जाति और सम्बन्ध का निर्णय हुआ। सूर्य के अनुरोध से सुतपा ने अश्विनीकुमारों को शापमुक्त किया तथा सन्ध्यानिरत वैष्णव ब्राह्मण की प्रशसा की। गन्धर्वराज की तपस्या से सन्तुष्ट हुए भगवान् शकर ने उन्हें अभीष्ट वर दिया तथा नारद जी उनके पुत्र से उत्पन्न हो उपबर्हण नाम से प्रसिद्ध हुए। ब्रह्म के शाप से उपबर्हण ने योग धारणा द्वारा अपने शरीर को त्याग दिया। उनके पत्नी मालावती ने विलाप

एव प्रार्थना की। पश्चात् वह देवताओं को शाप देने के लिये उद्यत हो गयी। आकाशवाणी द्वारा भगवान का आश्वासन पाकर देवताओं ने कौशिकी के तट पर मालावती का दर्शन किया।

अध्याय १४ से २० तक - ब्राह्मणरूपधारी विष्णु ने मालावती से वार्ता किया। ब्राह्मण के पूछने पर मालावती ने अपने दु ख और इच्छा को व्यक्त किया तथा ब्राह्मण के कर्मफल के विवेचना पूर्वक विभिन्न देवताओं की आराधना से प्राप्त होने वाले फल का वर्णन किया और श्री कृष्ण एव उनके भजन की महिमा बताई। फिर अपनी शक्ति का परिचय और मृतक को जीवित करने का आश्वासन दिया मालावती ने पति के महत्त्व का वर्णन किया और काल, यम, मृत्युकन्या आदि को ब्राह्मण द्वारा बुलाकर उनसे बातें की। यम आदि ने अपने को ईश्वर की आज्ञा का पालक बताया और उसे श्रीकृष्ण चिन्तन के लिये प्रेरित किया मालावती के पूछने पर ब्राह्मण ने वैधक सहिता का वर्णन किया जिसमें आयुर्वेद की आचार्य परम्परा उसके सोलह प्रमुख विद्वानों तथा उनके द्वारा रचित तन्त्रों का नाम-निर्देश, ज्वर आदि चौसठ रोग, उनके हेतुभूत वात, पित्त, कफ की उत्पत्ति के कारण और उनके निवारण के उपायों का विवेचन है। ब्राह्मण बालक के साथ क्रमश ब्रह्मा, शकर तथा धर्म ने बातचीत की और देवताओं ने श्री विष्णु की तथा ब्राह्मण भगवान श्री कृष्ण की उत्कृष्ट महत्ता का प्रतिपादन किया। ब्रह्मा आदि देवताओं ने उपबर्हण को जीवित करने की चेष्टा की, मालावती ने भगवान् श्रीकृष्ण की स्तु ति की। तब शक्ति सहित भगवान् ने गन्धर्व के शरीर में प्रवेश किया, जिससे गन्धर्व जी उठा। मालावती ने प्रचुर दान दिया। इसके बाद ब्रह्माण्ड पावन नामक कृष्णकवच, ससारपावन नाम शिवकवच तथा शिवस्तवराज का वर्णन किया गया है। गोपत्नी कलावती के गर्भ से एक शिशु के रूप में उपबर्हण का जन्म हुआ। तत्पश्चात् शूद्रयोनि में उत्पन्न बालक नारद को जीवनचर्या, नाम की व्यत्पत्ति, उसके द्वारा सतों की सेवा, सनत्कुमार द्वारा उसे उपदेश की प्राप्ति, उसके द्वारा श्रीहरि के स्वरूप का ध्यान, आकाशवाणी और उस बालक के देहत्याग की कथा वर्णित है।

अध्याय २१ से ३० - ब्रह्मा के पुत्रों के नामों की व्युत्पत्ति के बाद ब्रह्मा से सृष्टि के लिये दारपरिग्रह की प्रेरणा पाकर डरे हुऐ नारद ने स्त्री सग्रह के दोष बताकर तप के लिये जाने की आज्ञा मॉगी। ब्रह्मा ने नारद को गृहस्थ धर्म का महत्त्व बताकर विवाह के लिये राजी किया, और नारद पिता की आज्ञा लेकर शिवलोक को विदा हो गये। वहाँ नारद को भगवान् शिव का दर्शन मिला। शिव ने

उनका सत्कार किया तथा मनोवाछापूर्ति के लिये आश्वासन दिया। इसके बाद ब्राह्मण के अह्निक आचार तथा भगवान् के पूजन की विधि का वर्णन है। फिर ब्राह्मणों के लिये भक्ष्याभक्ष्य तथा कर्त्तव्याकर्त्तव्य का एव परब्रह्म परमात्मा के स्वरूप का निरूपण किया गया। वदरिकाश्रम में नारायण ने नारद से प्रश्न पूछा और नारायण ने परम पुरुष परमात्मा श्रीकृष्ण तथा प्रकृति देवी की महिमा का प्रतिपादन किया।

२. प्रकृति खण्ड-

इस खण्ड में देव-देवियों की उत्पत्ति, प्रकृति-चरित्र, भू आदि लोक वर्णन, महाविराट् की उत्पत्ति एव उसका जगत् स्रष्टत्त्व, सरस्वती मन्त्र पूजा, कवचादि का वर्णन, याज्ञवल्क्य द्वारा वाग्देवी स्त्रोत पठन; कृष्ण को राधा का उपालम्भ, विष्णु के साथ गगा का गान्धर्व विवाह, वृष ध्वज, हसध्वज, धर्मध्वज, कुशध्वज चरित्र, कुशध्वज से वेदवती का जन्म, वेदवर्ता द्वारा तपस्या तथा उसके द्वारा रावण को शाप, धर्मध्वज से तुलसी जन्म, तुलसी शखचूड विवाह, शखचूड के साथ शिव का युद्ध, शखचूड का मरकर गोलोक जाना, नारायण तुलसी सयोग, सावित्री उपाख्यान, सत्यवान् सावित्री विवाह, यम-सावित्री सवाद, पापियों की गति, यम यातनादि वर्णन, दुर्वासा के शाप से श्री नष्ट होना, स्वाहा, स्वधा, दक्षिणा, षष्ठी, मगल, चण्डी, मनसादि देवियों के आख्यान, राधा सुदामा के परस्पर शाप का उल्लेख, सुरभ-समाधि चरित्र, मेघा ऋषि के आश्रम पर दोनों द्वारा देवी की आराधना करना और उनकी स्तुति से देवी का प्रसन्न होना बताया गया है। इसके अनन्तर दुर्गा कवच एव स्तोत्रादि का वर्णन किया गया है।

इस खण्ड में ६७ अध्याय है- अध्याय १ से १४ में पचदेवी रूपा प्रकृति का तथा उनके अश कला एव कलाश का विशद वर्णन करने के उपरान्त परब्रह्म श्रीकृष्ण और श्रीराधा से प्रकट चिन्मय देवी और देवताओं चरित्र चित्रित किये गये हैं। इसके बाद परिपूर्णतम श्रीकृष्ण और चिन्मयी श्री राधा से प्रकट विराट् स्वरूप बालक का वर्णन तथा सरस्वती की स्तुति पूजा का विधान और कवच प्रस्तुत है। याज्ञवल्क्य ने भगवती सरस्वती की स्तुति की। विष्णु-पत्नी-लक्ष्मी, सरस्वती एव गगा परस्पर शापवश भारतवर्ष में पधारी। इसके बाद कलियुग के भावी चरित्र कालमान तथा गोलोक की श्रीकृष्णलीला का वर्णन किया गया था। फिर पृथ्वी की उत्पत्ति का प्रसग, ध्यान और पूजन का प्रकार तथा स्तुति एव पृथ्वी के प्रति शास्त्रविपरीत व्यवहार करने पर नरकों की प्राप्ति का वर्णन है। गगा की

उत्पत्ति के विस्तृत प्रसग में श्रीराधजी ने गगा पर रोष किया, राधा ने श्रीकृष्ण को उपालभ दिया। गगा श्रीराधा के भय से श्रीकृष्ण के चरणों में छिप गयीं, जलभाव से पीडित देवगण गोलोक में गये। ब्रह्मा जी की स्तुति से राधा प्रसन्न हो गयी तथा गगा प्रकट हुई। फिर देवताओं के प्रति श्रीकृष्ण के आदेश और गगा के विष्णुपत्नी होने का प्रसग आता है। तदन्तर तुलसी के कथा प्रसग में राजा वृषध्वज का चरित्र-वर्णन किया गया है। फिर देववती की कथा आती है, इसी प्रसग में भगवान् राम के चरित्र का एक अश और भगवती सीता तथा द्रौपदी के पूर्वजन्म का वृत्तान्त कहा गया है।

अध्याय १५-२८ तक - भगवती तुलसी का प्रादुर्भाव हुआ। स्पप्न में तुलसी को शखचूड के दर्शन हुए। शखचूड तथा तुलसी के विवाह के लिये ब्रह्मा ने दोनो को आदेश दिया। तुलसी के साथ शखचूड का गान्धर्व विवाह हुआ। और देवताओं ने उनके पूर्वजन्म का वृत्तान्त जाना। पुष्पदन्त दूत बनकर शखचूड के पास गया और शखचूड ने तुलसी के प्रति ज्ञानोपदेश किया। फिर शखचूड पुष्पभद्रा नदी के तट पर गया, वहा भगवान् शकर का दर्शन तथा उनसे विशद वार्तालाप हुआ। भगवान् शकर और शखचूड के पक्षों में युद्ध ढन गया। भद्रकाली ने भयकर युद्ध किया। जब भद्रकाली ने पाशुपतास्त्र चलाना चाहा तब आकाशवाणी ने उसे रोक दिया। तब भगवान् शकर और शखचूड का युद्ध हुआ। इस बीच शखचूड वेशधारी हरि ने तुलसी का पतिव्रत्य भग किया। तब शकर के त्रिशूल से शखचूड भस्म हो गया तथा सुदामा गोप के रूप में वह विमान द्वारा गोलोक चला गया। इधर तुलसी के शाप से हरि को शालग्राम-पाषाण के रूप में भारतवर्ष में रहना पडा और तुलसी के शरीर से गण्डकी नदी एव केशों से तुलसी वृक्ष उत्पन्न हुए। शालग्राम के विभिन्न लक्षण और महत्त्व का वर्णन किया गया है। इसके बाद तुलसी-पूजन, ध्यान, नामाष्टक तथा तुलसी स्तवन का वर्णन है। अनन्तर सावित्री देवी की पूजा-स्तुति की विधि बतायी गयी है। राजा अश्वपति ने सावित्री की उपासना की तथा फलस्वरूप सावित्री नामक कन्या की उत्पत्ति हुई, सत्यवान् के साथ सावित्री का विवाह हुआ, सत्यवान् की मृत्यु हो गयी। उस समय सावित्री और यमराज में सवाद होता है। सावित्री धर्मराज से प्रश्न करती है और धर्मराज उसका उत्तर देता है। सावित्री को वरदान मिलता है तथा सावित्री धर्मराज प्रणाम निवेदन करती है।

अध्याय २६ से ५४ में - नरक कुण्डो और उनमें जाने वाले पापियों तथा पापों के वर्णन के उपरान्त पचदेवोपासकों के नरक में न जाने का कथन किया जाता है तथा छियासी प्रकार के नरक

कुण्डो का विशद परिचय दिया जाता है। भगवान् श्रीकृष्ण के स्वरूप, महत्व और गुणों की अनिर्वचनीयता बतायी जाती है। भगवती महालक्ष्मी प्रकट होकर विभिन्न व्यक्तियों द्वारा पूजित होती है, फिर दुर्वासा के शाप से महालक्ष्मी देवलोक को छोड देती है और इन्द्र दु खी होकर बृहस्पति के पास जाते है। भगवती लक्ष्मी समुद्र से प्रकट होती हैं। इन्द्र महालक्ष्मी का ध्यान तथा स्तवन करके पुन अधिकार प्राप्त करते हैं। इसके बाद भगवती स्वाहा तथा भगवती स्वधा का उपाख्यान, उनके ध्यान, पूजा विधान तथा स्त्रोतों का वर्णन किया जाता है। फिर भगवती दक्षिणा का प्रसग आता है, उनका ध्यान, पूजा-विधान तथा स्तोत्र-वर्णन एव चरित्र-श्रवण की फलश्रुति बतायी गयी है। देवी षष्ठी के ध्यान, पूजन, स्तोत्र तथा विशद महिमा का वर्णन किया गया है। इसके बाद भगवती मगल चण्डी और मनसा देवी का उपाख्यान आता है। फिर आदि गौ सुरभी देवी का उपाख्यान है। इसके अनन्तर नारद-नारायण-सवाद में पार्वती के पूछने पर महादेव द्वारा राधा के प्रादुर्भाव एव महत्त्व आदि का वर्णन किया गया है। तत्पश्चात् राधा और श्रीकृष्ण के चरित्र तथा राधा की पूजा-परम्परा का अत्यन्त सक्षिप्त परिचय मिलता है। फिर राजा सुयज्ञ की यज्ञशीलता और उन्हें ब्राह्मण के शाप की प्राप्ति, ऋषियों द्वारा ब्राह्मण को क्षमा के लिये प्रेरित करते हुए कृतघ्नों के भेद तथा विभिन्न पापों के फल का प्रतिपादन किया गया है। और सुतपा ने सुयज्ञ को शिव प्रदत्त परम दुर्लभ महाज्ञान का उपदेश दिया है।

अध्याय ५५ से ६७ तक- गोलोक एव श्रीकृष्ण की उत्कृष्टता बताकर कालमान एव विभिन्न प्रलयों का वर्णन किया गया है। फिर चौदह मनुओं का परिचय, ब्रह्मा से लेकर प्रकृति तक के श्रीकृष्ण में लय होने का वर्णन, शिव का मुत्युजयत्व और मूल प्रकृति से महाविष्णु का प्रादुर्भाव वर्णित है। सुयज्ञ को विप्र चरणोदक का महत्व तथा राधा का मन्त्र बताकर सुतपा चले गये और पुष्कर मे दुष्कर तपस्या तथा राधामन्त्र के जप से सुयज्ञ को राधा की कृपा प्राप्त हुई, जिससे गोलोक में पहुँचने पर उन्हें श्रीकृष्ण का दर्शन एव कृपा प्रसाद प्राप्त हो गया। इसके बाद राधा के ध्यान, षोडशोपचार पूजन, परिचारिका पूजन, परिहारस्तवन, पूजनमहिमा, तथा स्तुति एव उसके माहात्म्य का वर्णन आता है। फिर श्री जगन्मगल राधा कवच तथा उसकी महिमा, दुर्गाजी के सोलह नामों की व्याख्या, दुर्गा की उत्पत्ति तथ उनके पूजन की परम्परा का संक्षिप्त परिचय है। इसके बाद सुरथ और समाधि वैश्य मेधस् के आश्रम में पहुँचते है। मुनि उन्हें दुर्गा की महिमा एव उनकी आराधना-विधि का उपदेश देते

है, और दुर्गा की आराधना से उन दोनों के अभीष्ट मनोहर की पूर्ति होती है। सुरथ और समाधि पर देवी की कृपा होती है, उन्हें वरदान मिलता है। अनन्तर देवी की पूजा का विधान, ध्यान, प्रतिमा की स्थापना, परिहार स्तुति, शख में तीर्थो का आवाहन तथा देवी के षोडशोपचार पूजन का क्रम बताया गया है। फिर देवी के बोधन, आवाहन, पूजन और विसर्जन के नक्षत्र, इन सबकी महिमा राजा को देवी का दर्शन एव उत्तम ज्ञान का उपदेश वर्णित है। अन्त मे दुर्गा के दुर्गानाशन स्तोत्र तथा प्रकृति कवच या ब्रह्माण्ड-मोहन कवच एव उसका माहात्म्य बताया गया है।

३. गणपति खण्ड-

इस खण्ड में शिव पार्वती समागम, देवों द्वारा विघ्न, भूतति शिव वीर्य से स्कन्द की उत्पत्ति, पुत्र प्राप्ति हेतु पार्वती को श्रीकृष्ण द्वारा व्रतोपदेश, व्रतविधान, व्रत के अन्त में पुरोहित द्वारा शिव को दक्षिणा रूप में मागने पर पार्वती की मूर्च्छा, पार्वती की वर-प्राप्ति, गणेश का जन्म, पुत्र जन्मोत्सव, गणेश श्रीकृष्ण द्वारा गणेश के धड पर हस्ती मस्तक योजन, लक्ष्मी स्तोत्र कवचादिवर्णन, गणेश परशुराम युद्ध, जमदग्नि-कार्तवीर्य युद्ध, जमदग्नि-मृत्यु, रेणुकाशोक, परशुराम द्वारा भूमि को इक्कीसबार नि.क्षत्रिय करने की प्रतिज्ञा, परशुराम की तपस्या, शकर द्वारा उन्हे श्रीकृष्ण कवचादि का दान, राम कार्तवीर्य युद्ध, राम की विजय, विजय प्राप्तकर गणेश का शकर से मिलने कैलाश जाना, गणेश द्वारा प्रवेश निषेध, गणेश परशुराम विवाद तथा युद्ध, गणेश का एकदन्त होना, पार्वती का कुपित होना, परशुराम द्वारा विष्णु की स्तुति, विष्णु के द्वारा पार्वती के प्रसन्नार्थ गणेशस्तवन का उपदेश आदि प्रसगों की उपलब्धि होती है।

इस खण्ड मे ४६ अध्याय है। अध्याय १ से १० तक नारद ने नारायण से गणेश-चरित के विषय में जिज्ञासा प्रकट की। नारायण ने शिव-पार्वती के विवाह तथा स्कन्द की उत्पत्ति का वर्णन किया। पार्वती ने शिव से पुत्रोत्पत्ति के लिए प्रार्थना की। तब शिव ने उन्हें पुण्यक-व्रत रखने के लिए प्रेरित किया और पुण्यकव्रत की सामग्री, विधि फल तथा माहात्म्य भी बताया। तब पार्वती ने व्रतारम्भ के लिये प्रयत्न किया। ब्रह्मा आदि देवगण तथा ऋषिवृन्द आये। शिव ने सबका सत्कार किया तथा विष्णु से पुण्यकव्रत के विषय में प्रश्न पूछा। विष्णु ने व्रत का माहात्म्य तथा गणेशोत्पत्ति का वर्णन सुनाया। पार्वती ने व्रत आरम्भ किया। किन्तु व्रत की समाप्ति पर जब पुरोहित ने शिव को दक्षिणा रूप में माँगा तब पार्वती मूर्च्छित हो गयीं। तत्पश्चात् शिव, देवगण तथा मुनिवृन्द उन्हें समझाने लगे।

पार्वती बहुत दु खी हुई तब विष्णु ने पति के बदले गोमूल्य देकर पार्वती को व्रत समाप्त करने का आदेश दिया। उस समय एक अद्भुत तेज का आविर्भाव हुआ जिसकी स्तुति देवों, मुनियों तथा पार्वती ने की। पार्वती की स्तुति से प्रसन्न हुए श्रीकृष्ण ने पार्वती को अपने रूप का दर्शन कराया और वर प्रदान किया। अनन्तर जब शिव-पार्वती एकान्तवास करने लगे उस समय विष्णु भिक्षु ब्राह्मण का रूप बनाकर वहाँ पहुँचे और भोजन माँगने लगे। दम्पत्ती वहाँ आये। ब्राह्मण से वार्तालाप कर ही रहे थे कि ब्राह्मण अन्तर्हित हो गये। शिव-पार्वती ब्राह्मण को ढूँढने लगे। आकाशवाणी के सूचित करने पर पार्वती ने अपने भवन में जाकर पुत्र को देखा जो विप्ररूपधारी श्रीकृष्ण ही थे। तब उमा ने शकर को बुलाकर दिखाया शिव-पार्वती बालक गणेश को गोद में लेकर आनन्द मनाने लगे। उन्होंने पुत्रोत्सव के उपलक्ष्य में अनेक प्रकार के दान दिये तथा देवी-देवताओं ने बालक को शुभाशीर्वाद प्रदान किया। अन्त में मगलाध्याय के श्रवण का फल वर्णित है।

अध्याय ११ से २३ तक का विवरण- गणेश को देखने के लिए शनैश्चर आये और पार्वती के पूछने पर उन्होंने अपने द्वारा किसी वस्तु के न देखने का कारण बताया। फिर भी पार्वती हठ करने लगी, जिससे शनैश्चर को गणेश पर दृष्टिपात करना पडा, शनि के देखते ही गणेश का शिर कटकर गोलोक में चला गया। पार्वती मूर्च्छित हो गयी। श्रीहरि आये। उन्होने गणेश के धड पर हाथी का शिर जोडकर जीवित कर दिया। फिर पार्वती को हाश में लाकर बालक को आशीर्वाद दिया और पार्वती ने शनैश्चर को शाप दे दिया। विष्णु आदि देवों ने गणेश की अग्रपूजा की। पार्वती ने भी विशेष उपचार के साथ गणेश का पूजन किया। विष्णु ने गणेश स्तुति की और ससारमोहन नामक कवच का वर्णन किया। तदुपरान्त शिव-पार्वती से कार्तिकेय की उत्पत्ति हुई, जिसे कृत्तिकाओं ने प्राप्त कर लिया था। जब पार्वती को देवताओं द्वारा कार्तिकेय का समाचार मिला तो शिव ने कृत्तिकाओं के पास दूतों को भेजा। वहाँ कार्तिकेय और नन्दी का सवाद हुआ। कार्तिकेय नन्दिकेश्वर के साथ कैलास पर आये। उनका स्वागत हुआ। विष्णु आदि देवों को प्रणाम करके उनसे शुभाशीर्वाद प्राप्त किया। पश्चात् कार्तिकेय को अभिषेक हुआ और देवताओं ने उन्हें उपहार प्रदान किया। गणेश के शिरश्छेदन के वर्णन-प्रसग में शकर ने सूर्य को मार डाला। कश्यप ने शिव को शाप दिया। अनन्तर सूर्य जीवित हो गये और भाली-सुमाली की रोग-निवृत्ति हो गई। तब ब्रह्मा ने माली-सुमाली को सूर्य से कवच और स्तोत्र की प्राप्ति हुई। भगवान् नारायण के समर्पित पुष्प की अवहेलना से इन्द्र श्रीभ्रष्ट हो गये।

फिर बृहस्पति के साथ ब्रह्मा के पास जाने पर उन्हें ब्रह्मा द्वारा दिये गये नारायणस्तोत्र, कवच और मन्त्र के जप से पुन श्री की प्राप्ति हुई। श्रीहरि ने इन्द्र को लक्ष्मीकवच तथा लक्ष्मीस्तोत्र प्रदान किये, देवताओं के स्तवन करने पर महालक्ष्मी ने प्रकट होकर देवों और मुनियों के समक्ष अपने निवास योग्य स्थान का वर्णन किया।

अध्याय २४ से ३३ तक- गणेश के एकदन्त-वर्णन-प्रसग के जमदग्नि के आश्रम में कार्तवीर्य का स्वागत-सत्कार किया गया। पर कार्तवीर्य ने कामधेनु को बलपूर्वक हरण करने की इच्छा प्रकट की। तब कामधेनु से सेना उत्पन्न की, जिसके साथ कार्तवीर्य की सेना का घोर युद्ध हुआ। पश्चात् जमदग्नि एव कार्तवीर्य में युद्ध ठन गया, पर ब्रह्मा ने बीचबचाव कर दिया। पुनः दोनों में युद्ध हुआ। कार्तवीर्य ने दत्तात्रेय द्वारा प्रदत्त शक्ति का प्रहार किया, जिससे जमदग्नि का प्राणन्त हो गया। मुनि की पत्नी रेणुका विलाप करने लगी। परशुराम आये। उन्होंने क्षत्रिय-वध की प्रतिज्ञा की। भृगु मुनि सान्त्वना देने आये। रेणुका और भृगु का सवाद हुआ। रेणुका पति के साथ सती हो गई। परशुराम पिता की अन्त्येष्टिक्रिया सम्पन्न करके ब्रह्मा के पास गये और अपनी प्रतिज्ञा सुनाने लगे। ब्रह्मा ने उन्हें शिव के पास भेज दिया। परशुराम शिवलोक पहुँचकर शिव का दर्शन करके उनकी स्तुति करने लगे। परशुराम ने शिव से अपना अभिप्राय प्रकट किया। उसे सुनकर भद्रकाली कुपित हो गई। परशुराम रोने लगे। शिव ने प्रसन्न होकर उन्हें नाना प्रकार के दिव्यास्त्र प्रदान किये, साथ ही त्रैलोक्य विजय नाम कवच उन्हें दिया और मत्र, ध्यान एव पूजाविधि बताई। तब पुष्कर में जाकर परशुराम ने तपस्या की। श्रीकृष्ण से वरदान मिला। आश्रम में आकर उन्होंने मित्रों के साथ विजय-यात्रा की। शुभ शकुन प्रकट होने लगे। नर्मदा-तट पर उन्हें रात्रि में शुभ स्वप्न दिखाई पडे।

अध्याय ३४ से ४० तक-परशुराम ने कार्तवीर्य के पास दूत भेजा। दूत की बात सुनकर राजा युद्ध के लिए उद्यत हो गया और रानी मनोरमा से स्वप्नदृष्ट अपशकुन के बारे में बताने लगा। रानी ने उसे परशुराम से युद्ध न करने की सलाह दी। परन्तु राजा रानी को समझाकर स्वयं युद्धार्थ उद्यत हो गया। राजा को युद्धोद्यत देखकर मनोरमा ने योग द्वारा शरीर छोड दिया। राजा ने विलाप किया और आकाशवाणी सुनकर उसकी अन्त्येष्टि क्रिया सम्पन्न की। युद्ध-यात्रा में उसे नाना प्रकार के अपशकुन दिखाई दिये। फिर भी उसने परशुराम से युद्ध किया। उस युद्ध में मत्स्यराज के वध के पश्चात् अनेकों राजा खेत आये। पुनः राजा सुचन्द्र और परशुराम में युद्ध हुआ। परशुराम ने काली

की स्तुति की। ब्रह्मा ने आकर परशुराम को युक्ति बताई। जिससे परशुराम ने राजा सुचन्द्र से मन्त्र और कवच माँगकर उसका वध किया। इसके बाद दशाक्षरी विद्या तथा काली कवच का वर्णन आता है। फिर सुचन्द्र-पुत्र पुष्कराक्ष के साथ परशुराम का युद्ध होता है। पाशुपतास्त्र छोडने के लिए उद्यत परशुराम के पास विष्णु आते हैं और उन्हें समझाते है। फिर ब्राह्मण का रूप धारण कर विष्णु पुत्र सहित पुष्कराक्ष से लक्ष्मीकवच तथा दुर्गाकवच माँग लेते हैं। इसके बाद लक्ष्मीकवच तथा दुर्गाकवच का वर्णन आता हैं अनन्तर परशुराम द्वारा राजा सहस्त्राक्ष का वध किया जाता है। कार्तवीर्य और परशुराम में युद्ध होता है। परशुराम मूर्च्छित हो जाते है। शिव उन्हें पुनर्जीवन-दान देते हैं। कार्तवीर्य और परशुराम में सवाद होता है। आकाशवाणी सुनकर शकर ब्राह्मणवेष धारण करके कार्तवीर्य से कवच माँग लेते है। तब परशुराम कार्तवीय और अन्यान्य क्षत्रियों का सहार कर डालते है। ब्रह्मा आते हैं और परशुराम को गुरुस्वरूप शकर की शरण में जाने का उपदेश देकर अपने स्थान को लौट जाते हैं।

अध्याय ४१ से ४६ तक परशुराम ने कैलाश के लिए प्रस्थान किया। वहाँ पहुचने पर वे शिव-मन्दिर में पार्षदों सहित गणेश को प्रणाम करके आगे बढ़ने को उद्यत हुए। पर गणेश ने उन्हें रोक दिया परशुराम ने शकर के अन्त पुर में जाने देने के लिए गणपति से प्रार्थना की। गणेश ने उन्हें समझाया न मानने पर उन्हें स्तम्भित करके अपनी सूँड में लपेटकर सभी लोकों में घुमाते हुए गोलोक में श्रीकृष्ण का दर्शन करा कर भूतल पर छोड दिया। प्रकृतिस्थ होने पर परशुराम ने क्रोध से गणेश पर फरसे का प्रहार किया। गणेश का एक दाँत टूट गया। देवलोक में हाहाकार मच गया। पार्वती रोने लगी। फिर उन्होंने शिव से प्रार्थना की और परशुराम को मारने के लिए उद्यत हो गई। तब परशुराम ने इष्टदेव का ध्यान किया। भगवान वामन रूप में पधारे। उन्होंने शकर-पार्वती को समझाया और गणेश-स्तोत्र को प्रकट किया। फिर परशुराम से गौरी की स्तुति करने के लिए कहकर विष्णु वैकुण्ठ चले गये। परशुराम ने पार्वती की स्तुति की। वे प्रसन्न हो गई। फिर राम ने गणपति की स्तुति और पूजा की। इसके बाद गणेश-पूजन में तुलसी-निषेध के प्रसग में गणेश और तुलसी के सवाद का तथा गणपति-खण्ड की फलश्रुति माहात्म्य वर्णन किया गया है।

४. श्रीकृष्ण जन्म-खण्ड-

प्रकृत पुराण का यह अन्तिम खण्ड है। इसमें श्रीकृष्ण के जन्म से लेकर उनके गोलोकधाम पधारने तक की लीलाओं का गान किया गया है। जिसका सक्षिप्त कथन निम्न प्रकार से है-

प्रारम्भ में विष्णु-वैष्णव गुण प्रशसा कथन के पश्चात् विरजा नामक गोपी का आख्यान, उसके नदी रूप धारण तथा उससे सप्त समुद्रों की उत्पत्ति की चर्चा है। राधा सुदामा के पारस्परिक शाप का उल्लेख, गोलोक वर्णन, श्रीकृष्ण जन्म, नन्दपुत्रोत्सव, पूतना मोक्ष, तृणावर्त, शकटासुर वध, गर्ग द्वारा अन्नप्राशन मुहूर्त करवाना, यमलार्जुन उद्धार, राधा-कृष्ण विवाह, बक प्रलम्ब केसिवध पूर्वक वृन्दावन गमन, विप्र पत्नी मोक्ष, कालियदमन,दावाग्नि मोक्ष, गोवत्स बालहरण, इन्द्र-याग-भजन, धेनुक-वध एव उसका मोक्ष, रास-क्रीडा, अष्टावक्र-मुनि-मोक्ष, मोहिनी शाप, पार्वती-तपश्चर्या, सीता-देह त्याग, शकर विवाह, सूर्य-दर्प-भग, अग्नि-दर्प-मोचन दुर्वासा-दर्प भग, धन्वन्तरि-दर्प भग, राधा-माधव रास वर्णन, श्रीकृष्ण रास क्रीडा, श्रीकृष्ण माहात्म्य, शक्-मोक्ष, श्री रामचरित कस-दुस्वप्न कथन-अक्रूर कर्मोत्कर्ष, राम-कृष्ण का मथुरा जाना, परकुषित गोपियों द्वारा अक्रूर-रथ-भग, श्रीकृष्ण-यात्रा, कस वध, वसुदेव-मोक्ष, नन्दादि शोक-प्रमोचन, रुक्मणी विवाह, कन्यादान विधि से श्रीकृष्ण को रुक्मणी का समर्पण, राधा-यशोदा सवाद, राधा द्वारा यशोदा को भक्ति-ज्ञानोपदेश, श्रीकृष्ण द्वारा शिशुपाल दन्तवक्र का वध, उषा-हरण, उषा-अनिरुद्ध सगम, बाण-युद्ध, शृगाल-वासुदेव मोक्ष, कृष्ण द्वारा कालिदोष-निरूपण, राधादि गोपियों का गोलोक गमन तथा भगवान् के भी गोलोक धाम पधारने की चर्चा है।

११. लिंग पुराण-

इसमें भगवान् शकर की लिग-रूप से उपासना विशेष रूप से दर्शाया गया है। यह पुराण अपेक्षाकृत छोटा है, क्योकि इसमें अध्यायों की सख्या १३३ और श्लोकों की सख्या ११,००० है। इसमें दो भाग है- १. पूर्वभाग २. उत्तरभाग। यहाँ लिंगोपासना की उत्पत्ति दर्शायी गयी है। सृष्टि का वर्णन भगवान् शकर के द्वारा बतलाया गया है। शकर के २८ अवतारों का वर्णन भी हमें इस पुराण में उपलब्ध होता है। शिवपरक होने के कारण से शैव व्रतों का और शैव तीर्थो का यहाँ अधिक वर्णन होना स्वाभाविक ही है। उत्तर भाग में पशु, पाश तथा पशुपति की जो व्याख्या की गयी है।, वह शैव तन्त्रों के अनुकूल है। यह पुराण शिव-तत्व की मीमासा के लिये बडा ही उपादेय

तथा प्रामाणिक है। इसमें ६२ अध्याय में काशी तथा उससे सम्बन्ध नाना तीर्थो का विस्तृत विवरण काशी की भौगोलिक स्थिति की जानकारी के लिये भी उपादेय है। इस अध्याय में काशी के उद्यानों का बडा ही चमत्कारी साहित्यिक वर्णन नाना छन्दों में मिलता है। उस युग में यह पाशुपतों का केन्द्र बताया गया है। अविमुक्त लिग का ही प्राधान्य था, जिस शब्द की व्युत्पत्ति दों प्रकार से दी गयी है। कल्पतरु ने काशी सम्बन्धी इन श्लोकों में से अधिकाश को तीर्थ खण्ड में उद्धृत किया है। अपरार्क ने छ श्लोकों को उदधृत किया है- शिव पूजा तथा ग्रहण के अवसर पर स्नान के विषय में। दानसागर के अनुसार ६ हजार शलोकों वाला एक दूसरा भी लिगपुराण था, जिसका उपयोग बल्लालसेन ने नहीं किया। सम्भवत उस युग में दो लिग पुराण थे- एक बडा ११ हजार श्लोकों वाला तथा दूसरा ६ हजार श्लोकों वाला।

यह पुराण शैवव्रत तथा अनुष्ठानों की जानकारी देने में बडा ही उपयोगी है। उत्तरार्ध के कई अधार गद्य में है तथा तान्त्रिक-प्रभाव के सद्य प्रतीक है। शैव दर्शन के भी अनेक तथ्य बिखरे पडे हैं। उत्तरार्ध के १३वें अध्याय में शिव की प्रसिद्ध अष्टमूर्तियों के वैदिक नाम दिये गये है। जैसे-पृथिव्यात्मक शिव मूर्ति का नाम है। शर्व, जलीय मूर्ति- 'भव', अग्निमूर्ति-पशुपति, वायुमूर्ति-ईशान आकाशमूर्ति-भीम, सूर्यमूर्ति-रुद्र, सोममूर्ति-महादेव, यजमान मूर्ति- उग्र,। प्रत्येक मूर्ति की पत्नी और एक पुत्र का नाम भी यहाँ दिया गया है। ९६ अ० (पूर्वार्ध) में शरभरूपधारी शिव का नरसिह के साथ वार्तालाप वर्णन है। अध्याय ९८ में विष्णुकृत 'शिवसहस्त्रनाम' है जिसमें शिव के नाम तो महत्त्वपूर्ण है परन्तु वैदिक नामों का सग्रह यहा न्यून ही दृष्टिगोचर होता है। पाशुपत व्रत के स्वरूप तथा महिमा का विस्तरेण ख्यापन सिद्ध कर रहा है। कि लिगपुराण का विस्तार पाशुपत शैवों के सम्प्रदाय मे हुआ। इस सम्प्रदाय का उदय तो द्वितीय-तृतीय शती में हो गया था। परन्तु विशेष अभ्युदय सप्तम-अष्टम शतियों में सम्पन्न हुआ और लिग-पुराण के आविर्भाव काल का भी यही युग है।

इस तथ्य के पोषक कतिपय प्रमाण दिये जाते हैं। इस पुराण से अश्विनी से ही प्रारम्भ होने वाले नक्षत्रों का, मेषादि राशियों तथा सूर्यादि ग्रहों का उल्लेख मिलता है। अवतारों में बुद्ध तथा कल्कि के नाम निर्दिष्ट हैं, जिससे इसकी रचना सप्तम शती प्राक्कालीन सिद्ध नहीं होती। अलबरूनी ने ही (१०३० ई०) लिग का निर्देश नहीं किया, प्रत्युत उससे परवर्ती लक्ष्मीधर भट्ट ने भी अपने 'कल्पतरु'

में लिग-पुराण का बहुश उद्धरण दिया है। लिग पुराण के नवम अध्याय में योगान्तरायों का समग्र वर्णन व्यासभाष्य से अक्षरश साम्य रखता है, जिससे इस सग्रहकारी पुराण ने इस अश को व्यासभाष्य से निश्चित रूप से ग्रहण किया है। व्यासभाष्य का समय षष्ठ शतक से कथमपि घटकर नहीं है। पुराण ने सग्रह बुद्धि से योग के अन्तराय विषयों का सकलन अक्षरश योगभाष्य से किया है- व्याधि, सशय, प्रमाद, आलस्य, आदि का लिग पुराण में प्रदत्त लक्षण योगभाष्य से सर्वात्मना लिया गया है। फलत यह पुराण योगभाष्य से भले प्रकार से परिचय रखता है। लिग पुराण का समय इस प्रकार अष्टम-नवम शती मानना सर्वथा युक्तियुक्त है।

१२. वराह पुराण-

यह समग्रतया वैष्णव पुराण है इसमें २१७ अध्याय है। यद्यपि कतिपय अध्यायों में पूरा गद्य ही है। कतिपय अध्यायों में गद्य-पद्य का मिश्रण है। धर्मशास्त्र के विपुल विषयों का विवरण यहाँ प्रस्तुत है, जैसे-व्रत, तीर्थ, दान, प्रतिमा तथा तत्पूजा, अशौच, श्राद्ध आदि। कल्पतरु ने इस पुराण से बडी सख्या में श्लोकों को उद्‌धृत किया है। १५० श्लोक व्रत के विषय में तथा ४० श्लोक श्राद्ध के विषय में उद्‌धृत हैं। ब्रह्मपुराण ने 'वाराह वचन' कहकर इस पुराण के दो श्लोकों को उद्‌धृत किया है। वराह-पुराण से भविष्य-पुराण निश्चय रूप से प्राचीन है, क्योकि वराह ने भविष्य के दो वचनों को उद्‌धृत किया जिसमें दूसरा सकेत बडा महत्व रखता है-

" भविष्यत्-पुराणमिति ख्यात कृत्वा पुनर्नवम्।
साम्ब· सूर्य-प्रतिष्ठा च कारयमास तत्त्ववित्।।

जिसमें साम्ब के द्वारा सूर्य के नवीन मन्दिर की स्थापना का उल्लेख मिलता है। वराह पुराण में तीन विशिष्ट स्थानों पर सूर्य मन्दिर की स्थिति निर्दिष्ट है- यमुना के दक्षिण में, बीच में कालप्रिय में तथा पश्चिम में मूलस्थान में। भविष्य में भी इसी प्रकार के सूर्य के तीन विशिष्ट मन्दिरों का उल्लेख मिलता है। वराह पुराण में नचिकेता की कथा विस्तार से दी गयी है। वराह पुराण वैष्णवता से आमूल आलुप्त है- इसका परिचय रामानुजीय श्री वैष्णवमत के तथ्यों का विशद प्रतिपादन वैशद्य से प्रदान करता है। नारायण की आदिदेव रूप में प्रतिष्ठा, ज्ञान कर्म का समुच्चय, सृष्टि प्रकार भुवनकोश के प्रकार श्राद्धानुष्ठान-प्रक्रिया, श्राद्धवर्ज्य पदार्थ, प्रति द्वादशी को विष्णुपूजन की प्रक्रिया, नाना धातुओं से भागवत प्रतिमा का निर्माण तथा उनके प्रतिष्ठापन-आराधन के प्रकार पाचरात्र का

प्रामाण्य-वराह पुराण में वर्णित ये समग्र विषय रामानुज सम्प्रदाय में स्वीकृत किये गये है। दोनों के सिद्धान्तों में विपुल साम्य का सद्भाव निश्चयेन आदर्शजनक है। इस पुराण की रचना का काल नवम-दशम शती में मानना कथमपि अनुचित नहीं होगा।

विष्णु ने वराह रूप धारण कर पृथ्वी का पाताल लोक से उद्धार किया था। इस कथा मे मुख्यत सम्बन्ध रखने के कारण इस पुराण का नाम वराह पुराण पडा। हेमाद्रि ने अपने 'चतुर्वर्ग चिन्तामणि' में इस पुराण में वर्णित बुद्ध द्वादशी का उल्लेख किया है तथा गौड नरेश बल्लालसेन ने 'दानसागर' नामक ग्रन्थ में इस पुराण से अनेक श्लोक उद्धृत किये हैं। अत यह पुराण १२वीं शताब्दी से प्राचीन अवश्य है। इस पुराण के दो पाठ-भेद उपलब्ध होते है- १. गौडीय २. दाक्षिणात्य। इनमें अध्यायों की सख्या में भी अन्तर है। आजकल गौडीय पाठवाला सस्करण ही अधिक प्रसिद्ध है। इस पुराण में २४०० श्लोक है परन्तु कोलकत्ता की एशियाटिक सोसायटी से इस ग्रन्थ का जो सस्करण प्रकाशित हुआ है उसमें केवल १०,७०० श्लोक हैं। इससे ज्ञात होता है कि इस ग्रन्थ का बहुत बडा भाग अब तक नहीं मिला है। इस पुराण में विष्णु से सम्बद्ध अनेक व्रतों का वर्णन है। विशेषकर द्वादशी व्रत-भिन्न-भिन्न मासों का द्वादसी व्रत का विवेचन मिलता है। तथा इन द्वादशी व्रतों का भिन्न-भिन्न अवतारों से सम्बन्ध दिखाया गया है जो निम्नलिखित है-

मास	शुक्ल द्वादशी का नाम
अगहन	मत्स्य द्वादशी
पौष	कूर्म द्वादशी
माघ	वराह द्वादशी
फाल्गुन	नृसिह द्वादशी
चैत्र	वामन द्वादशी
बैशाख	परशुराम द्वादशी
ज्येष्ठ	राम द्वादशी
आषाढ	कृष्ण द्वादशी
श्रावण	बुद्ध द्वादशी
भाद्रपन	कल्कि द्वादशी

आश्विन	पद्माभ द्वादशी
कार्तिक	– – – –

इस पुराण के दो अश विशेष महत्त्व के है- १. मथुरा माहात्म्य- जिसमें मथुरा के समग्र तीर्थो का बडा ही विस्तृत वर्णन दिया गया है। ये अध्याय मथुरा का भूगोल जानने के लिये बडे ही उपयोगी है। २ नचिकेतोपाख्यान-जिसमें नचिकेता का उपाख्यान बडे विस्तार के साथ दिया गया है। इस उपाख्यान में स्वर्ग तथा नरकों के वर्णन पर ही विशेष जोर दिया गया है। कठोपनिषद् की आध्यात्मिक दृष्टि इस उपाख्यान में नहीं है।

१३. स्कन्द पुराण-

इस पुराण में स्वामी कार्तिकेय ने शैव तत्त्वों का निरूपण किया है, इसलिये इसका नाम स्कन्दपुराण है। सबसे वृहत्काय पुराण यही है। इसकी मोटाई का इसी से अनुमान किया जा सकता है। कि यह भागवत् पुराण से पाच गुना मोटा है। इसकी श्लोक सख्या ८१,००० है जो लक्ष श्लोकात्मक महाभारत से केवल एक पचमास ही कम है। इस पुराण के अन्तर्गत अनेक संहिताएँ, खण्ड तथा महात्म्य है। इसी पुराण के अन्तर्गत सूतसंहिता के अनुसार इस पुराण में छ संहिताएँ है जो अपने ग्रन्थ परिमाण के साथा इस प्रकार है-

सहिता	श्लोक सख्या
सनत्कुमार संहिता	३६,०००
सूत सहिता	६,०००
शकर सहिता	३०,०००
वैष्णव सहिता	५,०००
ब्राह्म सहिता	३,०००
सौर सहिता	१,०००

स्कन्द पुराण के विभाजन का एक दूसरा भी प्रकार खण्डों में है। ये खण्डसख्या में सात है- १. माहेश्वर खण्ड २. वैष्णव खण्ड ३. ब्रह्म खण्ड ४. काशी खण्ड ५. रेवा खण्ड ६. तापी खण्ड ७. प्रभास खण्ड।

सहिताओं में सूत सहिता शिवोपासना के विषय में एक अनुपम खण्ड है। यह सहिता वैदिक तथा तान्त्रिक उभय प्रकार की पूजाओं का विस्तार के साथ वर्णन करती है। इस सहिता की इसी विलक्षणता के कारण विजय नगर साम्राज्य के मन्त्री माधवाचार्य की दृष्टि इस पर पडी और उन्होंने 'तात्पर्य दीपिका' नामक बडी ही प्रामाणिक तथा विस्तृत व्याख्या लिखी है। जो आनन्दाश्रम सस्कृत ग्रन्थावली पूना से प्रकाशित हुई है। इस सहिता के चार खण्ड है- १ पहले खण्ड का नाम 'शिव माहात्म्य' है, १३ अध्यायों मे शिव-महिमा का विशेष रूप से प्रतिपादन करता है। २. ज्ञानयोग खण्ड- यह २० अध्यायों में अचार-धर्मो का वर्णन करने के अनन्तर हठयोग की प्रक्रिया का सागोपाग विवेचन प्रस्तुत करता है। ३. मुक्ति खण्ड- यह ६ अध्यायों में मुक्ति के उपाय का वर्णन करता है। ४ वैभव खण्ड- यह सब खण्डों में बडा है। इसके दो भाग है- (१) पूर्व भाग (२) उत्तर भाग। पूर्व भाग में ४७ अध्याय है जिनमें अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्तों का शैव भक्ति के साथ सम्पुटित कर बडा ही सुन्दर आध्यात्मिक विवेचन किया गया है। दार्शनिक दृष्टि से यह खण्ड, बडा ही उपादेय, प्रमेय बहुल तथा मीमासा करने योग्य है। इसके उत्तर भाग में दो गीताएँ सम्मिलित हैं- (१) ब्रह्मगीता (२) सूतगीता। ब्रह्मगीता १२ अध्यायों में विभक्त है और सूत गीता ८ अध्यायों में। इनका भी विषय अध्यात्म ही है। आत्मस्वरूप का कथन तथा उसके साक्षात्कार के उपाय बडी ही सुन्दरता के साथ प्रतिपादित किये गये है। इस संहिता में विश्व के प्रसाद से ही सब कर्मो की सिद्धि का वर्णन किया गया है।

शकर संहिता-

यह अनेक खण्डों में विभक्त है। सका प्रथम खण्ड 'शिव-रहस्य' कहलाता है जो पूरी संहिता का आधा भाग है। जिसमें १३,००० श्लोक है तथा ७ काण्ड है जिनके नाम ये है- १. सभव काण्ड २. आसुर काण्ड ३. माहेन्द्र काण्ड ४. युद्ध काण्ड ५. देव काण्ड ६. दक्ष काण्ड ७. उपदेश काण्ड। छठी संहिता सौर संहिता है, जिसमें शिव-पूजा सम्बन्धी अनेक बातों का वर्णन किया गया है।

सनत्कुमार संहिता-

बीस-बाइस अध्यायो की एक छोटी-सी सहिता है। इन संहिताओं को छोड़कर अन्य सहिताए उपलब्ध नहीं होती।

खण्डो के क्रम से इस पुराण का वर्णन निम्न है -

१. माहेश्वर खण्ड- इसके भीतर दो छोटे खण्ड है- (१) केदार खण्ड (२) कुमाररिल खण्ड। इन दोनों खण्डों में शिव-पार्वती की नाना प्रकार की विचित्र लीलाओं का बडा सुन्दर वर्णन किया गया है।

२. वैष्णव खण्ड-इस खण्ड के अन्तर्गत उत्कल खण्ड है जिसमें उडीसा के जगन्नाथ जी के मन्दिर, पूजा-विधान, प्रतिष्ठा तथा तत्सम्बद्ध अनेक उपाख्यानों का वर्णन मिलता है। राजा इन्द्रद्युम्न ने नारद जी के उपदेश से किस प्रकार जगन्नाथ जी के स्थान का पता लगाया, इसका विस्तृत वर्णन इस खण्ड में पाया जाता है। इस प्रकार जगन्नाथपुरी का प्राचीन इतिहास जानने के लिये यह ग्रन्थ अत्यन्त उपादेय है।

३. ब्रह्म खण्ड- इसमें दो खण्ड है १. ब्रह्मारण्य खण्ड २. ब्रह्मोत्तर खण्ड। प्रथम खण्ड में तो धर्मारण्य नामक स्थान के माहात्म्य का विशद प्रतिपादन है। दूसरे खण्ड में उज्जैन में स्थित महाकाल की प्रतिष्ठा तथा पूजन का विशेष विधान है।

४. काशी खण्ड-इसमें काशी की महिमा का वर्णन है। काशी के समस्त देवताओं, शिवलिगों के आविर्भाव तथा माहात्म्य का प्रतिपादन यहाँ विशेष रूप से किया गया है। काशी का प्राचीन भूगोल जानने के लिये यह खण्ड अत्यन्त आवश्यक है।

५. रेवा खण्ड-इसमें नर्मदा की उत्पत्ति तथा उनके तट पर स्थित समस्त तीर्थो का विस्तृत वर्णन मिलता है। सत्यनारायण व्रत की सुप्रसिद्ध कथा इसी खण्ड की है।

६. अवन्ति खण्ड-अवन्ति (उज्जैन) में स्थित भिन्न-भिन्न शिवलिगों की उत्पत्ति तथा माहात्म्य का वर्णन इस खण्ड में किया गया है। महाकालेश्वर का वर्णन बड़े ही विस्तृत रूप में दिया गया है। प्राचीन अवन्ति की धर्मिक स्थिति का पूरा दिग्दर्शन यहाँ मिलता है।

७. तापी खण्ड-इसमे नर्मदा की सहायक नदी तापी के किनारे स्थित नाना तीर्थो का वर्णन मिलता है। नारद पुराण के मत से इसके षष्ठ खण्ड का नाम नागर खण्ड है। आजकल जो नागर खण्ड उपलब्ध होता है उसमें तीन परिच्छेद है- (१) विश्वकर्मा उपाख्यान (२) विश्वकर्मा वशाख्यान, (३) हाटकेश्वर माहात्म्य। इस तीसरे खण्ड में नागर ब्राह्मणें की उत्पत्ति का वर्णन है। भारत की सामाजिक दशा जानने के लिये यह खण्ड अत्यन्त उपादेय है।

७. प्रभास खण्ड-

इसमे प्रभास क्षेत्र का बडा ही विस्तृत वर्णन है। द्वारका के आसपास का भूगोल जानने के लिये यह खण्ड अत्यन्त उपयोगी है।

महापुराणों में महाकाय स्कन्दपुराण का यह स्वल्पकाय वर्णन है। इस पुराण में जगन्नाथजी के मन्दिर का वर्णन होने से कुछ पाश्चात्य विद्वानों का विचार है कि यह पुराण १३वीं श्ताब्दी में लिखा गया है। क्योंकि १२६४ ई० के आसपास जगन्नाथजी के मन्दिर का निर्माण हुआ था। परन्तु यह मत नितान्त भ्रान्त है क्योंकि ६३० शक् (१००८ ई०) में लिखी गयी, इसकी हस्तलिखित प्रति कोलकत्ता में उपलब्ध हुई है। परन्तु इससे भी प्राचीन ७वीं शताब्दी में लिखित इसकी हस्तलिखित प्रति नेपाल के राजकीय पुस्तकालय में सुरक्षित है, जिसका उल्लेख डा० हर प्रसाद शास्त्री ने वहा से सूचीपत्र में किया है। इससे सिद्ध होता है कि यह पुराण बहुत ही प्राचीन है। इसका मूलरूप क्या था और यह कैसे धीरे-धीरे इतना विशालकाय हो गया? यह भी पुराण के पण्डितों के लिये अनुसन्धान का विषय है।

यद्यपि यह पुराण 'स्कन्द' नाम से प्रख्यात है, परन्तु स्कन्द का विशिष्ट सम्बन्ध इसके साथ नहीं मिलता। पद्मपुराण[1] में स्कन्द का उल्लेख मिलता है। स्कन्द पुराण के प्रथम खण्ड में किरात[2] के श्लोक की छाया मिलती है। काशीखण्ड के २४ अध्याय से वाणभट्ट की शैली का अनुकरण करते हुए बडी सुन्दर परिसख्या तथा श्लेष[3] दिये गये है। भौगोलिक क्षेत्रों का विस्तृत तथा विशद् विवरण प्रस्तुत करना स्कन्द के विविध खण्डों का वैशिष्ट्य है। इसके चतुर्थ खण्ड- काशी खण्ड में काशीस्थ शिवलिगों का दिशाओं के निर्देशपूर्वक विवरण पढ़ने से आज भी उन लिगो की स्थिति का पता लगाया जा सकता है। अवन्ती खण्ड में नर्मदा नदी के तीरस्थ तीर्थो का एक विराट् विवरण धार्मिक और भौगोलिक दोनों प्रकार का महत्व रखता है। इसी खण्ड के अन्तर्गत रेवाखण्ड में सत्य नारायण की प्रख्यात कथा है।

---

[1] ५/५६/२ - पद्मपुराण

[2] "सहसा विद्धीत न क्रियाम्" - किरातार्जुनीयम

[3] विभ्रमो यत्र नारीषु न विद्वत्सु च कर्हिचित्।
नद्य कुटिलगामिन्यो न यत्र विषये प्रजा।। - 'श्लेष'

प्राचीन निबन्ध ग्रन्थों में 'स्कन्द' के वचन उद्धृत मिलते है। मिताक्षरा[1] ने वेश्या के पद के विषय में इस पुराण को उद्धृत किया है। कृत्यकल्पतरु ने इस पुराण के बहुसख्यक वचन उद्धृत किये है। काणे महोदय का कथन है कि कल्पतरू में व्रत के विषय मे तो केवल १५ श्लोक उद्धृत किये है परन्तु तीर्थ के विषय में ६२, दान के विषय में ४४ नियतकाल के विषय में ६३ राजधर्म के बारे में १८ श्लोक तथा दानसागर ने दान के विषय में ४८ श्लोक दिये है। स्कन्द के विशाल रूप पर ध्यान देने से कहना पडता है कि धर्मशास्त्रीय निबन्धों में इससे उद्धरण परिमाण में कम ही हे। इस पुराण में वेद सम्बन्धी सामग्री पर्याप्त रूपेण विस्तृत है, जो इसके रचयिता के अलौकिक वैदिक वैदुस्य का सकेत करती है। यह इतना विस्तृत तथा विशाल है कि इसमें प्रक्षिप्त अशों को जोडने के लिये पर्याप्त अवसर हैं अत समय का यथार्थ निरूपण असम्भव ही है। डा० हर प्रसार शास्त्री को नेपाल दरबार लाइब्रेरी में इस पुराण का एक हस्तलेख मिला है, जिसका लेखन सप्तम शती की शैली में किया गया है। सभी प्रमाणों को एकत्र कर यह कहना अनुचित न होगा कि इसकी रचना सप्तम शती के पूर्वकालीन और नवम शती से उत्तर कालीन नहीं हो सकती दोनों के बीच में सम्भवत यह प्रणीत हुआ।

१४. वामन पुराण-

इस पुराण का सम्बन्ध भगवान् के वामनावतार से है। यह एक छोटा पुराण है। इसमें केवल ६५ अध्याय है तथा १०,००० श्लोक है। विष्णु परक होने के कारण इसमें विष्णु के भिन्न-भिन्न अवतारों का वर्णन होना स्वाभाविक है। परन्तु वामनावतार का वर्णन विशेष रूप से दिया हुआ है। इस पुराण में शिव, शिव का माहात्म्य, शैव तीर्थ, उमा-शिव-विवाह, गणेश की उत्पत्ति और कार्तिकेय चरित्र आदि विषयों का वर्णन मिलता है, जिससे पता चलता है कि इसमें किसी प्रकार की साम्प्रदायिक सकीर्णता नहीं है। इस पुराण ने अपने १२वें अध्याय में भिन्न पदार्थो में श्रेष्ठ वस्तुओ की जो वर्णना की है, उससे इस पुराण के उदय-स्थान का परिचय मिलता है। यह कुरूक्षेत्र मण्डल में उत्पन्न हुआ था- ऐसा मानना सर्वथा उचित है, क्योंकि क्षेत्रों तथा तीर्थो में यह क्रमश कुरुजागल तथा पृथूदक को सर्वश्रेष्ठ मानता है और दोनों वस्तुऍ कुरुक्षेत्र में विद्यमान है।[2] वामन

---

[1] याज्ञ० स्मृति २/२६०

[2] क्षेत्रेषु यद्वत् कुरुजागल वर। तीर्थेषु तद्वत् प्रवर पृथूदकम्।। वामन पु० १२/४५

अवतार का प्रतिपादक होने के कारण यह मूलरूप में वैष्णव पुराण है, परन्तु किसी समय में यह शैव रूप मे परिणत कर दिया गया और आज इसका यही प्रचलित रूप है। फलत शिव पार्वती का चरित्र यहाँ विस्तृत रूप से वर्णित है। पार्वती की घोर तपश्चर्या, बटुरूपधारी शिव से वार्तालाप, शिव से विवाह आदि विषय यहाँ अलकृत शैली में वर्णित है। वामन अपने वर्णनों में आलकारिक चमत्कृति मे मण्डित है, और इसके ऊपर कालिदास का, विशेषत विषयसाम्य के कारण कुमार-सम्भव का प्रभाव विशद् रूप से अभिव्यक्त होता है। राजा वही जो प्रकृति का रजन करता है। कालिदास के राजा प्रकृति 'रजनात्' का ही भाव रखता है।[1] उमा का नामकरण इसलिये हुआ कि उनकी माता ने उन्हें तपस्या करने से निषेध किया।

कालिदास के कुमार सम्भव का वामनपुराण के ऊपर प्रभाव बडा ही विस्तृत, गम्भीर तथा मौलिक है। पार्वती तथा बटु का सवाद वामन पुराण में कुमारसम्भव में उपस्थित सवाद से अक्षरश मेल खाता है- अर्थ में ही नहीं, प्रत्युत शब्द में भी। शैव होने पर भी वैष्णव-मत के साथ किसी प्रकार के विरोध या सघर्ष की भावना नहीं है। वर्णन सर्वत्र उदार, व्यापक तथा मौलिक है। कालिदास के काव्य द्वारा प्रचुरता से प्रभावित होने के कारण इसकी रचना का काल कालिदासोत्तर युग है, अर्थात् ६०० ई० से ६०० ई० के बीच वामनपुराण का आविर्भाव मानना उचित है। वामन पुराण के अध्यायों के विषय में हस्तलेखों का साक्ष्य बडी विभिन्नता प्रस्तुत करता है। नारद-पुराण में वर्णित विषयानुक्रमणी के आधार पर वामन के दो खण्ड बतलाये गये है- पूर्वार्ध तथा उत्तरार्ध। वेंकटेश्वर से प्रकाशित स० मे पूर्वार्ध का विषय तो यथार्थत मिल जाता है, परन्तु उसमें उत्तरार्ध का सर्वथा अभाव है। उत्तरार्ध में माहेश्वरी, भगवती, गौरी तथा गणेश्वरी नामक चार सहिताओं का चार सहस्त्र श्लोकों में अस्तित्व न तो मुद्रित प्रति में है और न उसके नाना हस्तलेखों में ही। नारदीय पुराण के अनुसार दस सहस्त्र श्लोकों का परिमाण न तो मुद्रित प्रति में और न हस्तलेखों में भी कथमपि सम्पन्न नहीं होता।

१५. कूर्म पुराण-

इस पुराण से पता चलता है कि इसमें चार सहिताए थी- १. ब्राह्मी सहिता २ भागवती ३. सौरी ४. वैष्णवी। परन्तु आजकल केवल ब्राह्मी संहिता ही उपलब्ध होती है और

---

[1] ततो राजेति शब्दोऽस्य पृथिव्या रजनाद्भूत्। - ४७/२४

उसी का नाम कूर्म पुराण है। भागवत तथा मत्स्य पुराणों के अनुसार इसमें १८,००० श्लोक होने चाहिए, परन्तु उपलब्ध पुराण में केवल ६,००० श्लोक ही मिलते है। अर्थात् मूल ग्रन्थ का केवल तृतीयाश ही उपलब्ध है। विष्णु भगवान् ने कूर्म अवतार धारण कर इन्द्रद्युम्न नामक विष्णुभक्त राजा को इस पुराण का उपदेश दिया था। इसीलिये यह कूर्मपुराण के नाम से अभिहित किया जाता है। इसमें सब जगह शिव ही मुख्य देवता के रूप में वर्णित है, और यह स्पष्ट उल्लिखित है कि ब्रह्मा विष्णु और महेश में किसी प्रकार का अन्तर नही है ये एक ही ब्रह्म की पृथक-पृथक तीन मूर्तियॉ है। इस ग्रन्थ मे शक्ति-पूजा पर भी बडा जोर दिया गया है। शक्ति के सहस्र नाम यहॉं दिये गये है।[१] विष्णु शिव के रूप तथा लक्ष्मी गौरी की प्रतिकृति बतलायी गयी है। शिव देवाधि देव के रूप में इतने महत्वपूर्ण रूप से वर्णित किये गये है, उन्हीं के प्रसाद से भगवान् कृष्ण जाम्बवती की प्राप्ति में समर्थ होते है।

इस पुराण में दो भाग है। पूर्व भाग मे ५२ अध्याय और उत्तर भाग में ४४ अध्याय है। पूर्व भाग में सृष्टि-प्रकरण के अनन्तर, पार्वती की तपश्चर्या तथा इसके सहस्र नाम का वर्णन है। इसी भाग में काशी और प्रयाग का माहात्म्य दिया गया है। उत्तरभाग में ईश्वर गीता तथा व्यास गीता है। ईश्वर गीता में भगवत्गीता के ढग पर ध्यानयोग के द्वारा शिव के साक्षात्कार का वर्णन हैं। व्यास गीता में चारो आश्रमों के कर्त्तव्य कर्मो का वर्णन महर्षि व्यास के द्वारा किया गया है। इस पुराण के उपक्रम से ही पता चलता है कि मूलरूप में इसमें चार सहिताए भी और आजकल ब्राह्मी संहिता ही उपलब्ध है। इसके दो खण्ड है- पूर्वार्ध तथा उत्तरार्ध। आजकल यह पाशुपत-मत का विशेषरूप से वर्णन करता है, परन्तु डा० हाजरा की मान्यता है कि यह प्रथमत पाचरात्र मत का प्रतिपादक पुराण था। ईश्वर के विषय में इसका कथन है कि वह एक है। परन्तु उसने अपने को दो रूपों में विभक्त किया- नारायण और ब्रह्मरूप[२] अथवा विष्णु और शिव रूप[३] में अथवा तीन रूप[४] में ब्रह्मा, विष्णु और हर के रूप में। महेश्वर की शक्ति का भी विशिष्ट वर्णन मिलता है। यह शक्ति चार प्रकार की

[1] कूर्म पु० - १/१२
[2] १/६/४० कूर्म पु०
[3] १/२/६५ कूर्म पु०
[4] १/१०/७७ कूर्म पु०

मानी गयी है- शन्ति, विद्या, प्रतिष्ठा तथा निवृत्ति। ये ही तन्त्रशास्त्र में 'कला' के नाम से सकेतित की जाती है। इन्हीं के कारण परमेश्वर-ठीक पाचरात्रों के समान 'चतुर्व्यूह' कहा जाता है।

इसी अध्याय में हिमालय-कृत देवी का सहस्त्रनाम भी वर्णित है। इसके उत्तरार्ध में दो गीताएँ है- ईश्वरगीता,- इसमें शैव-दर्शन-विषयक तत्वों का विवेचन है, जिसमें पाशुपत योग का विशद और महत्वपूर्ण विवरण है, व्यासगीता- इसमें वर्णाश्रम के धर्मो का तथा सदाचार का विशद प्रतिपादन है। भोजन के प्रकार का वर्णन आधुनिकता से सवलित है। कूर्म पुराण की ब्राह्मी सहिता के ही स्वरूप का यह विवेचन है, अन्य सहिताए तो आज उपलब्ध नहीं होती। परन्तु नारदीय पुराण में इन तीनों- भागवती, सौरी और वैष्णवी संहिताओं के भी विषय का सक्षेप दिया गया है। जिससे उनका स्वरूप भली-भॉति समझा जा सकता है। निबन्धग्रन्थों में कूर्म के उद्धरण नहीं मिलते। पद्यपुराण के पातालखण्ड में कूर्म पुराण का नाम उल्लिखित है। पाशुपत-मत का प्राधान्य होने से यह पुराण षष्ठ-सप्तम शती की रचना है, जब पाशुपत-मत का उत्तर भारत में, विशेषत राजपूताना और मथुरा मण्डल में प्राधान्य था।

१६ मत्स्य पुराण-

यह पुराण भी पर्याप्त रूप से विस्तृत है। इसमें २६१ अध्याय है तथा श्लोकों की सख्या १५,००० के लगभग है। इस पुराण के आरम्भ में मन्वन्तर के सामान्य वर्णन के अनन्तर पितृवश का वर्णन विशेषरूप से किया गया है। वैराज पितृवश का १३वें अध्याय में, अग्निष्वात् पितरों का १४वें में तथा बर्हिषद् पितरों का वर्णन १५वें अध्याय में विशेष रूप से वर्णित है। श्राद्ध-कल्प का विवेचन ७ अध्यायों में अर्थात् अध्याय १६ से २३ तक में किया है। सोमवश का वर्णन बडे विस्तार के साथ यहॉ उपलब्ध है विशेषत ययाति के चरित्र का। अन्य राजन्य वशों का भी वर्णन है। व्रतों का वर्णन इस पुराण की महती विशेषता है। प्रयाग का भौगोलिक वर्णन तथा महिमा कथन १० अध्यायों अर्थात् अध्याय १०३-११२ तक में किया गया है। भगवान् शकर का त्रिपुरासुर के साथ से जो सग्राम हुआ था उसका वर्णन यहा अध्याय १२६-१४० में बताया गया है। तारक-वध का भी बडा विस्तार यहॉ मिलता है। मत्स्यावतार के वर्णन के लिये तो यह पुराण लिखा ही गया है। काशी का माहात्म्य भी अनेक अध्यायों में यहॉ विराजमान है। वही दशा नर्मदा माहात्म्य की भी है।

इस पुराण की तीन चार बातें महत्वपूर्ण है। पहली बात यह है कि इस पुराण के ५३वें अध्याय में समस्त पुराणों की विषयानुक्रमणी दी गयी है जिसमें हम पुराणों के क्रमिक विकास का बहुत कुछ परिचय पा सकते है। दूसरी विशेषता है प्रवर ऋषियों के वश का वर्णन। भृगु, अगिरा, अत्रि विश्वामित्र, कश्यप, वशिष्ठ, पराशर, अगस्त्य आदि इन ऋषियों के वशों का वर्णन बडे सुचारु रूप से अध्याय १६५ से २०२ तक क्रमपूर्वक पाते है। तीसरी विशेषता है राजधर्म का विशिष्ट वर्णन। २१५ वें अध्याय से लेकर २४३वें तक दैव पुरुषकार, साम, दाम, दण्ड, भेद, दुर्ग, यात्रा, सहाय सम्पत्ति और तुलादान आदि का वर्णन इस ग्रन्थ को राजनैतिक वर्णन प्रदान करता है। इमी राजधर्म के अन्तर्गत अद्भुत शान्ति का खण्ड भी बडी नवीनता लिये हुए है। चौथी विशेषता है प्रतिभा-लक्षण अर्थात् भिन्न-भिन्न देवताओं की प्रतिभा का मापपूर्वक निर्माण। हमारा प्रतिमा-शास्त्र वैज्ञानिक पद्धति पर अवलम्बित है। भिन्न-भिन्न देवताओं की मूर्तियों की रचना तालमान के अनुमार होती है। उनकी प्रतिष्ठा-पीठ का निर्माण भी एक विशिष्ट शैली से होता है। इस सब विषयों का वर्णन इस पुराण में अनेक अध्यायों में बडें प्रामाणिक रूप से दिया गया है।

१७. गरुण पुराण-

इस पुराण में विष्णु ने गरुड को विश्व की सृष्टि बतलायी थी। इसीलिये इसका नाम गरुड पुराण पड गया। इसमें १६,००० श्लोक है, अध्यायों की सख्या २६४ है। इसमें दो खण्ड हैं। पूर्व खण्ड में उपयोगिनी नाना विद्याओं के विस्तृत वर्णन ह। आरम्भ में विष्णु तथा उनके अवतारों का माहात्म्य कथित है। इसके एक अश में नाना प्रकार के रत्नों की परीक्षा है, जैसे मोती की परीक्षा, पद्मराग की परीक्षा, मरकत, इन्द्रनील, वैदूर्य, पुष्पराग, करकेतन, भीष्मरत्न, पुलक, रुधिराख्य-रत्न, स्फटिक तथा विद्रुम की परीक्षा क्रमश की गयी है। राजनीति का भी वर्णन बडे विस्तार के साथ यहा उपलब्ध होता है। आयुर्वेद के आवश्यक निदान तथा चिकित्सा का कथन अनेक अध्यायों में किया गया है। नाना प्रकार के रोगों को दूर करने के लिये औषध व्यवस्था भी यहाँ की गयी है। इसके अतिरिक्त एक अध्याय में पशु चिकित्सा का भी वर्णन इसमें पाया गया है, जो सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। अध्याय १९९ में बुद्धि को निर्मल बनाने के लिये औषध की व्यवस्था करता है। अच्छा होता कि आयर्वेद के प्रतिपादक ये ५० अध्याय अलग पुस्तकाकार में प्रकाशित किये जाते और अन्य आयुर्वेद के ग्रन्थों के साथ इसका भी अनुशीलन किया जाता । छन्द शास्त्र के विषय में

छ अध्याय अर्थात् अध्याय २११ से २१६ तक यहाँ तक मिलते है। साख्य योग का भी इसमें वर्णन है। अध्याय २४२ में गीता का साराश भी वर्णित है। इस प्रकार गरुण पुराण का यह पूर्व अश अग्नि पुराण के समान ही समस्त विद्याओं का विश्वकोष कहा जाए तो अनुचित न होगा।

इस पुराण का उत्तर खण्ड 'प्रेत-कल्प' कहा जाता है जिसमें ४५ अध्याय है। मरने के बाद मनुष्य की क्या गति होती है? वह किस योनि में उत्पन्न होता है, तथा कौन-कौन सा भोग भोगता है? इसका वर्णन अन्य पुराणों में यत्र-तत्र पाया जाता है, परन्तु इस पुराण में विषय का अत्यन्त तथा सागोपाग वर्णन मिलता है जो अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता। इसमें गर्भावस्था, नरक, यम-नगर का मार्ग, प्रेतगण का वास स्थान, प्रेत लक्षण तथा प्रेत योनि से मुक्ति, प्रेतों का रूप, मनुष्यों की आयु, यमलोक का विस्तार, सपिण्डीकरण की विधि, विषोत्सर्ग-विधान आदि विषयों का भिन्न-भिन्न अध्यायों मे बडा रोचक तथा विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है। श्राद्ध के समय इस पुराण का पाठ किया जाता है। इस 'उत्तरखण्ड' का जर्मन भाषा में अनुवाद हुआ है।

१८. ब्रह्माण्ड पुराण-

इस पुराण में समस्त ब्रह्माण्ड का वर्णन होने के कारण इसका नाम ब्रह्माण्ड पुराण पडा है। भुवन-कोष का वर्णन प्राय. हर एक पुराण में उपलब्ध होता है, परन्तु इस पुराण में पूरे विश्व का सागोपाग वर्णन किया गया है। आजकल उपलब्ध पुराण में, जो वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई से प्रकाशित हुआ है- प्रक्रियापाद तथा उपोद्घात पाद आदि चारों पाद उपलब्ध है। नारदपुराण से पता चलता है कि प्रारम्भ में इसमें १२,००० श्लोक थे तथा प्रक्रिया, अनुषग उपोद्घात तथा उपसहार नामक चार पाद थे। इन चारों पादों की विषय सूची भी नारद पुराण में दी गयी है। कूर्मपुराण की विषय-सूची में इस पुराण को 'वायवीय ब्राह्माण्ड' पुराण कहा गया है। इस नामकरण से अनेक पश्चिमी विद्वानों को भ्रम में डाल दिया है। उनके मत से इस पुराण का मूल वायु पुराण है और ब्रह्माण्ड-पुराण उसी वायु पुराण का विकसित रूप है। परन्तु यह धारणा नितान्त निराधार है। नारद पुराण के वचन से हम जानते है कि व्यास जी को वायु ने इस पुराण का उपदेश दिया था। इसलिये इसका वायु-प्रोक्त ब्रह्माण्ड पुराण नाम उचित ही है।

इस पुराण के प्रथम खण्ड में विश्व के भूगोल का विस्तृत तथा रोचक वर्णन है। जम्बूद्वीप तथा उसके पर्वत, नदियों का वर्णन अनेक अध्यायों में है। भद्राश्व, केतुमाल, चन्द्रदीप, किपुरुषवर्ष,

कैलाश, शाल्मलिद्वीप, कुशदीप, क्रौंचद्वीप, शाकद्वीप, पुष्करद्वीप आदि समग्र वर्षो तथा द्वीपों का भिन्न-भिन्न अध्यायों में बडा ही रोचक तथा पूर्ण वर्णन है। इसी प्रकार ग्रहों, नक्षत्रों तथा युगों का विशेष विवरण इसमें दिया गया है। इस पुराण के तृतीय पाद में भारतवर्ष के प्रसिद्ध क्षत्रिय वशों का वर्णन इतिहास की दृष्टि से अत्यन्त उपादेय है। इस पुराण के विषय में एक विशेष बात उल्लेखनीय है। ई० सन् पाचवी शताब्दी में इस पुराण को ब्राह्मण लोग जावा द्वीप ले गये थे जहाँ उसका जावा की प्राचीन 'कवि-भाषा' में अनुवाद आदि भी उपलब्ध होता है। इस प्रकार इस पुराण का समय बहुत ही प्राचीन सिद्ध होता है।

वायु के समान इसके चार विभाग है, जो तत्समान ही नाम धारण करते हैं। इनमें सबसे बडा भाग तृतीय पाद है, जिसके आरम्भ में श्राद्ध का विषय बडे ही सागोपाग रूप में मुख्य तथा अवान्तर प्रभेदों के साथ वर्णित है। इसके अनन्तर परशुराम की कथा भी बडे वैशद्य के साथ यहाँ प्रतिपादित है। पुराणकार परशुराम तथा कार्तवीर्य हैहय के सघर्ष को बडा महत्व देता है और उसने इस कथा के विस्तार के निमित्त लगभग डेढ हजार श्लोकों का उपयोग किया है।

तदनन्तर राजा सगर की तथा राजा भगीरथ द्वारा गगा के आनयन की कथा दी गयी है। सूर्य तथा चन्द्र वश के राजाओं का विवरण ५६ अध्याय में दिया गया है। निबन्ध-ग्रन्थों में ब्रह्माण्ड के श्लोक मिलते हैं। मिताक्षरा में केवल एक श्लोक मिलता है। अपरार्क में ७५-जिनमें से ४६ श्राद्ध के विषय में है। स्मृति चन्द्रिका मे ५०, परन्तु कल्पतरू में इनकी अपेक्षा कम श्लोक है- १६ श्राद्ध के विषय में और १६ मोक्ष के विषय मे उद्धृत है। यह पुराण शब्दों की निरूक्तिया देने में अभिरुचि रखता है।

साह्य पर्वत के उत्तर में प्रवाहित होने वाली गोदावरी नदी वाला प्रदेश भारतवर्ष में समधिक रमणीय तथा मनोरम बतलाया गया है जिससे अनुमान होता है कि ब्रह्माण्ड के निर्माण का यहीं विशिष्ट देश था। ब्रह्माण्ड निश्चयेन परशुराम की महिमा तथा गौरव का प्रतिपादन असाधारण ढग से करता है। परशुराम का सम्बन्ध भारतवर्ष के पश्चिमी तटवर्ती सह्याद्रि प्रदेश से है। परशुराम जी प्रथमत महेन्द्र पर्वत (गजम जिले के पूर्वी घाट की आरम्भिक पहाडी) पर तपश्चर्या करते थे। समग्र पृथ्वी को दान में दे डालने पर उन्हें अपने लिये भूमि खोजने की जरूरत पडी। उन्होनें समुद्र से वह भूमि माँगी, जो सह्याद्रि तथा अरब सागर के मध्य में सकरी जमीन है। वहीं कोंकण है जो चितपावन

ब्राह्मणों का मूल स्थल है। इस प्रकार परशुराम से विशेष भावेन सम्बन्ध होने से ब्रह्माण्ड पुराण का उदय स्थल सह्याद्रि तथा गोदावरी प्रदेश में होना सर्वथा सुसगत है।

वायु के साथ ब्रह्माण्ड की समधिक समता दोनों के किसी एक मूल की कल्पना को अग्रसर करती है। डा० किरफेल ने अपने ग्रन्थ की भूमिका में इन दोनों पुराणों के साम्य रखने वाले अध्यायों का विशेष रूप से विश्लेषण किया गया है। इन दोनों पुराणों के पार्थक्य का युग चतुर्थ शती के आसपास माना गया है। अर्थात् अनुमानत ४०० ई० के आसपास ब्रह्माण्ड ने अपना एक विशिष्ट वैयक्तिक रूप ग्रहण किया। प्रचलित पुराण का समय अतरग परीक्षण के आधार पर निश्चित किया गया है। परशुराम का चरित्र यहाँ २८ अध्यायों मे बड़े मनोरजक विस्तार के साथ निबद्ध किया गया है, जिसकी तुलना महाभारत में निर्दिष्ट तच्चरित से की जा सकती है। वह परिबृहण निश्चित रूप से महाभारत (३०० ई० के आसपास) से उत्तरकालीन है। ब्रह्माण्ड राजनीति सम्बन्धी पारिभाषिक शब्दों का विशेष प्रयोग करता है, जिसमें 'महाराजाधिराज' पदवी महत्त्व की है। पर्वतों में सर्वश्रेष्ठ हिमालय की उपमा ' महाराजाधिराज' के साथ दी गयी है।[1] इस शब्द का प्रयोग उपाधि के रूप में गुप्त नरेशों ने किया जिनके करद राजा सामन्त नाम से गुप्तों के अभिलेखो में व्यवहृत है। यह पुराण कान्यकुब्ज के भूप का निर्देश करता है।[2] जो निश्वित रूप से गुप्त नरेशों के उत्तरकालीन मौखरि राजा का सूचक माना जाता है। कालीदास के काव्यों का तथा उनकी वैदर्भी रीति का प्रभाव इस पुराण के वर्णनों पर है। इन सब उपकरणों का सम्मिलित निष्कर्ष यह है कि ब्रह्माण्ड की रचना गुप्तोन्तर युग में अर्थात ६०० ईस्वी में मानना कथमपि इतिहास विरुद्ध नहीं है। ६०० ई० -९०० ई० तक तीन शताब्दियों में इसके प्रति सस्कार का समय न्यायत माना जा सकता है।

---

[1] ब्रह्माण्ड पु० ३/२२/२८
[2] ब्रह्माण्ड पु० ३/४१/३२

द्वितीय अध्याय

ब्रह्म-वैवर्त पुराण का रचना काल-

भारतीय पौराणिक साहित्य अत्यन्त विशाल है। प्रत्येक पुराण में अगाध ज्ञानराशि सचित हैं। सभी पुराणों का अध्ययन जितना सरल है उसका रचनाकाल तथा वास्तविक स्वरूप निर्धारण उतना ही जटिल है। इसका कारण यह है कि हर एक पुराण के स्वरूप निर्माण में पर्याप्त समय लगा है तथा विद्वानों ने उसमें अनेकों परिवर्तन किया है और समय-समय पर उनमें बहुत मे सशोधन भी हुए है इसलिये किसी भी पुराण के समय तथा स्वरूप के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। ब्रह्मवैवर्त पुराण भी इससे अछूता नही है। इस पुराण के रचनाकाल का समय निर्धारित करने के लिये बहुत से विद्वानों ने प्रयास किया है। किसी भी कृति के समय के निर्धारण में अन्त साक्ष्य एवम् बहि साक्ष्य दोनों ही आधारों को विद्वानों ने मान्यता प्रदान की है।

कुछ विद्वानों ने इस पुराण का रचनकाल दसवीं एव ग्यारहवीं शती माना है। इन विद्वानों में मुख्य रूप से श्री बी०सी० चटर्जी, श्री एस० के० डे, तथा श्री डी०के० शास्त्री के नाम है। इनमें से श्री बी०सी० चटर्जी तथा एस०के०डे, का मानना है कि जयदेव प्रणीत 'गीत गोविन्द' मे पहले की रचना ब्रह्मवैवर्त पुराण है, क्योकि इसके श्लोक का सीधा प्रभाव गीत गोविन्द के प्रथम पद्य में पाया जाता है।[1] डा० ए०वी०कीथ का मानना है कि गीत गोविन्द की रचना का समय ११६२ ई० है। अत इस पुराण का समय भी दशवीं शताब्दी होना चाहिए। परन्तु कुछ विद्वानों का यह भी मानना है कि केवल कतिपय श्लोकों के प्रभाव मात्र से ही रचनाओं का परस्पर पूर्वापर क्रम नियत नही किया जा मकता हो सकता है कि दोनों रचनाओं पर किसी तीसरी रचना का प्रभाव उसे प्रभावित कर रहा हो। इन्ही में से तीसरे विद्वान् श्री डी०के० शास्त्री का मानना है कि किसी निम्बार्क सम्प्रदाय के व्यक्ति के द्वारा इस पुराण के वर्त्तमान स्वरूप में राधा का प्रभाव वर्णित किया है। वस्तुत 'ब्रह्मवैवर्त पुराण' ग्यारहवीं शती का ग्रन्थ मालूम पडता है। कतिपय विद्वानों ने शास्त्री जी के मत को यह कहकर अस्वीकार कर दिया कि राधा और कृष्ण की भक्ति निम्बार्क सम्प्रदाय की न होकर बल्लभ सम्प्रदाय

---

[1] मेघावृत्त नभो दृष्ट्वा श्यामल काननान्तरम्।
झझावत मेघशब्द बज्रशब्द च दारुणम् ।। - ब्र० वै० कृ० ख० १५/४

की है क्योकि यह बहुत परवर्ती है। इसलिये ब्रह्मवैवर्त पुराण का समय ११वीं शती का न होकर इसके बाद का जान पडता है।

कतिपय विद्वानों ने इस पुराण का समय १५वीं शती माना है। इसमें श्री पी०के० मेटी, श्री बलदेव उपाध्याय, श्री एन०के० दत्त एवम् श्री एस० के० सेन आदि के नाम मुख्य रूप से है। इन विद्वानों का मानना है कि 'पद्‌मपुराण' तथा 'ब्रह्मवैवर्त पुराण' दोनों में ही राधा और शालग्राम शिला के बहुत से नामों की व्याख्या यहाँ की गयी है। अर्थात् मन्द मुसकान और और बाँकी चितवन द्वारा गोपियों के समूह से देखा जाने वाला, नवीन यौवन से सम्पन्न, राधा के वक्ष स्थल पर विराजमान, ब्रह्मा आदि के द्वारा स्तुति किया जाने वाला, वन्दनीय, चिन्तनीय, वाछनीय, स्वात्माराम, पूर्णकाम और भक्तो पर अनुग्रह के लिये कातर रहने वाला है। ऐसा कहकर वे श्रेष्ठ गन्धर्व शकर के सामने खडे हो गये। श्रीकृष्ण के रूप का वर्णन सुनकर शिव के शरीर में रोमाच हो आया। उनके नेत्रों में आँसू भर आये और उन्होने कहा- कि मैने यह जान लिया था कि तुम लोग श्रेष्ठ वैष्णव हो और अपने चरण कमल की धूलि से पृथ्वी को पवित्र करने के लिये भ्रमण कर रहे हो।' मै भी भगवान् श्रीकृष्ण के भक्त को देखने के लिये लालायित रहता हूँ। साधु पुरुषों का समागम तीनों लोकों मे दुर्लभ है। तुम लोग मुझे पार्वती और देवों से भी बढकर सदा प्रिय हो। तथापि मुझे वैष्णव लोग अपने और अपने भक्तो से अधिक प्रिय है, किन्तु मैने पहले जो प्रतिज्ञा की है वह निष्फल नही हो सकेगी। महाभागों! इसे सुनिये, मैने कह रखा है कि पार्वती से इस व्रतानुष्ठान में इस सरोवर के कमल का जो अपहरण करेंगे, वे शीघ्र आसुरी योनि में चले जायेंगे, इसमें सशय नही। श्रीकृष्ण के भक्तों का कहीं भी अशुभ नहीं होता है, अत मनुष्य योनि प्राप्त करके तुम लोग भगवान् श्री कृष्ण का प्रत्यक्ष दर्शन करना चाहते हो। वत्स! भारत के वृन्दावन उत्तम वैष्णव होने के नाते तुम लोग कृष्ण को देखकर मृत्यु प्राप्त करोंगे और दिव्य रथ पर बैठकर भगवान् के घर चले जाओगे।

इतना कहकर शिव ने उन्हे (गन्धर्वो) उस कृष्ण का दर्शन कराया, जिसे देखकर गन्धर्वो के नेत्र में प्रेमाश्रु भर आया। तदनन्तर सर्वरूपी भगवान् को प्रणाम करके वे गन्धर्व दानवी योनि में चले गये और दानवों के अधीश्वर हुए। इस प्रकार वसुदेव पहले ही मुक्त हो गये थे। सभी असुर शिव के वरदान द्वारा मोक्ष को प्राप्त हुए। देवर्षि नारद ने पूछा हे महाभाग! आपकी कृपा से मैने जो कुछ अदभुत था वह सुन लिया और अब मुझे आप यह बताये कि- पार्वती ने कौन-सा व्रत किया था?

उस व्रत के आराध्य देव कौन थे? उसका फल क्या था? उस व्रत के लिये उपयोगी व्रत-कौन-से थे? तथा उसकी प्रतिष्ठा का निरूपण कीजिए। इसके जवाब में नारायण ने कहा कि- हे मुने! यह त्रयमासिक नामक था, जो पतिविषयक सौभाग्य की वृद्धि करता है, इसके राधिका सहित भगवान श्री कृष्ण आराध्य देव है। उत्तरायण के विषुव काल में इसका आरम्भ होता है और दक्षिणायन सूर्य में इसकी समाप्ति होती है। वैशाख की सक्रान्ति में गगा में स्नान करके गगा तट पर व्रतारभ का सकल्प करना चाहिए। पुन व्रती को चाहिए- कि कलश, मणि शालग्राम या जल का पूजन करें।

वे (कृष्ण) नूतन जलधर के समान श्याम हैं, पीताम्बर धारी हैं, उनका शरत्पूर्णिमा के चद्रमा की भॉति मद-मुस्कान युक्त मुख हैं, शरत्कालीन विकसित कमल की भॉति नेत्र है, उनमें सुन्दर अजन लगा है, वे गोपियों के मन को बार-बार मोहित करते हैं, राधा उनकी ओर देख रही है, वे राधा के वक्ष स्थल पर विराजमान् है। ब्रह्मा, अनन्त, शिव, और धर्म आदि देवता उनकी स्तुति करते हैं। मै उनका ध्यान कर रहा हूँ। इस प्रकार व्रती ध्यान द्वारा कृष्ण का ध्यान करके प्रसन्नता से उनका आवाहन करे, तत्पश्चात राधिका का ध्यान करें। वह ध्यान यजुर्वेद की माध्यान्दिन शाखा का है। राधा रासेश्वरी, रमणीय, रासोल्लास-रस के लिये उत्सुक , रासमण्डल के मध्य में अवस्थित, रास की अधिष्ठात्री देवी, रासेश्वर (कृष्ण) के हृदय पर स्थित, रसिक, रसिक की प्रिया, रसिको मे श्रेष्ठ, रम्यरमा, और रमण (प्रियतम) के लिये उत्सुक है।[1]

इसके उपरान्त देवर्षि नारद ने पूछा- यद्यपि सामवेद में उनके सहस्त्र नाम सुने है फिर भी आप (नारायण) से उनके (राधा) सोलह नाम मैं सुनना चाहता हूँ। विभो! चाहे ये नाम उन नामों के ही अन्तर्गत हो, मुझे अवश्य बताये, क्योकि ये नाम पुण्यस्वरूप एव भक्तो को अति अभीष्ट हैं। जगन्माता राधिका के सर्व-दुर्लभ उन नामों की व्युत्पत्ति भी बताइये, क्योकि ये नाम पावन एव जगत् के कारण हैं।

कुछ अन्य पौराणिक विद्वानों का मानना है कि ब्रह्मवैवर्त पुराण के उपर कुछ हद तक 'देवी भागवत्' पुराण का प्रभाव भी पडा है क्योकि उसमे 'पचायतन' की पूजा ब्रह्मवैवर्त पुराण के 'षडायतन' की पूजा से पहले की जाती थी- ऐसा माना गया है। अतः इन दोनों ग्रथों में 'ब्रह्मवैवर्त

---

[1] ब्र० वै० कृ० ख० १६/५८-८७
२ ब्र० वै० कृ० ख० १७/२२०-२२२

पुराण' बाद का है। क्योकि 'देवी भागवत्' ११वीं १२वीं शती में जाकर अपने वर्तमान स्वरूप में आया, इससे यह मालूम होता है कि 'ब्रह्मवैवर्त पुराण' १५वीं शती के लगभग का होना चाहिए। यहाँ 'षडायतन' पूजा से तात्पर्य यह है कि स्नान और नित्य क्रिया के पश्चात् कलश-स्थापन करके, फिर नैवेद्य आदि उपचारों से छवों देवों-गणेश, सूर्य, अग्नि, विष्णु, सूर्य और पार्वती की सर्वप्रथम अर्चना करके तब बाद में इष्टेव (सरस्वती) की अर्चना करनी चाहिए।[1]

इसके पश्चात् ब्रह्मवैवर्त पुराण कलियुग वर्णन के प्रसग में म्लेच्छ की ओर इगित करता है अर्थात्- चारों वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) के लोग म्लेच्छाचारी होंगे और अपने शास्त्रों को छोडकर म्लेच्छों के शास्त्र पढेगें और ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य के वशज कलियुग में शूद्रों के सेवक[2] बनेंगे। इसका तात्पर्य कुरान आदि से मानना ही उचित है क्योकि बगाल पर मुसलमानों का आधिपत्य १३३० ई० में हो गया था इसलिये यह पुराण १५वीं शती का ही माना जाना उचित है।

उपर्युक्त विद्वानों द्वारा ही कुछ और तर्क प्रस्तुत किये गये जिससे 'ब्रह्मवैवर्त पुराण' में स्वकीया और परकीया प्रेम का मिला-जुला स्वरूप पाया जाता है क्योकि परकीया प्रेम के सस्थापक चण्डीदास जिनका समय १३८५ ई० का माना जाता है अत यह पुराण चण्डीदास का परवर्ती होने के कारण १५वीं शती का माना जाता है। श्री जे०सी० राय, श्री आर० सी० हाजरा, श्री वी०पी० काने और श्री विल्सन ने इस पुराण को १६वीं शती की रचना माना है। अपने मत में इन विद्वानों ने 'ब्रह्मवैवर्तपुराण' में वर्णित 'मनसा' अर्थात् भारतवासियों का त्राण करने के लिये ही इनका यहा प्रस्थान हुआ। ये प्रजाओं की परम देवता है। प्रकृति देवी के एक अन्य प्रधान अश का नाम देवी 'मनसा' है ये कश्यप की मानसपुत्री है। अत मनसा देवी कहलाती है।[3] षष्ठी और मगलचण्डी से तात्पर्य यह है कि वे सबसे श्रेष्ठ मातृका मानी जाती हैं उन्हे लोग षष्ठी देवी कहते है, प्रत्येक विश्व में वे बच्चों का पालन करती हैं। वे तपस्विनी, विष्णु भक्ता और कार्तिकेय की पत्नी है। प्रकृति का छठा अश होने से वे 'षष्ठी' कही जाती हैं।[4] 'मगल चण्डी' प्रकृति देवी का ही एक प्रधान अश है।

---

[1] ब्र० वै० प्र० ख० ४/३५-३६

[2] म्लेच्छाचारा भविष्यन्ति वर्णाश्चत्वार एव च।
म्लेछशास्त्र पठिष्यन्ति स्वशास्त्राणि विहायते।
ब्रह्मक्षत्रविशा वशा शूद्राणा सेवका कलौ।। ब्र० वै० प्र० ख० ७/२५

[3] ब्र० वै० प्र० ख० १/७२

[1] ब्र० वै० प्र० ख० १/८०-८१

यह प्रकृति के मुख से उत्पन्न होकर समस्त मगलो का सम्पादन करती है सृष्टि के समय 'मगलरूपा' और सहार के समय 'कोपरूपा' होने के कारण इन्हें पण्डितों ने 'मगलचण्डी' कहा है।[1]

इन्ही लौकिक परक देवियों के वर्णन से इस पुराण की अर्वाचीनता सिद्ध होती है। और इस अनुसार से इसका समय १६वीं शती से पहले का नहीं माना जा सकता। इसके अलावा इस पुराण पर दार्शनिक दृष्टि से महाप्रभु चैतन्य का अमिट प्रभाव भी जान पडता है, क्योकि इनका समय १४८५ई० है। अत 'ब्रह्मवैवर्त पुराण' १६वीं शती के लगभग का है। एक अन्य प्रमाण प्रस्तुत करते हुए विद्वानों ने कहा है कि राधा के निवास वर्णन के प्रसग में तैतीस वनों की सर्वप्रथम कल्पना 'हित हरिवश' ने १५३५ ई० में की, और क्योकि इस पुराण में भी इन तैंतीस वनों का वर्णन है अर्थात् इन तैतीस वनों में-भाण्डीर वन, श्रीवन, रम्य कदम्ब वन, तुलसी वन, निम्बारण्य, मधुवन, जम्बीर कानन, नालिकेर वन, पूगवन, बदरीवन, कदली वन, बिल्ववन, नारगी वन, अश्वत्थ वन, वशवन, अनारवन, मन्दार वन, ताल वन, आम्र वन, केतकी वन, अशोक वन, खजूर वन, आम्रातक वन, जम्बू वन, साखू वन, कटक वन, कमल वन, चमेली वन, सघन वन, श्रीखण्ड वन, और सबसे विलक्षण केसर वन आदि है।[2] अत यह पुराण १५३५ ई० के पश्चात् अर्थात् १४वीं से १६वीं शती के मध्य की रचना होनी चाहिए।

उपरोक्त विद्वानो के विचार पर आलोचनात्मक रूप से ध्यान दिया जाय तो यह सिद्ध होता है कि सभी विद्वानों ने जहा 'ब्रह्मवैवर्त पुराण' की प्राचीनता सिद्ध करने के लिये अपने तर्क देते है वहीं कतिपय अन्य वर्गो के विद्वान् भी इस पुराण को अर्वाचीन सिद्ध करने को दृढ सकल्प है। जैसे 'गीतगोविन्द' पर लिखित प्रभाव को वे यह कहकर टाल गये कि इस पर किसी अन्य ग्रन्थ का प्रभाव है परन्तु 'देवी भागवत्' के प्रभाव को मान्यता देते हुए 'ब्रह्मवैवर्त पुराण' को उसका परवर्ती मानने में कोई हिचक नहीं दिखाते प्रतीत होते। परन्तु यदि देवी भागवत् को परवर्ती मान भी लिया जाय तो इसका समय ११-१२वीं शती होने से ब्रह्मवैवर्त पुराण का समय १२वीं -१३वीं शती क्यो नही मान सकते? इसी प्रकार 'राधा' और 'शालग्राम' शिला के नामों के विवेचन से ब्रह्मवैवर्त कार ने इसे 'पद्म

[1] ब्र० वै० प्र० ख० १/८६-८८
[2] ब्र० वै० कृ० ख० २८/१६५-१७०

पुराण' से लिया और पद्म पुराण का समय ईसा की दशवीं शती है तो ब्रह्मवैवर्त पुराण का समय १५वीं शती के स्थान पर १२वीं १३वीं शती भी मान्य है।

अन्त साक्ष्य के आधार पर ब्रह्मवैवर्त पुराण के समय निर्धारण के पश्चात् बर्हि साक्ष्यों के आधार पर यह विवादों से परे है कि श्रीमद्भागवत् एव अन्य पुराणों मे इस के अर्वाचीन मानने का एक महत्वपूर्ण कारण राधा का स्वरूप सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना जाता रहा है। राधा के विषय में श्रीमद्भागवत मौन है। जबकि 'ब्रह्मवैवर्त पुराण' बर्हिसाक्ष्य के आधार पर यह साक्ष्य प्रस्तुत करने की चेष्टा करता है कि राधा की कल्पना अत्यन्त अर्वाचीन नही है। ईसा की चौथी शताब्दी के लगभग श्रीकृष्ण के चरित सम्बन्धी शिलालेख और मूर्तियॉ प्राप्त होती है। मन्दसौर के मन्दिर के दरवाजें के दो स्तम्भों पर जो दृश्य उत्कीर्णित है वह कृष्ण के चरित से सम्बन्धित गोवर्धन लीला का दृश्य कहलाता है। उसी पर शकटासुर लीला, मानव लीला एव अन्य श्रीकृष्ण लीलाओं के दृश्य देखने को मिलते है। जिनसे यह प्रमाणित होता है कि श्री कृष्ण चरित की लीलाओं का बहुत अधिक प्रसार हुआ।

धारा के अमोधवर्ष ६८० ई० के शिलालेख में राधा का वर्णन श्री कृष्ण की प्रिया के रूप में हुआ है। मालवा के राजा मुज के दसवीं शती के लेखों (ताम्रपत्रों) के मगलाचरण में राधा विषयक वर्णन पाये जाते है। इन शिलालेखों के विवेचन से यह सिद्ध होता है कि भागवत पुराण के समय राधा का स्वरूप इतना विख्यात न हुआ रहा होगा। इसलिये भागवत पुराण में राधा के स्वरूप का वर्णन नही हो पाया। बगाल के पहाडपुर नामक स्थान पर खनन के समय जो मूर्ति मिली उसे श्रीकृष्ण की लीला से सम्बन्धित माना जाता रहा है। विद्वानों के अनुसार श्रीकृष्ण के साथ जिस गोपी का उत्कीर्णन किया गया है वह राधा के अलावा कोई भी नही है। अत इससे यह सिद्ध है कि ५वीं शती में राधा के साथ श्रीकृष्ण के चरित्र का विस्तार होने लगा था।

सच्चाई तो यह है कि उसने राधा-स्वरूप के वर्णन को उपयोगी न समझा होगा और यह भी सम्भव है कि 'ब्रह्मवैवर्त पुराण' के आरम्भिक स्वरूप में राधा को इतना महत्व नही दिया गया हो तथा ज्योंहि १२वीं १३वीं शती के लगभग राधा की शक्ति का विकास होता गया, इस पुराण में राधा के किसी भक्त ने इसे इससे सम्बद्ध कर दिया हो। यदि दसवीं शती के पूर्व के शिलालेखों में राधा के नाम का विवेचन न मिला होता तब यह कह सकते थे कि ब्रह्मवैवर्त पुराण १२वीं १३वीं शती का नही

माना जा सकता। अत अन्त साक्ष्य के आधार पर यह सिद्ध किया जा सकता है कि 'श्रीमद्भागवत्' ने 'ब्रह्मवैवर्त पुराण' को प्रभावित किया है।

ब्रह्मवैवर्त पुराण में कहा है कि-वेद में जिसका विधान है वह धर्म है और जिसका निषेध है वह अधर्म है। ब्राह्मण सर्वप्रथम सुख पूर्वक यज्ञोपवीत धारण कर वेदों का अध्ययन करें।[1] भगवान् की एक सेवा (भक्ति) के बिना सालोक्य, सायुज्य, सारूप्य, और सामीप्य नामक मुक्ति को भी वैष्णवगण स्वीकार नहीं करते हैं।[2] इसी भाँति सुदामा को देखकर उन दोनों (राधा-कृष्ण) के श्रीमुख प्रसन्नता से खिल उठे उन्होंने स्नेह से आर्द्र होकर उसे अपनी गोद में उठा लिया। और कहा कि न तो तीर्थ जलमय होते हैं और न तो देवता लोग मिट्टी और पत्थर मय होते हैं। वे पवित्र करते हैं लम्बे समय में और भगवान् श्रीकृष्ण के भक्त दर्शन-मात्र से पवित्र कर देते है।[3]

राधा का वर्णन तथा उसका अत्यधिक महत्त्व स्वीकार किया गया है, लौकिक देवी-देवताओं के वर्णन, तैतीस वनों का वर्णन, चैतन्य महाप्रभु के दार्शनिक प्रभाव आदि होने से 'ब्रह्मवैवर्त पुराण' को १४ से १६वीं शताब्दी का ग्रन्थ नही माना जा सकता। विद्वानों के मतानुसार तो मूल 'ब्रह्मवैवर्त पुराण' ही अनेक परिवर्तन को आत्मसात् करते हुए उसी प्रकार अपने वर्तमान स्वरूप में प्रकाशित हुआ जैसे भारतीय सस्कृति अपने मूल स्वरूप में अनेक सस्कारों के श्रेष्ठ तत्त्वों को आत्मसात् करती हुई भारतीय मिश्रित सस्कृति के रूप में उदित होती है। अत इस पुराण का समय १०वीं शती से १३वीं शती तक का मानना ही समीचीन है।

---

[1] ब्र० वै० ब्र० ख० २४/८

[2] ब्र० वै० प्र० ख० १८/४०

[3] ब्र० वै० प्र० ख० ५३रु२५

अध्याय ३ वैशेषिक दर्शन

भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों को आस्तिक और नास्तिक वर्गो में विभाजित किया गया है। वैशेषिक दर्शन भारतीय विचारधरा में आस्तिक दर्शन कहा जाता है। इस दर्शन का आरम्भ कणाद के वैशेषिक सूत्रों से होता है। जिसमें दस अध्याय(प्रत्येक के दो-दो आह्निक) और ३७० सूत्र हैं। इस दर्शन के प्रणेता कणाद है जिनका असल नाम 'उलूक' था। इसी कारण वैशेषिक दर्शन को 'औलूक्य दर्शन' भी कहा जाता है।

वैशेषिक दर्शन का विकास ३०० ई० पू० हुआ माना जाता है। इसे पदार्थ धर्म सग्रह भी कहते है इसकी रचना श्रीधर ने की है। वैशेषिक ने जगत् को सत्य, आत्मा को नित्य, विभु, नाना ज्ञानवान् तथा कर्त्ता माना है। और परमाणुओं को सृष्टि का उपादान कारण स्वीकार किया है। परमात्मा के साथ जगत् का कार्य-कारण भाव सम्बन्ध है। अर्थात् जगत् कार्य तथा ईश्वर उसका निमित्त कारण है। वैशेषिक दर्शन के अनुसार परमाणुओं के साथ अरभ्यारम्भक भाव सम्बन्ध है, क्योकि परमाणु स्वसयोग द्वारा पहले अविद्यमान पृथिव्यादि का आरम्भ करते है अत यह दर्शन सृष्टि में 'आरम्भवाद' को मानता है।

"शेषो वदेदनन्त य नवधारूपमीश्वरम्।

तर्काणामेव षण्णा च षड्विध स्मृतम्।।"

अर्थात्-शेष भगवान् उन्हें नवधारूप वाले ईश्वर एव अनन्त कहते है। छ दर्शनों के ही इनके छ प्रकार के रूप अभीष्ट है। इनमें वैष्णवों के एक, वेदों के एक, पुराणों के एक उन्ही सब को मिलाकर इनके नव रूप कहे गये है। न्यायशास्त्र में इन्हें निर्वचनीय कहा गया है जिसे शकर भी स्वीकार करते है।[1] वैशेषिक विद्वान् उसे नित्य एव आद्य कहते है।

कणाद ने अपने सूत्रों में केवल छ. पदार्थो का निरूपण किया है, वे हैं- द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय। प्रशस्तपाद में 'अभाव' को सातवें पदार्थ के रूप में स्वीकार किया गया है। तभी से पदार्थो की सख्या सात मानी जाती है परन्तु भावात्मक पदार्थ छ ही हैं।

---

[1] ब्र० वै० कृ० ख० १२६/७४

समवेत अर्थात् समवाय-सम्बन्ध से युक्त हैं। दो आह्किों वाले द्वितीय अध्याय में द्रव्य का निरूपण हुआ है जिसमें प्रथम आह्कि में भूतों (क्षिति, जल, अग्नि, वायु, आकाश) के लक्षण है। तथा दूसरे में दिशा तथा काल का निरूपण है। तृतीय अध्याय में जिसमें दो आह्कि हैं आत्मा और अन्त करण (आन्तरिक इन्द्रिय-मन) के लक्षण हैं, इनमें भी प्रथम आह्कि में आत्मा का लक्षण, द्वितीय में अन्त करण। दो आह्किों वाले चतुर्थ अध्याय में शरीर और उसके उपयोगी तत्वों (जैसे-परमाणु कारणता आदि) का वर्णन है। दो आह्किों वाले पचम अध्याय में कर्म का प्रतिपादन हुआ है। इसमें प्रथम आह्कि में शरीर से निष्पन्न होने वाले कर्मो का विचार हुआ है, दूसरे आह्कि में मानसिक कर्मो का चिन्तन किया गया है।

दो आह्किों से विभूषित षष्ठ अध्याय में श्रुतियों में प्रतिपादित धर्म का निरूपण किया गया है। विभाजन वाले सप्तम अध्याय में गुणों और समवाय का प्रतिपादन है। अष्टम् अध्याय में निर्विकल्पक तथा सविकल्पक प्रत्यक्ष प्रमाण का निरूपण है। नवम् अध्याय में बुद्धि के विषयों का वर्णन है। दशम अध्याय में अनुमान के भेदों का वर्णन हैं।

इस शास्त्र की प्रवृत्ति उद्‌देश्य, लक्षण और परीक्षा के भेद से तीन प्रकार की हैं। वस्तु का केवल नाम ले लेना या गिना देना ही उद्‌देश्य कहलाता है, जैसे यह कहना कि द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय से छह पदार्थ है। लक्षण में वस्तु के उस धर्म का उल्लेख करते है जिसके द्वारा वह वस्तु अन्य सजातीय वस्तुओं से पृथक की जाय, जैसे द्रव्य उसे कहते हैं जिसमें गुण हो। परीक्षा के द्वारा यह विचार होता है कि उक्त प्रकार से दिये गये लक्षण वस्तु विषय में ठीक है कि नहीं।

वैशेषिक दर्शन विश्व की सृष्टि के लिये 'सृष्टिवाद' को मानता है। वैशेषिक के सृष्टिवाद को परमाणु सृष्टिवाद कहा जाता है क्योंकि वह विश्व का निर्माण चार प्रकार के परमाणुओं से, यथा-पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि निर्मित मानता है। इन परमाणुओं के अतिरिक्त सृष्टि में ईश्वर का भी हाथ माना गया है। अत वैशेषिक का सृष्टिवाद नैतिक और आध्यात्मिक दृष्टिकोण पर बल देता है। वैशेषिक ने आत्मा को स्वभावत अचेतन कहा है। चैतन्य को आत्मा का आगन्तुक धर्म माना गया है।

पदार्थ-

वैशेषिक दर्शन में पदार्थो का विभाजन दो वर्गो में हुआ है-

१ भाव पदार्थ

२. अभाव पदार्थ

१. भाव पदार्थ-वैशेषिक दर्शन के अनुसार भाव पदार्थ छह है-

१ द्रव्य

२ गुण

३ कर्म

४ सामान्य

५. विशेष

६ समवाय

अरस्तू के अनुसार पदार्थो की सख्या दश है-

१ द्रव्य

२. गुण

३. परिमाण

४. सम्बन्ध

५ स्थान

६ काल

७ स्थिति

८. सक्रियता

९ निष्क्रियता

१०. धर्म

कणाद ने सत्ता की दृष्टि से पदार्थ का वर्गीकरण किया है। जबकि अरस्तू ने तर्क-वाक्य की दृष्टि से वर्गीकृत किया है। इसीलिये कणाद के पदार्थ तात्त्विक और अरस्तू के पदार्थ तार्किक कहे जाते है। समानता दोनों में यही है कि दोनों ने द्रव्य और गुण को पदार्थ माना है।

१. द्रव्य- 'समवायेन गुणवत्त्व क्रियावत्त्व वा द्रव्यत्वम्' अर्थात् जिस सत्ता में गुण अथवा कर्म ममवेत रहते है उसके आधार को ही द्रव्य कहते है। तात्पर्य यह है कि द्रव्य गुण और कर्म का आधार होने

के अतिरिक्त अपने कार्यो का समवायि-कारण है। सूत से कपडा निर्मित होता है। इसीलिये सूत को कपडे का समवायि-कारण कहा जाता है। इसी प्रकार द्रव्य भी अपने कार्यो का उपादान कारण है। द्रव्य सामान्य निहित होता है, द्रव्य के सामान्य को द्रव्यत्त्व कहा जाता है। द्रव्य नौ प्रकार के होते है। जो निम्नलिखित है-

१. पृथ्वी

२. अग्नि

३ वायु

४. जल

५ आकाश

६. दिक्

७. काल

८ आत्मा

९ मन

इन द्रव्यों में प्रथम पाच अर्थात् पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और आकाश को पचभूत कहा जाता है। प्रत्येक का एक-एक विशिष्ट गुण होता है। पृथ्वी का विशेष गुण 'गन्ध' है। जल का विशेष गुण रस, वायु का विशेष गुण स्पर्श, अग्नि का विशेष गुण रूप, तथा आकाश का विशेष गुण शब्द है। वैशेषिक के अनुसार गन्ध के समवायि कारण को अथवा पृथिवीत्व जाति से सम्पन्न द्रव्य को पृथिवी कहते है। इसमें चौदह गुण-रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, सख्या, परिमाण, पृथक्त्व, सयोग विभाग, परत्त्व, अपरत्त्व, गुरूत्त्व, द्रवत्त्व और सस्कार उपलब्ध होते है। पृथिवी के रूप के सात प्रकार है-शुक्ल, नील, पीला, लाल, हरा, कपिश और चित्र अथवा मिश्रित। नील रूप से भिन्न काला रूप वैशेषिक दर्शन में नही माना गया है, किन्तु यह अस्वाभाविक है। इसमें छ प्रकार के रस-मधुर आम्ल, लवण, कटु, कषाय और तिक्त आदि पाये जाते है। पृथिवी की गन्ध को सुगन्धि (सुरभि) और असुगन्धि (असुरभि) असुगन्धि के अन्दर दुर्गन्ध और वह गन्ध भी आ जाती है जो न सुगन्धि हो और न दुर्गन्ध ही। पृथिवी के स्पर्श की यह विशेषता है कि स्वभाव से यह गर्म भी नही होता और शीतल भी नही होता है तथा तेज-आग या सूर्य-किरण आदि के सम्पर्क से बदल जाता है, इसे ही 'पाकज'

कहते है। पृथिवी का द्रवत्त्व भी पाकज है। ऐसे द्रवत्त्व को नैमित्तिक द्रवत्त्व कहते है। सम्कार के तीन उपभेद है- वेग, भावना और स्थिति स्थापक। इनमें से वेग और स्थिति और स्थापक पृथिवी में उपलब्ध होते है।

पृथिवी के नित्य तथा अनित्य दो भेद हैं। नित्य भेद के अन्तर्गत पार्थिव परमाणु आते है जो पृथिवी के सूक्ष्मतम, अविभाज्य तथा शाश्वत स्वरूप हैं। अनित्य पृथ्वी के अन्तर्गत द्वयणुक से लेकर समस्त पार्थिव तत्त्व तक आ जाते है चूँकि द्वयणुक आदि का उत्पादन भी होता है और विनाश इसलिये ये सब अनित्य हैं। इन्हे ' कार्य' भी कहते है। अनित्य पार्थिव तत्त्वों को-शरीर इन्द्रिय और विषय के रूप में तीन भागों में विभाजित किया गया है। जिनमें से शरीररूप कार्य पृथिवी के योनिज (योनि से उत्पन्न) तथा अयोनिज (योनि से उत्पन्न नही) ऐसे दो भेद हैं शुक्र (वीर्य) तथा शोणित (रक्त) के मिलन का नाम है 'योनि' तथा उससे उत्पन्न शरीर योनिज कहलाता है, और उससे न उत्पन्न शरीर अयोनिज कहलाता है। इन दोनों प्रकार के शरीरों में से अयोनिज शरीर वह है जो शुक्र-शोणित की अपेक्षा न कर धर्म विशेष के सम्बन्ध से पार्थिव परमाणुओं से ही अयोनिज शरीर बनता है जो देवर्षियों का प्रसिद्ध है।

धर्म विशेष सयुक्त परमाणुओं से निर्मित देवर्षियों के अयोनिज शरीर के समान कीडे-मकोडे आदि क्षुद्र जीवों के विशेषरूप से यातना भोगने वाले धर्म विशेष सहित परमाणुओं से निर्मित शरीर भी जो प्राय इस लोक मे प्रसिद्ध है अयोनिज होते हैं। शुक्र तथा शोणित के मिलने से उत्पन्न योनिज शरीर कहलाता है। जो जरायु (मास की पुटली) से उत्पन्न होने से जरायुज (१) तथा अण्डे से उत्पन्न होने के कारण अण्डज (२) ऐसा दो प्रकार है। मनुष्य पशु तथा हरिण आदि चौपाए प्राणिमात्र का शरीर जरायुज है और पक्षि सर्प आदि सरककर चलने वाले जीव मात्र का शरीर अण्डज होता है।

'जिघ्रति अनेन' घ्राणेन्द्रिय पार्थिव है।[1] चूकि घ्राणेन्द्रिय पृथिवी के विशेष गुण गन्ध के प्रत्यक्ष मे ही समर्थ हो पाती है, अन्य किसी भी तत्त्व के प्रत्यक्ष मे नहीं इसलिये घ्राणेन्द्रिय और गन्ध के बीच बहुत अन्तरग सम्बन्ध सिद्ध है इसी कारण घ्राणेन्द्रिय को पृथिवी से उत्पन्न माना गया है। शरीर के साथ सयुक्त ज्ञान का मुख्यतम साधन-कारण-इन्द्रिय है।

---

[1] वै० सू० ४/२/५

शरीर और इन्द्रिय से भिन्न अनित्य पृथिवी के जितने भेद-उपभेद है सब पार्थिव विषय है। यद्यपि शरीर तथा इन्द्रिय भी विषय से बहिर्भूत नहीं है स्वाभाविक शीतल स्पर्श से सम्पन्न द्रव्य जल है। पृथिवी की भॉति जल के भी नित्य और अनित्य दो भेद है। हमारी रसनेन्द्रिय जो जीभ के अग्रभाग में रहती है, मुख्यत जल से बनी है। स्वाभाविक उष्ण स्पर्श से युक्त द्रव्य तेज या अग्नि है। इनमें भास्वर शुक्ल रूप रहता है। चक्षु या ऑख तेज से उत्पन्न इन्द्रिय मानी जाती है। वैशेषिक के अनुयायी सुवर्ण या सोने को तैजस द्रव्य मानते है। रूपहीन किन्तु स्पर्श युक्त द्रव्य वायु है। त्वक् या त्वचा वायु से उत्पन्न इन्द्रिय है उसी से वायु का प्रत्यक्ष होता है।[1]

आकाश- शब्द गुण वाला द्रव्य आकाश है। शब्द गुण का आश्रय दूसरा कोई द्रव्य नहीं हो सकता, इसलिये परिशेषानुमान से यह सिद्ध होता है कि शब्द आकाश का गुण है। शब्द आकाश का अनुमापक (अनुमान करने वाला) भी है। आकाश विभु है। क्योकि शब्द सर्वत्र उपलब्ध होता है। आकाश एक और नित्य है।

दिक् और काल- सभी भौतिक द्रव्यों का अस्तित्व 'दिक्' और 'काल' में होता है। 'दिक्' और काल के बिना भौतिक द्रव्यों की व्याख्या असम्भव हो जाती है। इसीलिये वैशेषिक ने दिक् और काल को द्रव्य के रूप में माना है।

दिक् ससार की वस्तुओं को आश्रम प्रदान करता है। यदि दिक् न होता तो ससार की विभिन्न वस्तुये एक दूसरे के अन्दर प्रविष्ट हो जाती है दिक् अदृश्य है, इसका ज्ञान अनुमान के द्वारा होता है। 'पूर्व' और 'पश्चिम', 'निकट' और 'दूर', यहॉं और वहॉं इत्यादि प्रत्ययों का आधार दिक् है। दिक् सर्वव्यापक नित्य और विशेष गुण से हीन है। यद्यपि दिक् एक है फिर भी दैनिक जीवन में एक स्थान और दूसरे स्थान 'पूर्व' और 'पश्चिम' दिक् के औपाधिक भेद हैं। 'दिक्' आकाश से भिन्न है। आकाश भौतिक द्रव्य है जबकि दिक् भौतिक द्रव्य नहीं है।

काल भी दिक् की तरह नित्य और सर्वव्यापी है। काल सभी परिवर्तनो का साधारण कारण है। काल का प्रत्यक्षीकरण नहीं होता है। यह अनुमान का विषय है। 'प्राचीन' और 'नवीन' भूत, और वर्त्तमान और 'भविष्य', 'पहले' और 'बाद' इत्यादि प्रत्ययों का आधार काल है यद्यपि काल एक है फिर भी उपाधि भेद के कारण काल अनेक दिखाई पडता है। क्षण, दिन, मास, मिनट, वर्ष, इत्यादि

---

[1] *नव्य नैयायिको के अनुसार*

काल के भेदों का कारण उपाधि है। 'दिक्' 'काल' से भिन्न है। इसका कारण यह है कि दिक् का विस्तार होता है जबकि काल विस्तार हीन है।

मन- मन को वैशेषिक ने अन्तरिन्द्रिय माना है। 'मन' अदृश्य है। इसका ज्ञान अनुमान के सहारे होता है। वैशेषिक दर्शन ने मन को सिद्ध करने के लिये दो तर्क दिये है-

१. जिस प्रकार वाह्य वस्तुओं के ज्ञान के लिये वाह्य इन्द्रियों की सत्ता माननी पडती है, उसी प्रकार आत्मा सुख-दुःख आदि आन्तरिक व्यापारों को जानने के लिये एक आन्तरिक इन्द्रिय की आवश्यकता है। वहीं आन्तरिक इन्द्रिय मन हैं।

२. ऐसा देखा जाता है कि पाचों वाह्येन्द्रियों के अपने विषयों के साथ सयुक्त रहने पर भी हमें रूप, रस, गन्ध, शब्द और स्पर्श की अनुभूति नहीं होती है। इससे सिद्ध होता है कि वाह्य इन्द्रियों के अतिरिक्त एक आन्तरिक इन्द्रिय का सहयोग आवश्यक है। वही इन्द्रिय 'मन' है। मन को वैशेषिक ने नित्य माना है यह नित्य इसलिये है कि यह अवयवहीन है। विनाश और निर्माण का अर्थ क्रमश विभिन्न अवयवों का पृथक्करण और सयोजन है। मन, आकाश, काल, दिक् आदि से भिन्न है इस भिन्नता का कारण यह है कि मन सक्रिय है जबकि आकाश, काल, दिक् इत्यादि निष्क्रिय है।

आत्मा- ज्ञान के आश्रय को आत्मा कहा जाता है।[1] वैशेषिक दर्शन में आत्मा उस सत्ता को कहा जाता है जो चैतन्य का आधार है । वस्तुत वैशेषिक ने दो प्रकार की आत्माओं को माना है-

१. जीवात्मा

२ परमात्मा

जीवात्मा की चेतना सीमित है जबकि परमात्मा की चेतना असीमित है जीवात्मा अनेक है जबकि परमात्मा एक है। परमात्मा ईश्वर का ही दूसरा नाम है। वैशेषिक के मतानुसार ज्ञान, सुख-दुःख इच्छा, धर्म, अधर्म, इत्यादि आत्मा के विशेष गुण हैं। जीवात्मा अनेक हैं। जितने शरीर है उतनी ही जीवात्मा होती है। प्रत्येक जीवात्मा में मन का निवास होता है, जिसके कारण इनकी विशिष्टता विद्यमान रहती है। आत्मा की अनेकता को वैशेषिक ने जीवात्माओं की अवस्थाओं में भिन्नता के आधार पर सिद्ध किया है। कुछ जीवात्मा सुखी हैं, कुछ दुःखी हैं, कुछ धनवान् हैं, कुछ

---

[1] त० स० पृ० ३२

निर्धन हैं। वैशेषिक ने आत्मा को अमर माना है यह अनादि और अनन्त है। आत्मा की सत्ता को प्रमाणित करने के लिये वैशेषिक ने कुछ युक्तियों का उपयोग किया है-

१. प्रत्येक गुण का कुछ न कुछ आधार होता है। चैतन्य एक गुण है। इम गुण का आश्रय शरीर, मन और इन्द्रिय नहीं हो सक्ती। अत इस गुण का आश्रय आत्मा है। चैतन्य आत्मा का स्वरूप गुण नही है। अपितु यह उसका आगन्तुक गुण है। आत्मा में चैतन्य का आविर्भाव तब होता है जब आत्मा का सम्पर्क शरीर इन्द्रियों और मन से होता है। साख्ययोग के मतानुसार चैतन्य आत्मा का स्वरूप लक्षण है।

२. जिस प्रकार कुल्हाडी का व्यवहार करने के लिये एक व्यक्ति की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार ऑख, कान, नाक आदि विभिन्न ज्ञानेन्द्रियों का उपयोग करने वाला भी कोई होना चाहिए।

३. प्रत्येक व्यक्ति को सुख-दु ख की अनुभूति होती है। इससे सिद्ध होता है कि सुख-दु ख किसी सत्ता के विशेष गुण हैं। सुख-दु ख पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, आकाश, मन, दिक् और काल के गुण नहीं हैं। अत सुख-दु ख आत्मा ही के विशेष गुण हैं।

४. नवजात शिशु जन्म के साथ ही साथ हॅसता और रोता है। नवजात शिशु की ये अनुभूतियॉ सिद्ध करती हैं कि इस जीवन के पूर्व भी उसका अस्तित्त्व था। इससे आत्मा की सत्ता प्रमाणित होती है।

परमात्मा को ईश्वर कहा जाता है। ईश्वर की चेतना असीमित है जबकि जीव की चेतना सीमित है। वह पूर्ण है। वह दयावान् है। ईश्वर ने विश्व की सृष्टि की है। ईश्वर ने वेद की रचना की है। ईश्वर जीवात्मा को उनके कर्मो के अनुरूप सुख-दु ख प्रदान करता है। ईश्वर कर्मफल दाता है। ईश्वर के अस्तित्त्व को प्रमाणित करने के लिये वैशेषिक दर्शन में युक्तियों की व्याख्या हुई है। विश्व को कार्य मानकर इसके कारण की व्याख्या के लिये ईश्वर की स्थापना हुई है। ईश्वर के अस्तित्त्व को अदृष्ट नियम की व्याख्या के लिये भी माना गया है। ईश्वर अदृष्ट नियम का सचालक है। वैशेषिक श्रुति के आधार पर जो प्रमाणिक ग्रन्थ है, ईश्वर के अस्तित्त्व को प्रमाणित करता है। वैशेषिक का द्रव्य वर्गीकरण वस्तुवादी कहा जाता है क्योकि वह द्रव्यों की सत्ता को ज्ञाता से स्वतन्त्र मानता है। वैशेषिक का द्रव्य विचार अनेकवाद का समर्थन करता है, वैशेषिक द्रव्यों की सख्या अनेक

मानता है। द्रव्य नौ प्रकार के हैं- पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, आकाश, दिक् काल, मन और आत्मा। इसीलिये वैशेषिक के द्रव्य का वर्गीकरण अनेकवादी कहा जाता है।

२ **गुण**- केवल चक्षुरिन्द्रिय से ग्रहण किये जाने वाला गुण रूप है। वह शुक्ल (सफेद), नीला, पीत (पीला), रक्त (लाल), हरित (हरा), कपिश (कृष्ण-पीत) और चित्र (चितकबरा) के भेद से सात प्रकार का होता है। यह रूप पृथिवी, जल तथा तेजस् द्रव्यों में रहता है। इनमें से पृथिवी में पूर्वोक्त सातों रूप रहते है। न चमकने वाला श्वेत रूप जल में, और चमकीला श्वेत रूप तेजस् में रहता है।[1] अर्थात् गुण वह है (१) जो द्रव्य में समवेत है, (२) जो गुण से शून्य है (३) जो कर्म से शून्य है (४) जो सयोग और विभाग का साक्षात् कारण नही है और (५) जो अपने कार्य का असमवायि कारण है। गुण वैशेषिक दर्शन का दूसरा पदार्थ है। वैशेषिक दर्शन मे गुण चौबीस प्रकार के माने गये है-

१. रूप　　२. रस

३. गन्ध　　४. स्पर्श

५. सख्या　　६. परिमाण

७. पृथक्त्व　　८. सयोग

६. विभाग　　१०. परत्व

११. अपरत्व　　१२. गुरूत्व

१३. द्रवत्व　　१४. स्नेह

१५. शब्द　　१६. बुद्धि

१७. सुख　　१८. दु ख

१६. इच्छा　　२०. द्वेष

२१. प्रयत्न　　२२. धर्म

२३. अधर्म　　२४. सस्कार

उपर्युक्त चौबीस गुणों में भौतिक और मानसिक गुण सग्रहीत है। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द क्रमश अग्नि, जल, पृथ्वी, वायु, और आकाश के गुण हैं; ये गुण भौतिक कहे जाते हैं। इनके अतिरिक्त सुख-दु ख, बुद्धि, इच्छा, द्वेष आदि मानसिक गुण है। रूप एक विशेष गुण है जिसका

---

[1] त० स० - गुण लक्षण प्रकरणम्

प्रत्यक्ष सिर्फ चक्षु से होता है इसका निवास स्थान पृथिवी, जल और तेजस् है। श्वेत, नील, रक्त, पीत, हरित आदि विभिन्न प्रकार के रूप होते है। स्वाद एक विशेष गुण है, इसका प्रत्यक्ष रसना मे ही होता है। रस छ प्रकार को होता है- मधुर, कटु, तीता, कषाय, लवण और नमकीन। स्पर्श का प्रत्यक्ष केवल त्वचा से होता है। शीत, उष्ण तथा अशीतोष्ण स्पर्श के तीन प्रकार है। गन्ध भी एक विशेष गुण है इसका प्रत्यक्ष केवल नासिका के द्वारा होता है। इसका निवास स्थान केवल पृथ्वी है। गन्ध दो प्रकार का होता है- सुगन्ध और दुर्गन्ध। गन्ध अनित्य गुण है, शब्द भी रूप, रस, गन्ध, स्पर्श की तरह एक विशेष गुण है। इसका प्रत्यक्ष ज्ञान सिर्फ कान मे ही होता है।

दो पृथक रहने वाले द्रव्यों के मिलने से जो सम्बन्ध होता है उसे सयोग कहा जाता है। जैसे हाथ का कलम के साथ। सयोग तीन प्रकार का होता है-

१. **अन्यतर कर्मज**- यह सयोग दो द्रव्यों में से एक द्रव्य की गति के कारण उत्पन्न होता है। चिडिया का उडकर पहाड पर बैठे जाने से होने वाला सयोग इसका उदाहरण कहा जा सकता है।

२. **उभय कर्मज**- यह सयोग दोनों द्रव्यों की गति के कारण होता है। दगल मे दो पहलवानों का सयोग इसका उदाहरण कहा जा सकता है।

३. **सयोगज सयोग**- जब एक सयोग से दूसरा सयोग हो जाता है तो उस सयोग को सयोगज सयोग कहते हैं जैसे-हमारे हाथ मे जो कलश है उससे टेबुल का सयोग हो तो हमारे हाथ का टेबुल के साथ जो सम्बन्ध हो जाता है वह सयोगज सयोग कहा जाता है।

विभाग- सयोग का विपरीत है। यह दो सयुक्त द्रव्यों का अलग हो जाना कहा जाता है। चिडिया के उड जाने से उसका पहाड से जो सम्बन्ध विच्छेद होता है, उसे विभाग कहा जाता है। दूरत्व और अपरत्व क्रमश 'दूर' और 'निकट' प्रत्यय के अधार हैं। इनमें से प्रत्येक दो प्रकार के होते हैं- कालिक और दैशिक। किसी द्रव्य का वह गुण जिससे वह द्रव्यों से अलग पहिचाना जाता है, 'पृथक्त्व' कहलाता है। पृथकत्त्व विशेष से भिन्न है।

परिमाण- वह गुण है जिसके कारण बडे और छोटे का भेद दिखाई पडता है। चार प्रकार के परिमाण ये है- १. अणुत्त्व २. महत्त्व ३. लम्बाई ४ ओछापन। वस्तुओं की चेतना को बुद्धि कहा

गया है। ईश्वर में बुद्धि नित्य है, जीवात्माओं में बुद्धि अनित्य है। अनुकूल वेदना को सुख कहा जाता है, प्रतिकूल वेदना को दु ख कहा गया है। किसी वस्तु के प्रति अनुराग को 'इच्छा' कहते हैं किसी वस्तु के प्रति विरक्ति को 'द्वेष' कहते हैं आत्मा की चेष्टा को 'प्रयत्न' कहा गया है- (१) प्रवृत्ति अर्थात् किसी वस्तु को पाने का प्रयत्न (२) निवृत्ति अर्थात् किसी वस्तु से बचने का प्रयत्न (३) जीवन योनि प्रयत्न-अर्थात् प्राणधारणा की क्रिया, जैसे सास लेना आदि।

वस्तुओं का वह गुण जिसके कारण वे नीचे की ओर गिरती है 'गुरूत्व' कहा जाता है। 'द्रवत्व' बहने के कारण है। यह स्वीााविक रूप से जल दूध में पाया जाता है। स्नेह का अर्थ 'चिकनापन' है। इसके कारण द्रव्यों के कणों का परस्पर संश्लिष्ट हो जाना सम्भव होता है। वह गुण केवल जल में पाया जाता है।

सस्कार तीन प्रकार के माने गये है।

(१) **वेग**- वेग वह गति का कारण है जिसके कारण वस्तुये गतिमान होती है।

(२) **भावना**-इसके कारण किसी विषय की स्मृति होती है।

(३) **स्थिति स्थापकत्व**- इसके कारण चीजे छेड़ी जाने पर अपनी आरम्भिक अवस्था में वापस आ जाती है।

संख्या- सख्या एक साधारण गुण है। इसके कारण एक दो, तीन जैसे शब्दों का व्यवहार किया जाता है। धर्म से पुण्य का बोध होता है। अधर्म से पाप का बोध होता है। विहित कर्मो को करने से धर्म तथा निषिद्ध कर्मो को करने से अधर्म की प्राप्ति होती है। धर्म और अधर्म क्रमश सुख-दु ख के विशेष कारण हैं जीवात्मा धर्म के कारण सुख और अधर्म के कारण दु ख का भोग करती है। वैशेषिक के गुणों का वर्गीकरण सरलता के सिद्धान्त पर आधारित है। जो गुणसरल तथा मौलिक है उन्ही के चर्चा इन चौबीस गुणों के अन्दर की गई है।

कर्म- *कर्म का स्वरूप चलना अर्थात् 'क्रिया'।*[1] कर्म का अधार द्रव्य है। कर्म मूर्त द्रव्यों का गतिशील व्यापार है। मूर्त द्रव्य पाच है- पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और मन। कर्म का निवास इन्हीं द्रव्यों में होता है। कर्म का निवास सर्वव्यापी द्रव्यो में नहीं होता, क्योकि वे स्थान-परिवर्तन से शून्य है। कर्म

---

[1] त० सु० पृ० - ८०

द्रव्य का सक्रिय रूप है जबकि गुण का निष्क्रिय रूप है। कर्म निर्गुण है, गुण द्रव्य में ही आश्रित रहता है, कर्म में नही।

प्रशस्तपाद के अनुसार कर्म का होना कुछ उपाधियों के कारण बतलाया है जो निम्न है-

१. गुरुत्व- भारी द्रव्य पृथ्वी की ओर गिरते हैं। अत भारीपन कर्म का कारण होता है।

२. तरलता- तरल पदार्थो में गति दीख पडती है यही कारण है कि जल में गति है।

३. भावना- भावना के कारण जीवात्माओं में क्रियाशीलता होती है।

४. सयोग- सयोग के कारण भी गति का आविर्भाव होता है। छत से फेंकी जाने वाली गेंद का सयोग जब पृथ्वी से होता है तो कर्म होता है।

वैशेषिक द्वारा कर्म पाच प्रकार के माने गये है जो निम्नलिखित है-

- उत्क्षेपण- उत्क्षेपण उस कर्म को कहते हैं जिसके द्वारा वस्तु का सयोग ऊपर के प्रदेश से होता है। पत्थर का आकाश की ओर फेंकना इस कार्य का उदाहरण है।

- अवक्षेपण- अवक्षेपण उस कर्म को कहते हैं जिससे वस्तु का नीचे के प्रदेश से सयोग होता है। छत पर से नीचे की ओर पत्थर फेंकना अवक्षेपण है।

  वैशेषिक दर्शन में उत्क्षेपण तथा अवक्षेपण की ऊखल तथा मूसल का उदाहरण के द्वारा बतलाया गया है। हाथ की गति से मूलस ऊपर उठता है, यह उत्क्षेपण है। हाथ की गति से मूसल नीचे लाया जाता हे जिसके फलस्वरूप इसका सयोग ऊखल से ही होता है इस क्रिया को अवक्षेपण कहा जाता है। हवा की प्रभाव से धूल, पत्ते, कागज आदि का ऊपर जाना उत्क्षेपण है। आधी, तूफान, भूकम्प, आदि के फलस्वरूप पेड, पौधे, मकान आदि का गिरना अवक्षेपण के उदाहरण है।

- आकुचन- आकुचन सिकोडना है। यिह वह क्रिया है जिसके द्वारा वस्तु के अवयव एक दूसरे के निकट आ जाते है। हाथ-पैर मोडना आकुचन का उदाहरण है।

- प्रसारण- प्रसारण का अर्थ फैलाना है। इस कर्म के द्वारा वस्तु के अवयव एक दूसरे से दूर हो जाते है। मुडे हुए कागज को पहले जैसा कर देना इस कर्म का उदाहरण है। मोडें हुए हाथ, पैर, वस्त्र आदि को फैलाना प्रसारण का उदाहरण है।

- गमन- ऊपर बताये गये चार प्रकार के कर्म के अतिरिक्त और जितनी भी गत्यर्थक क्रियाये है। वे गमन के अन्तर्गत आ जाती है जैसे चलना, दौडना आदि। भ्रमण, आग की लपट का ऊपर की ओर उठना, बालक का दौडना इत्यादि गमन के विविध रूप है।

वैशेषिक दार्शनिक भ्रमण, रेचन, स्यन्दन, ऊर्ध्वज्वलन और वक्रगमन को स्वतन्त्र प्रकार के कर्म न मानकर गमन के ही विभिन्न रूप मानते है।

सामान्य- जो नित्य और एक हो तथा अनेक व्यक्तियों में अनुगत हो अर्थात् अनुवृत्ति प्रत्यय का हेतु हो, वह सामान्य है वह द्रव्य गुर्ण कर्म में रहता है।[1] तात्पर्य यह है कि सामान्य वैशेषिक दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण पदार्थ है। हम दस पुस्तकें पढते है। प्रत्येक पुस्तक में कुछ न कुछ विशेषता अवश्य है। इस विशेषता के कारण एक पुस्तक दूसरी पुस्तक से, व्यक्तिगत रूप में, सर्वथा भिन्न है किन्तु इस वैयक्तिक भिन्नता के बावजूद हम सभी को पुस्तक कहते है। इससे यह सिद्ध है कि जहाँ एक ओर सभी पुस्तकों में परस्पर भिन्नता है। वहीं दूसरी ओर सबमें पारस्परिक अभिन्नता भी है। तभी तो हम सबकों पुस्तक कहते हैं। इसे ही अनुवृत्ति प्रत्यय कहा जाता है। जिसके आधार पर हमें यह अनुवृत्ति प्रत्यय होता है वहीं सामान्य है।[2] इसे ही जाति, सत्ता भाव आदि भी कहते है।

सामान्य के दो भेद माने गये है- **परसामान्य और अपर सामान्य।**[3] वैशेषिक यह मानते है कि द्रव्य, गुण और कर्म में समान रूप से एक सामान्य-'सत्ता'- रहती है। जिसके चलते ही 'द्रव्य सत्', 'गुणा सत्' और 'कर्म सत्' ऐसा अनुभव अनुवृत्ति प्रत्यय होता है।[4] इस सत्ता के अधार पर हम द्रव्य, गुण और कर्म को परस्पर भिन्न सिद्ध नही कर सकते है।[5] इसलिये यह सत्ता मात्र अनुवृत्ति प्रत्यय के कारण होने से सामान्य कहलाती है।

भारतीय विचारधार में सामान्य के सम्बन्ध में तीन मत हो गये है-

१. नामवाद- इसके अनुसार व्यक्ति से स्वतन्त्र सामान्य की सत्ता नही है। सामान्य एक प्रकार का नाम है, सामान्य व्यक्तियों का सर्वनिष्ठ आवश्यक धर्म न होकर सिर्फ नाममात्र है। गाय को गाय

---

[1] त० स० पृष्ठ - ८१
[2] प० ध० स०, पृ० - २६
[3] प० ध० स०, पृ० -२६
[4] वै० सू० १/२/७-१७
[5] वै० द० पृ० २१८-२१६

कहलाने का यह कारण नही है कि सभी गायों में सामान्य और आवश्यक गुण 'गोत्व' निहित है, बल्कि गाय को गाय कहलाने का कारण यह है कि वह अन्य जानवरों- जैसे घोडा, हाथी, भैस इत्यादि-से भिन्न होती है। व्यावहारिक जीवन को सफल बनाने के लिये भिन्न-भिन्न वर्गो के व्यक्तियों का अलग-अलग नामकरण किया गया है। इस मत में सामान्य की सत्ता का निषेध हुआ है। इस मत का समर्थक बौद्ध दर्शन को कहा जाता है।

२. प्रत्ययवाद- सामान्य के सम्बन्ध में दूसरा मत प्रत्ययवाद है। इस मत के अनुसार सामान्य प्रत्यय मात्र है। प्रत्यय का निर्माण व्यक्तियों के सर्वनिष्ठ आवश्यक धर्म के आधार पर होता है। इसीलिये इस मत के अनुसार व्यक्ति और सामान्य अभिन्न हैं। सामान्य व्यक्तियों का आन्तरिक स्वरूप है जिसे बुद्धि ग्रहण करती है। इस मत के समर्थक जैन और अद्वैत-वेदान्त दर्शन हैं।

३ वस्तुवाद- सामान्य के सम्बन्ध में तीसरा मत वस्तुवाद कहा जाता है। इस मत के अनुसार सामान्य की स्वतन्त्र सत्ता है। सामान्य व्यक्तियों का नाममात्र अथवा मानसिक प्रत्यय न होकर यथार्थवाद है। इसी कारण इस मत को वस्तुवादी मत कहा जाता है। इस मत के समर्थक न्याय और वैशेषिक दर्शन कहे जाते हैं। न्याय-वैशेषिक में सामान्य की विशेषताओं को इस प्रकार कहा गया है- "नित्यमेकमनेकानुगत सामान्यम्।" अर्थात् सामान्य नित्य, एक और अनेक वस्तुओं में समाविष्ट है। मनुष्य का सामान्य गुण मनुष्यत्त्व और गाय का सामान्य गुण गोत्त्व होता है।

सामान्य गुण से भिन्न है। गुण का नाश होता है जैसे गुलाब की गुलाबी गुलाब के नष्ट होने के साथ ही समाप्त हो जाती है। परन्तु सामान्य नित्य है, सामान्य का क्षेत्र गुण के क्षेत्र से व्यापक है। गुण के अतिक्ति द्रव्य और कर्म में भी सामान्य निवास करता है। सामान्य को गुण मान लेने से द्रव्य और कर्म इसके क्षेत्र से बाहर हो जायेगे अत सामान्य गुण से पृथक् है। सामान्य पाश्चात्य दर्शन के शब्द में 'Exist'नही करता है, अपितु 'Subsist'करता है। उसमें सत्ताभाव है, अस्तित्त्व नहीं।

वैशेषिक के मतानुसार सामान्य के तीन भेद होते है- १. पर २. अपर ३. परापर। 'पर' सामान्य उस सामान्य को कहा जाता है जो अत्यधिक व्यापक है। पर सामान्य का अर्थ है सबसे बडा सामान्य। सत्ता 'पर' सामान्य का उदाहरण है इस सामान्य के अन्दर सभी सामान्य समाविष्ट है। सबसे छोटे सामान्य को अपर सामान्य कहा जाता है। इस सामान्य का उदाहरणा घटत्व है यह

सामान्य घट में सीमित होने के कारण 'अपर' है। बीच के सामान्य को परापर सामान्य कहा जाता है। इस सामान्य का उदाहरण द्रव्यत्व है।

विशेष– नित्य द्रव्यों में रहने वाले उनके भेदक तत्त्वों को 'विशेष' कहते हैं।[१] विशेष पदार्थ वैशेषिकों का स्वतन्त्र पदार्थ है। अन्य दार्शनिक इसे नहीं मानते। प्राचीन नैयायिकों ने जो इसे माना है वह वैशेषिकों से लेकर ही। तात्पर्य यह है कि नित्य द्रव्य की वह विशिष्टता है जिससे वह अन्य नित्य द्रव्यों से पहचाना जाता है। दिक्, काल, आत्मा, मन, पृथ्वी, वायु, जल और अग्नि के परमाणुओं की विशिष्टता की व्याख्या के लिये विशेष को अपनाया जाता है। ये द्रव्य निरवयव हैं। अत इन द्रव्यों को एक दूसरे से अलग करना कठिन जान पडता है। इतना ही नहीं, एक प्रकार के विभिन्न द्रव्यों को भी एक दूसरे से अलग करना कठिन जान पडता है। विशेष पदार्थ को सूत्रकार कणाद ने 'अन्त्य' कहा है।[२] यही इसका स्वरूप है। अन्त्य शब्द की व्याख्या में वैशेषिक आचार्यो में मतभेद है। प्राचीन भाष्यकार आत्रेय[३] प्रशस्तपाद[४] तथा वृत्तिकार[५] आदि अन्त्य शब्द के अन्तर्गत अन्त शब्द का अर्थ नित्य द्रव्य और अन्त्य शब्द का 'नित्य द्रव्य में रहने वाला' मानते है। किन्तु अन्त शब्द का उपर्युक्त अर्थ अत्यन्त अस्वाभाविक है। इसलिये उदयनाचार्य आदि ने इसका अर्थ अन्तिम किया है।[६] इसका तात्पर्य यह है कि विशेष पदार्थ व्यावर्त्तक तत्त्वों में अन्तिम है। इसके बाद कोई दूसरा व्यावर्त्तक तत्त्व नही रह जाता, अतएव यह **'स्वतोव्यावृत्त'** है।[७] समन्वयात्मक दृष्टि से नित्य द्रव्य मात्र में वर्त्तमान स्वतोव्यावृत्त तत्त्व विशेष है।

वैशेषिक ने विशेष को एक स्वतन्त्र पदार्थ माना है। उनका कहना है कि विशेष उतना ही वास्तविक है जितना कि आत्मा या अन्य पदार्थ जिनमें वह निवास करता है। यदि नित्य द्रव्यों की सत्ता है तब उन द्रव्यों को पृथक् करने वाला गुण भी वास्तविक है। विशेष को अलग पदार्थ मानने का दूसरा कारण अन्य पदार्थो से इसकी भिन्नता है। यह द्रव्य, गुण, कर्म और सामान्य से भिन्न है। अत विशेष को स्वतन्त्र पदार्थ मानना युक्तियुक्त है।

---

[1] *'नित्य द्रव्यवृत्तयो व्यावर्तका विशेषा।'* - तर्क स० पृ० ८३

[2] वै० सू० १/२/६

[3] नि० वृ० १/२/६

[4] पदार्थ धर्म सग्रह पृष्ठ ७६५-७६६

[5] उप० १/२/६

[6] किरणावली, पृ० १२६

[7] मुक्ता० कारि० १०

समवाय-

नित्य सम्बन्ध को 'समवाय' कहते हैं।[1] यह अयुतसिद्ध पदार्थो में रहता हैं। जिन दो पदार्थो में से एक नष्ट न होने तक दूसरे के आश्रित रहता है, वे दोनों 'अयुतसिद्ध' कहे जाते हैं। जैसे 'अवयव और अवयवी', 'गुण और गुणी' क्रिया और क्रियावान्, जाति और व्यक्ति तथा विशेष और नित्य द्रव्य।

समवाय की सत्ता के समर्थन में प्रमाण के बारे में न्याय-वैशेषिक मत परस्पर भिन्न है। न्याय दर्शन के अनुसार प्रत्यक्ष-योग सम्बन्धियों के बीच वर्त्तमान समवाय का सयुक्त-विशेषणता आदि सन्निकर्ष से, अभाव की तरह प्रत्यक्ष भी हो सकता है।[2] किन्तु प्रत्यक्ष योग्य सम्बन्धियों के बीच का समवाय अनुमान गम्य होता है। वैशेषिक इस दृष्टि से सहमत नहीं। इनके मत में समवाय का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता यह तो एक अतीन्द्रिय पदार्थ है। चूँकि समवाय के साथ इन्द्रिय का साक्षात् सम्बन्ध नहीं बन सकता, इसलिये इसका प्रत्यक्ष असम्भव है। इसके मूल में यह रहस्य है कि सम्बन्धात्मक होने के कारण समावाय का सम्बन्धियों के साथ कोई दूसरा सम्बन्ध सयोग या समवाय नहीं हो सकता। सयोग इसलिये नहीं है कि सयोग विभाग की पूर्वकल्पना करता ही है; चूँकि विभाग दो द्रव्यों का ही सम्भव है इसलिये सयोग भी दो द्रव्यों के बीच ही होता है। समवाय द्रव्य नहीं है। अत इसका सम्बन्धी के साथ सयोग नहीं हो सकता, यदि सम्बन्धी द्रव्य हो तो भी। समवाय का सम्बन्धी के साथ समवाय मानने में अनवस्था सुस्पष्ट है। अतएव यह सिद्धान्त है कि सम्बन्धात्मक-वृत्त्यात्मक-समवाय स्वत अपने सम्बन्धी के साथ सम्बद्ध है, सम्बन्धान्तर के माध्यम से नही। हॉं एक प्रश्न अवश्य है कि सयोग वृत्तयात्मक होकर भी, समवाय की तरह स्वत अपने सम्बन्ध्यिों से सम्बद्ध न होकर समवाय सम्बन्ध से सम्बद्ध क्यों होता है। दो द्रव्यों के बीच का सयोग सम्बन्ध पदार्थ की दृष्टि से गुण होने के कारण समवाय सम्बन्ध से अपने सम्बन्धियों के साथ सम्बद्ध क्यो माना जाता है, जबकि सम्बन्धात्मक समवाय दूसरे सम्बन्ध के बिना ही अपने सम्बन्धियों से सम्बद्ध हो सकता हे। आचार्यो ने इसका समाधान इस प्रकार किया कि सयोग उत्पन्न होने वाला तत्व है उत्पत्ति का अर्थ उपादान कारण में उत्पन्न होने वाले कार्य का समवाय है अत सयोग में

---

[1] 'नित्य सम्बन्ध समवाय' - तर्क स० पृ० ८५

[2] प० ध० स० पृ० ७७३-७७५

अपने सम्बन्धियों-उपादान कारणों में समवाय होना अनिवार्य है। किन्तु 'समवाय' 'नित्य'-पदार्थ है। इसकी उत्पत्ति नही होती, अत सम्बन्ध होने की दृष्टि से समान होने पर भी, सयोग का सम्बन्धियो के साथ समवाय होने पर भी नित्य-समवाय का अपने सम्बन्धियों के साथ कोई दूसरा सम्बन्ध नही माना जा सकता। समवाय की नित्यता मात्र इसी से सिद्ध है, इसका उत्पादक कारण नही है। अत इन्द्रियों का सयोग आदि सन्निकर्ष समवाय के सम्बन्धियों तक सीमित है, समवाय तक नहीं सन्निकर्ष के बिना इन्द्रिय द्वारा समवाय का प्रत्यक्ष मानना तो सर्वथा असम्भव है। इसीलिये वैशेषिकों नें समवाय को अनुमेय माना है प्रत्यक्ष नहीं।

जिस तरह स्वत विशेषण या विशेष्य के रूप मे अपने आधार के साथ सम्बन्ध रखने वाले योग्य अभाव का वैशेषिक भी सयुक्त विशेषणता आदि से प्रत्यक्ष मानते है उसी तरह स्वत सम्बद्ध समवाय का भी सयुक्त विशेषणता आदि सन्निकर्ष से प्रत्यक्ष क्यों नही हो सकता? प्रशस्तपाद के व्याख्याकार व्योमशिव ने इस प्रश्न का यह समाधान किया है कि पूर्वज्ञान अर्थात् पूर्व-प्रत्यक्ष-विशेषण ही विशिष्ट ज्ञान यानी प्रत्यक्षात्मक ज्ञान का विषय हो सकता है। चूँकि समवाय की ऐसी स्थिति नहीं है 'द्रव्य रूप के समवाय से सम्पन्न है', इस विशिष्ट ज्ञान से पूर्व समवाय का स्वतन्त्र रूप में प्रत्यक्ष नहीं हुआ रहता है, इसलिये सयुक्त विशेषणता आदि सन्निकर्ष से समवाय का विशिष्ट प्रत्यक्ष भी नही हो सकता। अत समवाय अतीन्द्रिय है। इसका अस्तित्व अनुमान-गम्य है।[1]

अनुमान इस प्रकार है जब हम यह अनुभव करते है कि 'टेबुल पर पुस्तक है' तो टेबुल और पुस्तक के बीच आधाराधेय-भाव-सम्बन्ध ज्ञात होता है। इस आधाराधेय भाव के मूल में एक सयोग, टेबुल और पुस्तक के बीच, अवश्य है। इसी तरह जब हम 'तन्तुओं में पट (वस्त्र) है' आत्मा में सुख है इत्यादि अनुभूतियों में तन्तु पट तथा आत्मा-सुख के बीच अधाराधेय भाव का ज्ञान प्राप्त करते हैं तो हमें यह मानना होगा कि इस आधाराधेय भाव के मूल में भी कोई सम्बन्ध काम करता ही होगा, वह सम्बन्ध सयोग नही हो सकता, क्योंकि सयोग परस्पर विभक्त होने की क्षमता रखने वाले तत्त्वों अर्थात् द्रव्यो के बीच ही हो सकता है। जबकि तन्तु-पर, आत्मा सुख परस्पर विभक्त नहीं किये जा सकते। पट को तन्तुओं से अलग करना तथा सुख को आत्मा से अलग करना सम्भव नहीं है। पर कोतन्तुओं से और सुख से आत्मा को यदि अलग किया भी जाय तब भी

---

[1] व्योम० पृ० ६६६

सयोग की स्थिति नहीं आती है, क्योकि सयुक्त पदार्थो अर्थात् टेबुल और पुस्तक को अलग-अलग कर देने पर भी दोनों की सत्ता बनी रहती है। किन्तु तन्तुओं और आत्मा को पट और सुख से अलग कर दिये जाने पर पट और सुख का नाश अनिवार्य हो जाता है। इन सब कारणों से तन्तु-पट, आत्मा-सुख आदि के आधाराधेय भाव के मूल में सयोग सम्बन्ध के अभाव के सुस्पष्ट हो जाने से एक अन्य सम्बन्ध स्वीकार करना पडता है यही सम्बन्ध वैशेषिक का समवाय है।[1]

यह समवाय सर्वत्र एक ही है। तन्तु-पट का समवाय, आत्मा-सुख के समवाय से भिन्न नहीं है। रूप और द्रव्य का 'समवाय' स्पर्श और द्रव्य के समवाय से भिन्न नहीं है। केवल सम्बन्धियों के भिन्न-भिन्न होने के कारण भिन्न-भिन्न रूप में एक ही समवाय अभिव्यक्त होता है।[2] वायु में स्पर्श का समवाय है, इसलिये रूप का समवाय भी है, किन्तु रूप के अभाव में वायु में रूप का समवाय अभिव्यक्त नही हो पाता। इसीलिये वायु में रूप का प्रत्यक्ष भी नही होता।[3] सत्ता के समान यह नित्य भी है।[4]

किन्तु रघुनाथ शिरोमणि आदि कुछ नव्य नैयायिक एक समवाय के सिद्धान्त को नही मानते।[5] इनके मत में प्रभाकर के[6] अनुसार ही, समवाय अनेक है तथा सम्बन्धी की नित्यता और अनित्यता के आधार पर नित्य एव अनित्य भी है। किन्तु अन्य दार्शनिकों ने समवाय नामक तत्त्व की बडी कटु आलोचना की है।[7] वे समवाय नही मानते।

---

[1] मुक्ता० कारि० ११

[2] प० ध० स० पृ० ७७७-७८३

[3] मुक्ता०, कारि० ।।, उप०, ७/२/२६

[4] उप० ७/२/२६

[5] दिनकरी, पृ० ६७

[6] उप० ७/२/२८

[7] ब्रह्मसूत्र- शाकर भाष, २/२/१३

आर्ष सांख्य, सांख्य दर्शन और उसके भेद

आर्ष साख्य

आर्ष साख्य निरीश्वरवादी है। क्योकि प्रकृति स्वय ही सृष्टि निर्माण करती है। उसे प्रेरित करने के लिये किसी ईश्वर की सत्ता अपेक्षित नहीं। प्रकृति में सयृष्ट्यनुकूला क्रिया के लिये केवल पुरुष (आत्मा) का सान्निध्य ही पर्याप्त है। प्रकृति और पुरुष का अपेक्षित सयोग सृष्टि का कारण है और वह ईश्वर के बिना भी सिद्ध है क्योकि प्रकृति को अपने में योग्यता सम्पादनार्थ पुरुष की अपेक्षा है क्योकि **'सत्त्व पुरुषान्मता ख्याति'** रूप विवेक प्रकृति का ही धर्म है। अर्थात् (अबाधित) मिथ्याज्ञान शून्य विवेक ख्याति (ही) हान का उपाय है।[1] इस प्रकार प्रकृति व पुरुष दोनों को पारस्परिक अपेक्षा है और यह अपेक्षित सयोग ही सृष्टि का कारण है। जैसे ईश्वर कृष्ण के अनुसार-पुरुष के द्वारा प्रधान का दर्शन, तथा प्रधान के द्वारा पुरुष का कैवल्य सम्पन्न होने के लिये पगु और अन्ध के समान दोनों का सयोग होता है जिससे सृष्टि होती है।[2]

अत सृष्टि निर्माण में प्रेरक रूप से प्रकृति को किसी ईश्वर की अपेक्षा नही है जैसा कि अन्य दर्शन मानते है। इसलिये साख्यदर्शन ईश्वराऽसिद्धे[3] अर्थात् ईश्वर असिद्ध है।

यद्यपि सेश्वर साख्य को मानने वाला योगदर्शन क्लेश कर्म **"विपाकाशयैरपरामृष्ट पुरुषविशेष ईश्वरः।"**[4] इस रूप से ईश्वर की सत्ता का अगीकरण करता है। परन्तु वह भी सृष्ट्यर्थ प्रकृति के प्रेरक रूप में नही अपितु ईश्वरवाचक प्रणव के जाप तथा उसके अर्थ की भावना एव ईश्वर प्रणिधान द्वारा चित्तशुद्ध्यर्थ ही उसकी सत्ता स्वीकार करता है। इसी तथ्य का विवेचन योग दर्शन में- 'तस्य वाचक प्रणव ,[5] 'ईश्वर प्रणिधानाद्वा',[6] तज्जपस्तदर्थ भावनम्'[7] इत्यादि सूत्रों के द्वारा किया गया है।

पौराणिक साख्य प्रकृति के प्रेरक रूप सें ईश्वर की सत्ता मानता है वहाँ प्रकृति का उद्भव भी परमात्मा से ही बताया गया है। जैसा कि सृष्टिकाल में सर्वव्यापी समस्त प्राणियों का स्वामी

---

[1] "विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपाय "- योगदर्शन साधन पाद- २६

[2] पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य।
षङ्न्वन्यवदुभयोरपि सयोगस्तत्कृत सर्ग।। सा० का० - २१

[3] साख्य दर्शन १/६२-६३

[4] योगदर्शन - १/२४

[5] योगदर्शन - १/२७

[6] यो० द० - १/२३

[7] यो० द०- १/२८

सर्वात्मा परमेश्वर अपनी इच्छा से प्रधान तथा पुरुष में प्रविष्ट होता है और प्रकृति में क्षोभ उत्पन्न करता है।[1] इसी प्रकार पौराणिक वचन से प्रधान तथा पुरुष का वियोग करने वाला परम ईश्वर ही है।[2] कूर्म पुराण में भी प्रकृति के क्षोभ विषयक साम्य प्रतिपादक वर्णन प्राप्त होता है। आर्ष साख्य में सृष्टि प्रक्रिया में केवल २४ तत्त्वों का ही निरूपण मात्र हैं। वहा पचतन्मात्राओं से पच विशेष (स्थूल) भूतों की उत्पत्ति बतलाकर उन पच विशेष भूतों से ग्रह नक्षत्रादि तथा देवासुर तिर्यक मानवादि की सृष्टि का निरूपण नही किया गया है किन्तु पोराणिक साख्य में विशेष स्थूल भूतों की उत्पत्ति के पश्चात् महान् अहकार तथा विशेष भूतों से एक अड उत्पन्न होता है और उस अण्ड में प्रतिष्ठित विराट् पुरूष जिसे कि ब्रह्मा, नारायण, शरीरी आदि शब्दों से पुराणों में व्यवहृत है और जो सकल देवासुर मानव सृष्टि का निर्माण करता है और उसका निरूपण पुराण वचनों में है।[3]

इसी प्रकार का निरूपण वायु, विष्णु तथा भागवतादि पुराण में भी उपलब्ध होता है। पौराणिक साख्य की कतिपय विशेषताए है उन्हीं विशेषताओं के परिप्रेक्ष्य में ब्रह्मवैवर्त पुराण के साख्य का वर्णन यहाँ हुआ है ब्रह्मवैवर्त पुराण में अन्य पुराणों के तुल्य पौराणिक साख्य का विशद स्वरूप तो दृष्टिगोचर नही होता किन्तु सक्षेप में प्रसगान्तर वर्णन में साख्य की इन विशेषताओं का दिग्दर्शन उपलब्ध होता है। इस पुराण के तृतीय अध्याय में प्रभु श्रीकृष्ण ने विश्व को शून्य, निर्जन्तु, निर्जल निर्वात अन्धकारावृत्त, वृक्ष शैलादि से रहित, निस्सत्त्व, निस्तृण तथा घोर देखकर स्वेच्छा का विचार किया अर्थात् श्री कृष्ण से सृष्टि का आरम्भ नामक इस अध्याय में सौति ने कहा- द्विज! स्वेच्छामय प्रभु ने देखा कि गोलोक भयकर लग रहा है और विश्व शून्यमय, भयकर, जीव-जन्तुओं से रहित, जलविहीन, दारूण, वायुशून्य, अन्धकार से आवृत्त वृक्ष, पर्वत, एव समुद्र आदि से विहीन, विकृताकार,

---

[1] ततस्तु तत्पर ब्रह्म परमात्मा जगन्मय।
सर्वग सर्वभूतेश सर्वात्मा परमेश्वर।।
प्रधान पुरुषौ चापि प्रविश्यात्मेच्छया हरि।
क्षोभयामास सम्प्राप्ते सर्गकाले व्ययाव्ययौ।। - विष्णु पुराण - १/२८-२६

[2] वियोजयत्यथान्योन्य प्रधान पुरुषानुभौ।
प्रधानपुसोरनमोरेष सहार ईरित।। - पा० दर्शन व्यास भाष्य पृ० - २०६

[3] पुरुषाधिष्ठितत्वाच्च अव्यक्तानुग्रहेण च।
महदादयो विशेषन्ता ह्यण्डमृत्पादयन्ति हि।। - कूर्म पुराण - ३५ (पृ० ८१-८२)
हिरण्यगर्भ कपिल छनदोमूर्ति सनातनम्।
तस्मिन्नण्डऽभवद् विश्व सदेवासुर मानुषम्।। - कूर्म पुराण- ४१ (पृ० ८१-८२)

४ वायु अ० -४ श्लोक ६५-६७

५ वि० पु० १/२/५१-६१

६ भा० पु० - ३/२६/५१-५३

मृत्तिका, धातु, सस्य और तृण से रहित हो गया है। मन ही मन मब बातों की आलोचना करके सहायक रहित, एकमात्र प्रभु ने स्वेच्छा मे सृष्टि रचना आरम्भ की।[1]

तदनन्तर उस पुरुष के दक्षिण पार्श्व से ससार के कारणरूप मूर्तिमान तीन गुण[2] उत्पन्न हुए। सत्त्व, रज, तम, इन तीन गुणों से प्रकृति का ग्रहण है, क्योंकि प्रकृति गुणवय ममष्टिरूप है। इसलिये तत्त्वसमास सूत्र की व्याख्या भावा गणेश ने की।[3] ईश्वरकृष्ण ने भी प्रकृति के वर्णन में बताया है कि-सत्त्व हल्का अतएव प्रकाशक, रजस् प्रवृत्तिशील (चचल) अतएव उत्तेजक, एव तमस् भारी अतएव अवरोधक (नियामक) माना गया है। एक ही प्रयोजन की सिद्धि के लिये तीनों ही प्रदीप के ममान मिलकर कार्य करते है और सत्त्व इत्यादि गुण सुख-दु ख मोहात्मक है, प्रकाशन पर्वतन तथा नियमन इनके प्रयोजन या कार्य है। तथा ये एक-दूसरे के अभिभावक, आश्रय बनने वाले, उत्पादक (परिणाम-सहकारी) एव सहचारी होते हैं।[4] इससे सिद्ध होता है कि सत्त्वादि गुणत्रय का नाम ही प्रकृति है। विवेच्य पुराण में गुणत्रयात्मक प्रकृति से महान् महत्, मे अहकार, अहकार मे पचतन्मात्रा तथा उनसे रूप रसादि गुण वाले पचमहाभूतों की उत्पत्ति बताई गयी है।[5] इसके अनन्तर नारायण का प्रादुर्भाव निर्देशित है। यह नारायण वही है जिसे अन्य पुराण में विशेष भूतों की उत्पत्ति के पश्चात् महत् अहकार तथा पचभूतों से उत्पादित खण्ड में प्रादुर्भूत ब्रह्मा हिरण्यगर्भ व आदिशरीरी कहा गया है। इस प्रकार प्रकृति का स्वरूपनिरूपण तथा उससे उत्पन्न होने वाले महदादि मे उत्पन्न खण्ड में आर्विभूत नारायण का निरूपण है।

ब्रह्मवैवर्त पुराण के ब्रह्मखण्ड के तृतीय अध्याय में ही श्रीकृष्ण के शरीर से उत्पन्न दुर्गा को सर्वाधिष्ठातृ देवी तथा मूल प्रकृति बतलाकर उसी के मुख से निज स्वरूप बोधन कराते हुए उसको श्रीकृष्ण की शक्ति और उनसे उत्पन्न माना है[6] अर्थात् "प्रकृति के अनुसार-मै प्रकृति, ईश्वरी, सर्वेश्वरी, सर्वरूपिणी और सर्वशक्ति स्वरूपा कहलाती हूँ। मुझसे यह जगत् शक्तिमान है। आप इस

---

[1] *दृष्ट्वा शून्यमय विश्व गोलोक च भयकरम्। निर्जन्तुनिर्जल घोर निर्वात तमसाऽऽवृतम्।।* - १

[2] आविर्बभूवु सर्गादौ पुसो दक्षिणपार्श्वत। भवकारणरुपाश्च मूर्तिमन्तस्त्रयो गुणा।। - ब्र० वै० ब्र० ख० - ३/४

[3] साम्यावस्थेपलक्षित गुणा प्रकृति। - तत्त्व समास सूत्र पृष्ठ - १

[4] सत्त्व लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भक चल च रज। गुरुवरणकमेव तम, प्रदीपवच्चार्थतो वृत्ति।।
प्रीत्यप्रीतिविषादात्मका प्रकाशप्रवृत्ति नियमार्था। अन्योऽन्याभिभवाश्रय जननमिथुनवृत्तयश्च गुणा।। सा० का० - १३ १४

[5] ततो महानहकार पचतन्मात्र एव च। रुप रसगन्धस्पर्श शब्दाश्चैवेति सज्ञका।।
आविर्वभूव तत्पश्चात्स्वय नारायण प्रभु। श्यामो युवा पीतवासा बनमाली चतुर्भुज।। ब्र० वै० ब्र० ख० ३/५-६

[6] *अह प्रकृतिरीशाना सर्वेशा सर्वरूपिणी। सर्वशक्तिस्वरूपा च मया च शक्तिमज्जगत्।।*
त्वया स्रष्टा न स्वतन्त्रा त्वमेव जगता पति। गतिश्च पाता स्रष्टा च सहर्त्ताच पुनर्विधि।। ब्र० वै० ब्र० ख० ३/७७-७८

जगत् के स्वतन्त्र स्रष्टा नहीं है, किन्तु इसके पति, गति, रक्षक, स्रष्टा, सहारक एव पुन सृष्टि करने वाले है।।" गीता में भी श्रीकृष्ण को ही सृष्टि का उत्पादक कारण बताया गया है।[१]

इसी पुराण के ब्रह्मखण्ड के तीसवें अध्याय में पौराणिक साख्यानुसार यह निदर्शित है कि परमात्मा जगत् की उत्पादिका नित्य प्रकृति को उत्पन्न कर सृष्टि की रचना करता है,[२] अर्थात् वही परमेश्वर ब्रह्मा की सृष्टि करते है और वे ब्रह्मा जगत को उत्पन्न करने वाली उस नित्य प्रकृति की रचन्रा करके सृष्टि करते है। ब्रह्मखण्ड के २८वें अध्याय में आर्ष साख्य के अनुसार ब्रह्म तथा प्रकृति दोनों को नित्य तथा दोनों में सम प्राधान्य का प्रतिपादन किया है[3] अर्थात् वह परब्रह्म और प्रकृति नित्य है, क्योकि दोनों की प्रधानता समान है, ऐसा कुछ लोगों का कहना है। वहीं पर पौराणिक साख्य के तुल्य ब्रह्मा या ईश्वर प्रकृति की सहायता से सृष्टि का निर्माण करता है। उसका यह निर्माण कुलाल की मिट्टी से घटादि निर्माण तथा सुवर्णकार के आभूषणादि के सुवर्ण निर्माण सदृश है[४] अर्थात् मुने! जिस प्रकार कुम्हार मिट्टी द्वारा घडे बनाने में सदैव समर्थ रहता है उसी भॉति वह ब्रह्म प्रकृति द्वारा समस्त सृष्टि करने में समर्थ है जिस प्रकार सुनार सुवर्ण द्वारा कुण्डल आदि (भूषण) बनाने में सदैव समर्थ रहता है उसी भॉति वह ब्रह्म प्रकृति द्वारा सृष्टि करने में समर्थ है।

निष्कर्ष यह है कि आर्ष साख्य अचेतन प्रकृति से सृष्टि मानता है जबकि पौराणिक साख्य उसमें ईश्वर को ही कारण मानता है, क्योकि ईश्वर प्रकृति में सृस्ट्यनुकूल क्षोभ क्रिया को उत्पन्न करता है जैसा कि विष्णु पुराण में कहा गया है।[५] यद्यपि यह सिद्धान्त वेदान्त दर्शन से मेल खाता है। क्योकि वेदान्त सिद्धान्त में निर्गुण पुरुष प्रकृति या माया की सहायता से सृष्टि रचना में समर्थ होता हैं तथापि इस विषय में पौराणिक साख्य की वेदान्त सिद्धान्त से एकता है। अत. इसे पौराणिक साख्य का सिद्धान्त माना जा सकता है। जिस प्रकार औपनिषद साख्य में पुरुष को अव्यक्त (प्रकृति) से परे कहा है, उसी प्रकार इस पुराण में भी निर्गुण पुरुष को प्रकृति से परे बताया गया है।

---

[1] मयाध्यक्षेण प्रकृति सूयते सचराचरम। हेतुनानेन कौन्तेय जगाद्विपरिवर्तते।। - गीता ६/१०
[2] करोति सृष्टि स विधेर्विधाता विधाय नित्या प्रकृति जगत्प्रसूम्। - ब्र० वै० ब्र० ख० -३०/११
[3] नित्य तत्परम ब्रह्म नित्या च प्रकृति स्मृता। द्वयों समच प्राधान्यमिति केचिद्वदन्ति हि।। ब्र० ख० २८/३०
[4] यथा मृदा कुलालश्च घट कर्त्तु स्वर्णकार· क्षम यथा। तथा ब्रह्म तथा सार्धं सृष्टि कर्त्तुमिहेश्वर।। - ब्र० वै० ब्र० ख- २८/२७,२८
[5] प्रधान पुरुषों चापि प्रविश्यात्मेच्छया हरि।
क्षोमयामास सप्राप्ते सर्गकाले व्यायाऽव्ययौ।। - १/२/२८, २९

सांख्य दर्शन और उसके भेद

साख्य दर्शन भारत का सबसे प्राचीन दर्शन कहलाता है। इसकी प्राचीनता के अनेक प्रमाण उपलब्ध है जो कि श्वेताश्वर, कठोपनिषद् आदि उपनिषदों में देखने को मिलते हैं, इन उपनिषदों में साख्य के मौलिक प्रत्ययों जैसे- त्रिगुण, पुरूष, प्रकृति अहकार तन्मात्र इत्यादि। उपनिषद् के अतिरिक्त भगवद्गीता मे प्रकृति और पुरूष के भेद का विस्तारपूर्वक वर्णन हैं।

साख्य दर्शन के प्रणेता महर्षि कपिल माने जाते हैं। इनके सम्बन्ध में प्रामाणिक ढग से कुछ कहना कठिन प्रतीत होता है। कुछ लोगों ने कपिल को ब्रह्मा का पुत्र, कुछ लोगों ने विष्णु का अवतार तथा कुछ लोगों ने अग्नि का अवतार माना है, परन्तु यह तो हमें मानना ही पडेगा कि कपिल एक विशिष्ट ऐतिहासिक व्यक्ति थे जिन्होने साख्य दर्शन का प्रणयन किया।

साख्य दर्शन द्वैतवाद का समर्थक है। चरम सत्ताएँ दो है जिनमें एक को प्रकृति और दूसरी को पुरुष कहा जाता है पुरुष और प्रकृति एक दूसरे के प्रतिकूल है। साख्य प्रकृति से पूर्व अविद्यमान नवीन महदादि सर्ग की उत्पत्ति नहीं मानता अपितु प्रकृति में अव्यक्त रूप मे विद्यमान महदादि सर्ग का ही व्यक्तभाव मानता है। प्रकृति में विद्यमान अव्यक्त महदादि ही व्यक्त रूप से सृष्टि दशा में परिणत हो जाते हैं। अत प्रकृति के साथ इनका रूपान्तर अथवा परिणामरूप सम्बन्ध होने से साख्य दर्शन सृष्टि विषय में **'परिणामवाद'** को मानता है। साख्य दर्शन प्रकृति और पुरुष इन दो तत्वों की मौलिक सत्ता मानता है। इनमें पुरुष नित्य ज्ञानरूप, अकर्ता व नाना है तथा प्रकृति त्रिगुणात्मिका कत्री नित्य व एक है। इनमें प्रकृति अचेतन व जडतत्त्व है तथा पुरूष चेतन तत्त्व है।

सृष्टि की रचना प्रकृति से होती है तथा पुरूष से उसका कुछ सम्बन्ध नही है। इसीलिये पुरूष को अकर्त्ता कहा गया है। हॉ इतना अवश्य है कि पुरुष के सानिध्य से प्रकृति में सृष्ट्यनुकूला विक्षोभ क्रिया उसी प्रकार से उत्पन्न हो जाती है। जिस प्रकार अयस्कान्तमणि के सान्निध्य से अचेतन लौह में चलन क्रिया उत्पन्न हो जाती है। किन्तु पुरुष सृष्टि में किसी प्रकार कारण नहीं इसीलिये ईश्वरकृष्ण ने- प्रकृति से महत् या बुद्धि तत्त्व, महत् से अहकार और अहकार से पाच तन्मात्र तथा ग्यारह इन्द्रियॉ -इन सोलह तत्त्वों का समूह उत्पन्न होता है, इन सोलहों के समूह में अन्तर्भूत पाच

तन्मात्राओं से महाभूतों की उत्पत्ति बतायी है। अचेतन[1] प्रकृति में सृष्ट्यनुकूला क्रिया कैसे उत्पन्न हो सकती है, इसका समाधान भी ईश्वर कृष्ण ने बताया कि जैसे बछडे के पोषण के लिये अचेतन दूध में क्षरण क्रिया स्वत उत्पन्न हो जाती है ठीक उसी प्रकार से भोज्यापवर्ग के लिये अचेतन प्रकृति में सृष्ट्यानुकूला क्रिया स्वत उत्पन्न हो जाती है।[2]

सांख्य का सिद्धान्त-

साख्य दर्शन का लक्ष्य तीन प्रकार के दु खों की निवृत्ति करना है। दु ख तीन प्रकार का है, आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आदिदैविक जिन दु खों का उद्गम मनुष्य के व्यक्तित्त्व में होता है वे आध्यात्मिक कहलाते हैं। उनके शारीरिक और मानसिक दो भेद है। दूसरे जीवों (मनुष्य, पशु, सर्प आदि) से प्राप्त दु ख आधिभौतिक कहलाता है। भूत-प्रेत, ग्रहों आदि से होने वाला दु ख आधिदैविक है। इन दु खों का थोडा बहुत उपचार लौकिक प्रयत्नों से सम्भव है। किन्तु उनसे पूर्ण मुक्ति ज्ञान या विवेक द्वारा ही साध्य है। वास्तव में तीनों दु खों से मुक्ति की कामना ही दार्शनिक जिज्ञासा को जन्म देती है। साख्य के मत में दु ख-निवृत्ति तत्त्वज्ञान से सम्भव है, अर्थात् प्रकृति (अव्यक्त), पुरुष और व्यक्त के ज्ञान से। इन तीनों के परस्पर भेद और अभेद का ज्ञान दु ख की आत्यन्तिक निवृत्ति का उपाय है।

साख्य दर्शन के पच्चीसतत्त्वों में प्रकृति और उनके तेईस विकारों (जिन्हे व्यक्त कहते है) तथा पुरुष का समावेश है। व्यक्त तत्वों को विकृति भी कहते है। वास्तव में प्रकृति और विकृति दोनों सापेक्ष शब्द है, प्रकृति कारण होती है और विकृति उसका कार्य। कोई तत्त्व अपने कारण की अपेक्षा से विकृति और अपने परिणामभूत कार्य की अपेक्षा से प्रकृति कहलाता है, जिसे मूल प्रकृति कहते है वह किसी की विकृति नही है। महत्तत्त्व, अहकार और पॉच तन्मात्राऍ ये प्रकृति और विकृति दोनों हैं। पॉच महाभूत, दस इन्द्रियॉं और मन केवल विकृति है ये नये तत्त्वों को उत्पन्न नहीं करते, इसलिये प्रकृति नहीं कहलाते। पुरुष न प्रकृति है, न विकृति। साख्यकारिका के अनुसार प्रकृति के परिणाम से उद्भूत तत्त्व व्यक्त कहलाते हैं। व्यक्त हेतुवाला अतएव अनित्य है, अव्यापी अर्थात् अपने सम्पूर्ण

---

[1] प्रकृतेर्महास्ततोऽहकारस्तस्माद् गणश्च षोडशक ।
तस्मादपि षोडशकात् पचभ्य पचभूतानि।। - सा० का० २२

[2] "वत्सविवृद्धि निमित्त क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य।
पुरुषविमोक्ष निमित्त तथा प्रवृत्ति प्रधानस्य ।। - सा का० ५७

कारण को, जिसका वह स्वय परिणाम है, व्याप्त न करने वाला है। प्रकृति महत् को पूर्णतया व्याप्त करती है किन्तु महत् पूरी प्रकृति को व्याप्त नहीं करता। व्यक्त सक्रिय है, अनेक है अपने कारण में आश्रित है और कारण में अनुमान कराने वाला (लिग या हेतु) है, अवयव वाला है, परतन्त्र अर्थात् अव्यक्त पर निर्भर रहने वाला है। प्रकृति इन सब बातों में व्यक्त से विरूद्ध धर्मवाली है।[1]

व्यक्त और अव्यक्त दोनों सत्त्व, रजस् और तमस् गुण वाले हैं। वे अविविक्त है (अर्थात वे पृथक् नही किये जा सकते, व्यक्त तत्त्व अव्यक्त से अलग नही हैं और अव्यक्त या प्रधान अथवा प्रकृति भी स्वय में विविक्त नहीं है) व्यक्त और अव्यक्त दोनों (ज्ञान के) विषय में सामान्य हैं, अर्थात् अनेक पुरूषों द्वारा ग्रहण-योग्य है, अचेतन है और प्रसवधर्मी हैं, अर्थात् निरन्तर सरूप या विरूप समान या विषम परिणाम (कार्य) उत्पन्न करते रहते है इन सब बातों में पुरूष व्यक्त और अव्यक्त दोनों में विपरीत या भिन्न है।[2]

परिणामवाद-

कार्य-कारण के सम्बन्ध में साख्य का मत सत्कार्यवाद कहलाता है। यह सत्कार्यवाद परिणामवाद भी है। परिणाम का अर्थ है एक तत्त्व का दूसरे तत्त्व के रूप में वास्तविक परिवर्तन। परिणाम का अर्थ यहाँ उत्पत्ति नही, अपितु आविर्भाव है। कारणभूत तत्त्व मे जो अन्तर्निहित है और प्रकट नही हैं, कार्यभूत तत्त्व में वही प्रकट हो जाता है। इस प्रकार हम कह सकते है कि परिणाम क्रिया द्वारा अमूर्त से मूर्त का अस्पष्ट से स्पष्ट का, अव्यक्त से व्यक्त का या सूक्ष्म से स्थूल का आविर्भाव होता है। अवस्थित द्रव्य के एक धर्म की निवृत्ति और दूसरे धर्म का प्रादुर्भाव का नाम ही परिणाम है।[3] इसका तात्पर्य यह है कि कोई भी कार्य सूक्ष्म रूप में अपने कारण में विद्यमान रहता है जब उसका आविर्भाव होता है तब उसे घटित या उत्पन्न कहा जाता है। वस्तुत उसकी नयी सृष्टि नहीं होती, क्योकि द्रव्य के गुणों या धर्मो में ही कुछ अन्तर हो जाता है। गुण और द्रव्य में भेद भी है और अभेद भी अत कार्य भी अपने कारण से सर्वथा भिन्न नहीं होता। धर्म और धर्मी अवयव और अवयवी परस्पर सम्बद्ध है, उन्हे न तो सर्वथा अलग माना जा सकता है और न एक इसीप्रकार

---

[1] सा० का० - १०
[2] सा० का० - ११
[3] युक्तिदीपिका कारिका - ६

सामान्य और विशेष में भी भेदाभेद सम्बन्ध है, शक्ति ही सामान्य है और उस शक्ति की प्रवृत्ति ही विशेष या कार्य है।

प्रकृति से महत्तत्व (बुद्धि) उससे अहकार, उससे सोलह का समूह (अर्थात्) पाच ज्ञानेन्द्रियॉं, पाच कर्मेन्द्रियॉं , मन और पाच तन्मात्राए) उत्पन्न होता है। पाच-पाच महाभूतों से पॉंच महाभूत उद्भूत होते है।[1] महाभूतों से कोई नवीन तत्त्व उत्पन्न नही होता। इसलिये महत् अहकार और पाच तन्मात्राऐं प्रकृति-विकृति कहलाती है, जबकि ग्यारह इन्द्रियॉं और पाच महाभूत केवल विकृति है। मूल प्रकृति केवल प्रकृति है वह किसी ज्यादा मौलिक तत्त्व की विकृति नही है। पुरुष न प्रकृति है न विकृति वह न किसी ज्यादा मौलिक तत्त्व का परिणाम है न स्वय किसी तत्त्व को उत्पन्न करता है। वस्तुत पुरूष तीनों गुणों से रहित, निष्क्रिय, असग, और परिवर्तनहीन है। वह विशुद्ध चैतन्य-रूप है।

बुद्धि का विशिष्ट धर्म है अध्यवसाय (निश्चय करना) इसके अतिरिक्त धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य सत्त्वगुण प्रधान बुद्धि के धर्म हैं। तमोगुण प्रधान बुद्धि में इनके विपरीत धर्म रहते हैं। धर्म ज्ञान आदि मोक्ष की ओर ले जाने वाली विशेषताऐं हैं अणिमा आदि भी ऐश्वर्य बुद्धि के धर्म है।

अहकार अभिमान को कहते हैं। गुण भेद से अहकार तीन प्रकार का होता है। सत्त्वप्रधान अहकार को 'वैकृत' कहते हैं। रजोगुण-प्रधान अहकार तैजस कहलाता है और तमोगुण-प्रधान अहकार भूतादि कहलाता है। सात्त्विक (वैकृत) अहकार तैजस के साथ ग्यारह इन्द्रियों को उत्पन्न करता है। तामस अहकार या भूतादि तैजस के साथ मिलकर पचतन्मात्राओं को उत्पन्न करता है। राजस अहकार अकेला कुछ उत्पन्न नही करता। वस्तुत रजोगुण सब प्रकार की क्रियाओं का सामान्य कारण होता है। जिन्हें हम मन या चित्त की दशायें कहते है। वे प्रकृति का विकार हैं। चेतन पुरूष के सयोग या सन्निधि मात्र से वे सचेतन बन जाती है।

प्रकृति और पुरुष दो ही तत्त्वों को स्वीकार करने के कारण साख्य एक द्वैतवादी दर्शन है। यह दर्शन किसी सृष्टिकर्त्ता ईश्वर को स्वीकार नहीं करता।

---

[1] साख्यकारिका - २२

"प्रकृति और पुरुष का सम्बन्ध"

द्वैतवादी दर्शन की सबसे बडी कठिनाई स्वीकृत दो तत्वों के बीच सम्बन्ध का निरूपण है। साख्य दर्शन भी इस कठिनाई से मुक्त नही है। साख्य दर्शन किसी सृष्टिकर्त्ता ईश्वर को नहीं मानता। पुरुष की सन्निधि मात्र से किसी तरह प्रकृति की साम्यावस्था का भग और उससे परिणाम द्वारा तत्त्वो की सृष्टि होती है। इस प्रकार पुरुष और प्रकृति का सम्बन्ध लॅंगडे-अन्धे के मम्बन्ध के ममान है। निष्क्रिय होने से पुरुष लॅंगडा या गतिहीन है, उसी प्रकार प्रकृति अचेतन या अन्धी है। दोनों के मिल जाने से सृष्टि-कर्म होता है। प्रकृति का उद्देश्य है पुरुष द्वारा देखा जाना, पुरुष का उद्देश्य है कैवल्य। परस्पर दोनों एक दूसरे का उद्देश्य पूरा करते है।[1] जैसे ज्ञान या चेतनाशून्य दूध बछडे के पोषण के लिये गाय के शरीर से प्रस्त्रवित होता है वैसे ही ज्ञानशून्य (अचेतन) प्रकृति की विकृति (परिणमन क्रिया) पुरुष की मुक्ति के लिये है।[2] निष्क्रिय पुरुष प्रकृति के परिणमित होने या सृष्टि करने की प्रेरणा कैसे दे सकता है? कहा जाता है कि जैसे-चुम्बक पत्थर (अयस्कान्त मणि) स्वय गतिमान हुए बिना ही लोहे में गति पैदा कर देती है, वैसे ही पुरुष की सन्निधि मात्र से प्रकृति क्रियाशील हो जाती है।

पुरुष का विशेष सम्पर्क बुद्धि से रहता है। ग्यारह इन्द्रियॉं अहकार और बुद्धि मिलकर साख्य सम्मत तेरह कारण बनती है। इनमें मन और अहकार सहित बुद्धि, जो समस्त विषयों का अवगाहन करती है, या ज्ञान करती है, मुख्य है, बाकी इन्द्रियॉं गौण या अप्रधान है।[3] बुद्धि अहकार और मन की अपेक्षा से भी प्रधान है। बुद्धि सबसे सूक्ष्म है और इसलिये पुरुष की छाया उसके चैतन्य के आवेश को ग्रहण करती है। जैसे स्फटिक पत्थर समीप रखे हुए जपा कुसुम के रग का ग्रहण कर लेता है, वैसे ही बुद्धि पुरुष-चैतन्य की छाया ग्रहण करके पुरुष जैसी बन जाती है। ऐसी बुद्धि पुरुष के भोग को उत्पन्न करती है पुरुष के भोग को साधती है। तात्पर्य यह है कि बुद्धि के माध्यम से पुरुष त्रिगुणात्मक जगत् से भोक्ता या साक्षी के रूप में सम्बद्ध होता है। बाद में बुद्धि ही प्रकृति

---

[1] साख्यकारिका - २१
[2] साख्यकारिका - ५७
[3] साख्यकारिका - ३५

और पुरुष के भेद को पुरुष में साधती है। एक प्रकार से पुरुष और प्रकृति में भिन्नता हमेशा से सिद्ध है।

बुद्धि और पुरुष के सम्बन्ध को किस प्रकार निरूपित किया जाय, यही साख्य की समस्या है। पुरुष और लिग-शरीर अथवा पुरुष और बुद्धि का सम्बन्ध देशकाल मे घटित होने वाला सयोग नही है। वाचस्पति मिश्र सयोग का अर्थ सन्निधान करते है। बुद्धि और पुरुष के बीच और प्रकृति एव पुरूष कें बीच भी एक प्रकार का पूर्वस्थापित सामजस्य सा पाया जाता है, जिसके कारण वे एक-दूसरे का उपकार करते है। योग दर्शन में पुरुष और बुद्धि के सयोग का कारण अविद्या बतलायी गयी है और अविद्या को विपर्यय ज्ञान की वासना से समीकृत किया गया है।

यहॉं साख्य की स्थिति में एक तरह की दुविधा पायी जाती है। एक ओर वह पुरुष को असग मानता है और दूसरी ओर पुरुष और प्रकृति एव पुरूष और बुद्धि के बीच सम्बन्ध देखना चाहता है। साख्ययोग की दुविधापूर्ण स्थिति से बचने के लिये अद्वैत वेदान्त ने माया, अविद्या एव अध्यास के सप्रयत्नों का सहारा लिया। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि आत्मा का बन्धन उसमें अनात्मा के अध्यास के कारण है स्वय अध्यास अविद्याजन्य है। इस भेद के अतिरिक्त साख्य और वेदान्त दोनों ही मानते है कि पुरुष या आत्मा के बधन और मोक्ष वास्तविक नहीं हैं।

"कर्म-सिद्धान्त, पुनर्जन्म और मोक्ष"

अन्य आस्तिक दर्शनों की भॉति साख्य भी कर्म सिद्धान्त, पुनर्जन्म और मोक्ष को मानता है, किन्तु इन सबमें साख्य की अपनी मौलिक दृष्टि है। साख्य अच्छे बुरे कर्मो का सम्बन्ध सत्त्व, रजस् आदि गुणों से जोडता है। भगवद्गीता ने सात्त्विक, राजस और तामस आहार एव यज्ञ, दान आदि कर्म बतलाये गये हैं। ये सारे वर्णन साख्य का प्रभाव दर्शाते हैं, इसी प्रकार पुनर्जन्म की प्रक्रिया पर साख्य ने यह नवीन विचार दिया है कि एक स्थूल शरीर से दूसरे स्थूल शरीर में जाने वाली आत्मा नही, अपितु लिग-देह या लिग शरीर है।

साख्य के सात्त्विक मतानुसार पुरुष के बन्धन और मोक्ष वास्तविक नहीं हैं, वे एक प्रकार से पुरुष में आरेपित है। मेरा प्रकृति से वास्तविक सम्बन्ध नही है, मै वस्तुत बद्ध नही हूँ, यह तत्त्वज्ञान

ही मोक्ष है। एक प्रकार से यह तत्त्वज्ञान भी बुद्धि की वृत्ति है, किन्तु यह बुद्धि वृत्ति बुद्धि का अन्तिम व्यापार है जिसे अनुष्ठित करके बुद्धि और उसके साथ प्रकृति का सारा पसारा अपने को पुरूष से अलग कर देता है। वैसे साख्य मानता है कि प्रत्येक पुरूष के साथ बुद्धि, अहकार, मन आदि से गठित लिग शरीर अनादिकाल से सम्बन्धित है। यह सम्बन्ध अविवेक-मूलक है और विवेक से विघटित हो जाता है।

जड प्रकृति और चेतनपुरूष अत्यन्त भिन्न है, किन्तु साख्य योग के मत में सत्त्वगुण- प्रधान बुद्धि पुरूष से, प्रकाश गुण की अधिकता के कारण उतनी भिन्न नही रह जाती। दोनों में स्वच्छतामूलक समानता हो जाती है जिसके कारण वे एक दूसरे को प्रतिबिम्बित करते हैं। सत्त्वगुण-प्रधान बुद्धि में ही धर्मज्ञान, वैराग्य आदि गुणों की प्रतिष्ठा होती है। अणिमा आदि सिद्धियॉ भी बुद्धि का धर्म हैं। विवेक ज्ञान बुद्धि में ही उत्पन्न होता है। ' योगसूत्र' मे कहा गया है-

'सत्त्व पुरुषयोंः शुद्धि साम्ये कैवल्यम्।'[1]

जब रजस् और तमस् के हटने से बुद्धिसत्व शुद्धता में पुरुष के समान हो जाता है तब कैवल्य होता है। इस प्रकार की शुद्धि बुद्धि में सत्त्व और पुरुष की अन्यता का प्रत्यय मात्र रहता है और सारे क्लेश दग्धबीजों जैसे बन जाते है। इस प्रकार की बुद्धि केवल विवेकख्याति की वाहक होती है। यहॉ साख्य योग प्रकृति और पुरुष के द्वैत को काफी मृदुल बना देता है मुक्त होने पर पुरुष के लिग शरीर का, जो अनादिकाल से उससे सम्बद्ध रहा है विनाश हो जाता है।

सांख्य दर्शन के भेद-

साख्य दर्शन के भी आर्ष साख्य, योग सांख्य, राज साख्य और पुराण साख्य भेद से चार भेद हैं।[2] उनमें पौराणिक साख्य का प्रधानतया निरूपण पुराणों में उपलब्ध होता है। आर्य साख्य नाम से प्रसिद्ध प्रचलित साख्य दर्शन तथा पौराणिक साख्य में कतिपय मौलिक भिन्नताए हैं।

आर्ष सांख्य पर पर्याप्त साख्य दर्शन प्रकृति को स्वतन्त्र मानता है, जबकि पौराणिक साख्य उसे वेदान्तियों की माया के सदृश परतन्त्र ईश्वर की शक्ति मानता है अर्थात् वह सनातनी नारायणी,

---

[1] योगदर्शन विभूति पाद - ५५

[2] आर्ष साख्य योगिसाख्य राजसाख्य च चक्षते।
पुराण साख्यमित्येव प्राधानिक-चतुष्टयम्।। - दशवाद रहस्य पृष्ट - ३

परमात्मा पुरुष की परमाशक्ति है, जिससे वे आत्मेश्वर शक्तिमान् कहे जाते हैं और उस (माया) के बिना वे सृष्टि करने मे असमर्थ भी रहते हैं[1] अर्थात आप इस जगत् के स्वतन्त्र स्रष्टा नहीं है, किन्तु इसके पति, गति, रक्षक, स्रष्टा सहारक एव पुन सृष्टि करने वाले हैं।[2]

पौराणिक साख्य पचतन्मात्राओं तथा एकादश इन्द्रियों की उत्पत्ति आर्ष माख्य के तुल्य महत्तत्व से ही मानता है। किन्तु इसकी उत्पत्ति में दोनो में परस्पर विलक्षणता है। आर्ष साख्य तामस अहकार से तम प्रधान शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध इन सूक्ष्म तन्मात्राओं की उत्पत्ति मानता है तथा सात्त्विक अहकार से श्रोत्र, त्वक्, चक्षु रसना, घ्राण इन ज्ञानेन्द्रियों की और वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थरूप, कर्मेन्द्रियों की एव उभयात्मक मन की उत्पत्ति मानता है, और राजस अहकार को तम प्रधान अहकार से हाने वाली एकदशेन्द्रियोत्पत्ति में तामस व सात्त्विक अहकार का सहकारी मानता है। साख्यकारिका के अनुसार 'मै'- इस प्रकार के अभिमान को 'अहकार' कहते है। उससे दो ही प्रकार के कार्य होते है। एक तो ग्यारह इन्द्रियों समुदाय और दूसरा पॉच तन्मात्राओं का।[3]

इसीप्रकार सात्त्विक अहकार से ग्यारह इन्द्रियों का सात्त्विक गण उत्पन्न होता है। तामस अहकार से पचतन्मात्राओं का तामस गण उत्पन्न होता है। राजस अहकार से दोनों ही उत्पन्न होते हैं।[4]

कारिका में 'भूतादि' शब्द तामस अहकार का और वैकृत शब्द सात्त्विक अहकार का बोधक हैं। पौराणिक साख्य इसके विपरीत तन्मात्राओं की उत्पत्ति अहकार से बतलाया है जैसा कि विष्णु पुराण में निरूपित किया गया है।[5]

पौराणिक साख्य के सन्दर्भ में विष्णु पुराण में और भी उद्धरण प्राप्त होते है।[6] विष्णु पुराण के अतिरिक्त कूर्म पुराण में भी इसी तथ्य को निरूपित किया गया है।[7] श्रीमद्भागवत् में ज्ञानेन्द्रिय

---

[1] ब्र० वै० ब्र० ख० ३०/१२
[2] ब्र० वै० ब्र० ख० ३/७८
[3] अभिमनोऽहकारस्तस्माद् द्विविध प्रवर्तते सर्ग।
एकादशकश्च गणस्तन्मात्रपचकश्चैव।। - साख्यकारिका - २५
[4] सात्त्विक एकादशक प्रर्वतते वैकृता दहकारात्।
भूतादेस्तन्मात्र स तामस तैजसादुभयम्।। सा का० -२५
[5] वैकारिकस्तैजसश्च भूतादिश्चैव तामस।
त्रिविधोऽयमहकारो महत्तत्वाद जायत।।
भूतेन्द्रियाणा हेतु सा त्रिगुणत्वान्महामुने। - विष्णु पुराण- १/२/३५-३६

[6] विष्णु पुराण - १/२/४६-४७

तथा कर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति तैजस (राजस) अहकार से तथा मन और अधिष्ठाता देवों का उद्भव सात्विक अहकार से बतलाया है।[1]

[1] भाग० पु० ३/२६/२३-२४, २७

अध्याय ३.२

"वेदान्त-दर्शन"

वेदान्त का शब्दार्थ है 'वेद का अन्त' प्रारम्भ में इस शब्द से उपनिषदों का बोध होता था। बाद में, उपनिषदों के आधार पर जिन विचारों का विकास हुआ उनके लिए भी इस शब्द का व्यवहार होने लगा। उपनिषदों को भिन्न-भिन्न अर्थो में वेद का अन्त कहा जा सकता है।

(१) उपनिषद् वैदिक युग का अन्तिम साहित्य है। वैदिक काल में तीन प्रकार का साहित्य देखने में आता है। सबसे पहले वैदिक मन्त्र, जो भिन्न-भिन्न संहिताओं (ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद) में पाया जाता है। तत पर ब्राह्मण भाग जिसमें वैदिक कर्मकाण्ड की विवेचना है। अन्त में उपनिषद् जिसमें दार्शनिक तथ्यों की आलोचना है। ये तीनों मिलकर 'श्रुति' या 'वेद' (अधिक व्यापक अर्थ मे कहलाते है।

(२) अध्ययन के विचार से भी उपनिषदों की बारी अन्त में आती थी। लोग सामान्यत सहिता से शुरू करते थे। गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने पर गृहस्थोचित कर्म (यज्ञादि) करने के लिए 'ब्राह्मण' का प्रयोजन पडता था; वानप्रस्थ या सन्यास लेने पर 'आरण्यक' का। आरण्यक इसे इसलिये कहते है कि अरण्य या वन में एकान्त जीवन बिताते हुए लोग जगत् का रहस्य और जीवन का उद्देश्य समझने की चेष्टा करते थे। उपनिषदों का विकास इसी आरण्यक-साहित्य से हुआ है।

(३) उपनिषद् को इसी अर्थ में भी वेद का अन्त माना जा सकता है। कि वेदों में जो विचार पाये जाते हैं उन्हीं का परिपक्व रूप उपनिषद् में पाया जाता है। स्वय उपनिषदों में ही कहा गया है कि वेद-वेदाग आदि सभी शास्त्रों का अध्ययन कर लेने पर भी मनुष्य का ज्ञान तब तक पूर्ण नहीं होता जब तक वह उपनिषदों की शिक्षा प्राप्त नहीं करता।

भारत में जितने दर्शनों का विकास हुआ, उनमें सबसे महत्वपूर्ण दर्शन वेदान्त को ही कहा जाता है। वेदान्त दर्शन का आधार वादरायण का ब्रह्मसूत्र कहा जाता है। ब्रह्मसूत्र उपनिषदों के विचारों में सामजस्य लाने के उद्देश्य से ही लिखा गया था। 'ब्रह्मसूत्र' को ब्रह्मसूत्र इसलिए कहा

---

[1] कूर्म पुराण प्र० स० व- १८, २२, २३

जाता है क्योंकि इससे ब्रह्मसिद्धान्त की व्याख्या हुई है, ब्रह्मसूत्र को वेदान्तसूत्र भी कहा जाता है क्योंकि वेदान्त दर्शन ब्रह्मसूत्र से ही प्रतिफलित हुआ है इन दो नामों के अतिरिक्त इसे 'शारीरिक सूत्र' शारीरिक मीमासा तथा उत्तरमीमासा भी कहा जाता है।

शकराचार्य के अनुसार जीव और ब्रह्म दो नहीं हैं इनमें द्वैत नहीं है अत इनके मत का नाम अद्वैतवाद पडा। ब्रह्मवैवर्त -पुराण में यत्र-तत्र अद्वैत-वेदान्त सिद्धान्त भी उपलब्ध होते हैं, उनका पूर्ण रूप से दार्शनिक प्रक्रियानुसार प्रतिपादन तो उपलब्ध नहीं होता किन्तु ब्रह्म, माया, जीव आदि के स्वरूपों का प्रतिपादन वेदान्त दर्शन में समन्वय रखता है। वेदान्त जगत् को मायिक अर्थात् अनिर्वचनीय मिथ्या स्वीकार करता है न कि सत्य। परमात्मा का जगत् के साथ आध्यात्मिक सम्बन्ध है न कि वास्तविक, क्योंकि जगत् में ब्रह्म अज्ञान के द्वारा उसी प्रकार कल्पित है, जिस प्रकार रज्जु में अज्ञान से सर्प कल्पित है। जगत् की वास्तविक सत्ता नहीं है, अपितु भ्रान्ति से ही उसकी कल्पना होती है। वेदान्त दर्शन वैशेषिक और साख्य के सदृश आत्मा के अनेकत्त्व को नहीं मानता अपितु एकत्त्व को स्वीकार करता है। अत आत्मा, परमात्मा जगत् और उनके सम्बन्ध तथा तदनुसार जगत् के सृष्टि एव सहार के प्रदर्शनार्थ भिन्न-भिन्न प्रकार दर्शनों में अपनाये है। योगीन्द्र शकर उन्हें अनिर्वचनीय कहते है, विधाता स्वय उन्हें कारणों का कारण कहते हैं।[1]

वेदान्त-दर्शन परमात्मा से न नवीन सृष्टि का आरभ मानता है और न ब्रह्म का वास्तविक परिणाम सृष्टि को मानता है, अपितु रज्जु का जैसे-सर्परूप में अतात्विक परिणाम अज्ञानवश प्रतीत होता है उसी प्रकार अज्ञान ब्रह्म का सृष्टि का अतात्त्विक परिणाम ही है। अतात्त्विक परिणम ही विवर्त कहलाता है इसलिये वह सृष्टि के विषय में विवर्तवाद अगीकार करता है। वेदान्तसार में

---

[1] "यमनिर्वचनीय च योगीन्द्र शकरों बदेत्।

स्वय विधाता प्रवदेत्कारणना च कारणम्।।"- ब्र०वै० कृ० ख०-१२६/७१

बतलाया गया है कि "(किसी वस्तु का) वस्तुत अन्य रूप से प्रसिद्ध होना विकार कहा जाता है, और मिथ्यारूप से अन्य वस्तु के रूप में भाषित होना 'विवर्त' कहा जाता है"।[1]

वेदान्त के अनुसार अज्ञान के प्रत्यक्ष में कोई कठिनाई नहीं है। इस विश्व में केवल दो वर्ग है, एक सत् स्वप्रकाशित, तेजोमय स्वत प्रकाश ब्रह्म और दूसरा अनिश्चित अज्ञान। इस अज्ञान की आधारभूमि माया है। ब्रम्ह भी इस अज्ञान के कारण अनेक माया रूपों में और प्रकृति-प्रपच में नाना विध स्वरूपों में प्रकट होता है अर्थात् हम उस सत् रूप को उसके सत्य स्वरूप में न देखकर माया और अज्ञान के कारण सासारिक प्रपच को भी सत्य मान लेते है। यह अज्ञान भाव और अभाव दोनों से भिन्न है और जब ब्रह्म-ज्ञान का उदय होता है तो स्वयमेव दूर हो जाता है ।

शकराचार्य इस मत से पूर्णतया सहमत नहीं है। उनका कहना है कि उपनिषदों में अन्तिम सत्य का निरूपण किया गया है। ब्रह्म ही अन्तिम सत्य है। जिसने इस सत्य को सम्यक् रूप से जान लिया है, उसे अन्य किसी कर्मकाण्ड की आवश्यकता नहीं है। वह स्वत ही पूर्णकाम प्रबुद्ध और शान्त हो जाता है। जिसने सत्य का दर्शन कर लिया उसे फिर किस कर्म की आवश्यकता रह जाती है। भगवद्गीता की टीका में भी शंकराचार्य ने इस तथ्य पर विशेष बल दिया है कि कर्म का आधार कामना है। किसी कामना से प्रेरित होकर मनुष्य शुभ अथवा अशुभ कर्म करता है। जब मनुष्य कामना के वशीभूत होकर यज्ञादि कर्मकाण्ड करता है तो उसकी दृष्टि किसी फल की प्राप्ति की ओर रहती है। वेदों की आज्ञा मानकर नियमादि का पालन और अन्य कर्मो में भी यही कामना प्रेरक शक्ति होती है। मनुष्य इस अवस्था में कर्म के चक्र में व्यथित रहता है। जैसे ही मनुष्य इस कर्म-मार्ग का परित्याग कर ज्ञानमार्ग की ओर अग्रसर होता है वह सारी कामनाओं का परित्याग कर निष्काम, वीतराग होकर केवल ब्रह्म को जानने की इच्दा रखता हुआ उपनिषदों, वेदों और पुराणों के अध्ययन से सत्य को जानकर व्यक्ति स्वय ही मोक्ष की ओर उन्मुख हो उठता है ऐसे व्यक्तियों के लिए वेदान्त का मनन ही श्रेयस्कर है।

---

[1] सतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विकार इत्युदीरित ।

अतत्त्वतोऽन्यथाप्रथा विवर्त इत्युदाह्त ।। - वेदान्तसार- ४७

ब्रह्म-

ब्रह्मवैवर्त-पुराण में जहा भी भगवान् कृष्ण की स्तुति की गई है, वहा ब्रह्मस्वरूप से ही की गयी है। अद्वैत-दर्शन के अनुसार ब्रह्म निगुर्ण, निर्लेप, निरजन, शाश्वत, क्षय-वृद्धि रहित सर्वधर्मा से विवर्जित है। वह सत्य, सनातन, ज्ञानरूप व आनन्द स्वरूप है। वही माया द्वारा सकल प्रपच का कारण तथा स्वरूपत सकल प्रपच का अधिष्ठान है। ब्रह्मवैवर्त-पुराण के ब्रह्मखण्ड के चतुर्थ अध्याय में बतलाया गया है कि- सबके बीज (आदिकारण) उस सनातन ब्रह्म ज्योति को जो 'पर' से भी अत्यन्त परे, श्याम, निर्विकार और निरजन को नमस्कार है[1]। उपनिषदों में भी ब्रह्म के दो रूप माने गये है।- १- परब्रह्म २- अपर ब्रह्म। पर ब्रह्म असीम, निर्गुण निर्विशेष, निष्प्रपच तथ अपरब्रह्म ससीम, सगुण, सविशेष और सप्रपच से है। पर ब्रह्म अमूर्त है जबकि अपर ब्रह्म मूर्तरूप में है। पर ब्रह्म की व्याख्या 'नेति-नेति' कह कर की गयी है। जबकि अपरब्रह्म की व्याख्या 'इति-इति' कहकर की गयी है। पर ब्रह्म को 'ब्रह्म' और अपरब्रह्म को 'ईश्वर' कहा गया है। उपनिषदों का ब्रह्म एक और अद्वितीय है, यह द्वैत से शून्य है उसमें ज्ञाता और ज्ञेय का भेद नहीं हैं एक ही सत्य है।

ब्रह्मवैवर्त-पुराण के अनुसार- ब्रह्म तत्त्वों का सारभूत, अज्ञानी-अन्धें के नेत्र और द्वैध भ्रमरूपी अहकार का नाशक, अत्यन्त प्रज्ज्वलित प्रदीप है। सनातन परब्रह्म परमात्मास्वरूप है, वह समस्त देहों में स्थित और जीवों के कर्मो का साक्षी है। (सभी जीवों के) पाँचों प्राण स्वय विष्णु, मन,प्रजापति, ब्रह्मा, समस्त ज्ञानस्वरूप में (शिव) और ईश्वरी प्रकृति शक्ति है। राजा के अनुचरों की भाँति सभी परमात्मा के अधीन हैं। शरीर में उसके स्थित रहने पर सभी लोग स्थित रहते हैं और उस परम् महान् के चले जाने पर चले जाते हैं। जीव उसी परमात्मा का प्रतिबिम्ब है और कर्मो का भोग करता हैं जैसे जलपूर्ण घट में सूर्य-चन्द्र का प्रतिबिम्ब दिखायी पड़ता है और 'घट' के फूट जाने पर वह प्रतिबिम्ब चन्द्रमा और सूर्य में विलीन हो जाता है; उसी भाँति प्रलय के समय जीव ब्रह्म में लीन हो जाता है। (महा प्रलय में) इस ससार के नष्ट हो जाने पर एक वही 'परब्रह्म' शेष रह

---

1 नमामि सर्वबीज त्वा ब्रह्मज्योति सनातनम्।

परात्परतर श्याम निर्विकार निरजनम्।। - ब्र० वै० ब्र० ख० -४/४

जाता है और सम्पूर्ण जीव तथा यह चराचरमय सम्पूर्ण जगत् उसी ब्रह्म में विलीन हो जाता है। वह 'परब्रह्म' ज्योति स्वरूप मण्डलाकार और ग्रीष्म ऋतु के मध्याह्नकालीन करोडो सूर्य के समान प्रभापूर्ण है। वह आकाश की भाँति विस्तृत सर्वव्यापक अनश्वर तथा योगियों को चन्द्रबिम्ब की भाँति सुखमय दिखायी देता है। योगी लोग उसे सनातन 'परब्रह्म' कहते हैं, तथा दिन-रात उस सर्वमंगलमय सत्य स्वरूप का ध्यान करते रहते हैं।

ब्रह्मखण्ड के अट्ठाईसवें अध्याय में ही बतलाया गया है कि- वह (ब्रह्म) निरीह (इच्छारहित) निराकार (रूपहीन) परमात्मा, ईश्वर, स्वेच्छामय, स्वतन्त्र एव समस्त कारणों का कारण है। तथा परमानन्द स्वरूप, परमानन्द का कारण, उत्तम प्रधान पुरूष, गुण (सत्त्व, रज्,तम्) मे हीन और प्रकृति से परे है[1]।

अद्वैत वेदान्त के अनुसार सारी सृष्टि की उत्पत्ति और विनाश के आदि कारण ब्रह्म है। नाना रूपों में अनेक नामों से जो कुछ भी हम यहा देखते हैं उन सबका आदि मूल वह ब्रह्म ही है। स्थान, काल, हेतु की अपेक्षा से नानाविध इस कल्पनातीत सृष्टि का ओर-छोर नही दिखाई देता। अनेक प्रकार के व्यक्ति, अनेक प्राणी यहा अनेक प्रकार के फलों को भोग करते हुए दिखाई देते हैं। उनकों देखकर बुद्धि विस्मित और स्तम्भित रह जाती है। इस सारे ससार का स्रष्टा, पालक और सहारकर्ता वही एक ब्रह्म है। ब्रह्म सत् चित् आनन्द रूप है। यह ब्रह्मतत्त्व ही आत्मा के रूप में हमारे शरीर विद्यमान है। जागृत अवस्था में अनेक मायामय अनुभूतियों में हम विचरण करते रहते हैं। हमारा अहम् प्रत्येक अनुभूति के साथ यह अनुभव करता है कि मैं ऐसा कर रहा हूँ, मैं यह सुख-दुख भोग रहा हूँ। परन्तु जब हम गहरी निद्रा में, सुषुप्त अवस्था में, होते है तो हमारी आत्मा का शरीर और वाह्य भौतिक जगत् से सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है इस अवस्था में आंशिक रूप से उस निर्मल आनन्द की स्थिति का आभास प्राप्त करते हैं जो ब्रह्मानन्द की स्थिति है। परन्तु प्राणिमात्र अपने

---

[1] निरीह च निराकार परमात्मानमीश्वरम्।

स्वेच्छामय स्वतन्त्र च सर्वकारण कारणम्।। - ब्र० वै० ब्र० ख० -२८/२१

२ परमानन्दरूप च परमानन्द कारणम्।

पर प्रधान पुरूष निर्गुण प्रकृते परम्।। ब्र० वै० ब्र० ख० - २८/२२

भिन्न-भिन्न रूपों में माया मात्र है। इन सबके भीतर जो सत्-चित, आनन्द तत्व व्याप्त है, वही सत्य ब्रह्म तत्त्व है।

ब्रह्म में ही प्रलय के समय सर्वबीज स्वरूपिणी प्रकृति विलीन होती है। ठीक उसी तरह जैसे अग्नि में उसकी दाहिका शक्ति, सूर्य में प्रभा, दुग्ध में धवलता और जल में शीतलता लीन रहती हैं। मुने! जैसे आकाश में शब्द और पृथ्वी में गन्ध सदा विद्यमान है उसी तरह निर्गुण ब्रह्म में निर्गुण प्रकृति सर्वदा स्थित है। वही ब्रह्म सृष्टि के समय अश से पुरूष रूप होता है। वत्स! उसी को सगुण, प्राकृत और विषयी कहा जाता है[1]। उसी में त्रिगुण रूप वाली परा प्रकृति भी छायामयी होकर रहती है। मुने! जिस प्रकार कुम्हार मिट्टी द्वारा घडे बनाने में सदैव समर्थ रहता है उसी भांति वह ब्रह्म प्रकृति के द्वारा समस्त सृष्टि का निर्माण करने में समर्थ है[2]।

ब्रह्मवैवर्त पुराण के कृष्ण जन्म खण्ड के अट्ठारहवें अध्याय में बतलाया गया है कि- वह ब्रह्म, परमधाम्, इच्छारहित, अहकारशून्य, गुणरहित, निराकार, साकार, सगुण, साक्षी रूप, निर्लिप्त, परमात्मा, आकार-रहित, प्रकृति-पुरुष है। तथा उन दोंनों के परम कारण भी है[3]।

ब्रह्मवैवर्त-पुराण में निरूपित ब्रह्मस्वरूप का प्रतिपादन श्रुतियों में भी यथावत् प्राप्त होता है। जैसा कि तैत्तिरीयोपनिषद् में "ब्रह्म सत्य, ज्ञानस्वरूप और अनन्त है" ब्रह्मनित्य, विज्ञानमय और आनन्दस्वरूप है[4]। सृष्टि, पालन और सहार कार्य में नियुक्त जो ब्रह्म, विष्णु एव महेश्वर हैं वह भी आपके (ब्रह्म) के ही सर्वबीजमय अश हैं। ईश्वर! जिसके लोम-विवरों में समस्त विश्व स्थित है, उस महाविराट महाविष्णु के जनक भी आप अर्थात् ब्रह्म ही हैं, वह तेज, तेजस्वी, ज्ञान और ज्ञानी स्वरूप हैं इसलिये आपकों (ब्रह्म) वेद में अनिर्वचनीय कहा गया है। अत- उस ब्रह्म की स्तुति करने में कौन

---

[1] ब्र० वै० ब्र० ख० - २८/२५

[2] यथा मृदा कुलालश्च घट कर्त्तु क्षम सदा। तथा प्रकृत्या तद्ब्रह्मसृष्टि सष्टु क्षम मुने।। ब्र० वै० ब्र० ख० २८/२७

[3] त्व ब्रह्म परम धाम निरीहो निरहकृति। निर्गुणश्च निराकार साकार समुण स्वयम्।

साक्षिरूपश्च निर्लिप्त परमात्मा निराकृति। प्रकृतत पुरूषस्त्व च कारण च तयों परम्।। - ब्र० वै० कृ० ख - १८/३६-३७

[4] सत्य ज्ञानमनन्त ब्रह्म, नित्य विज्ञानमानन्द ब्रह्म। -तै० उ०-२/१/१

समर्थ हो सकता है? वह महत् आदि सृष्टि के सूत्र स्वरूप पंचतन्मात्रा, समस्त शक्तियों के बीज, समस्त शक्तिस्वरूप, समस्त शक्तियों के अधीश्वर, सर्वरूप और सदा समस्त शक्तियों के आश्रय है।

इस पुराण के कृष्ण जन्मखण्ड के तैतालीसवें अध्याय में यह बताया गया है कि जो मायारूप उपाधि का आश्रय लेता है वह सगुण और जो मायातीत है वह निर्गुण कहलाता है परन्तु भगवान् स्वेच्छामय है। वे अपनी इच्छा से ही विविध रूपों में प्रकट होते है। उनकी इच्छाशक्ति का नाम ही प्रकृति है। वह नित्यस्वरूपा और सदा सबकी जननी है। कुछ लोग ज्योतिः स्वरूप सनातन ब्रह्म को एक ही बताते हैं, तथा कुछ इसे विद्वान् उसे प्रकृति से युक्त होने के कारण द्विविध कहते हैं। जो एक बताते है, वह बल, माया, तथा जीवात्मा दोनों से परे हैं। उस ब्रह्म से ही वे दोनों (माया और जीवात्मा) प्रकट होते हैं, अतः ब्रह्म ही सबका कारण है। वह 'परब्रह्म' एक होकर भी स्वेच्छा से दो हो जाता है। उसकी इच्छाशक्ति ही प्रकृति है जो सदा सम्पूर्ण शक्तियों की जननी होती है। उससे संयुक्त होने के कारण वे परमात्मा समुण कहे जाते हैं। वे ही सबके आधार, सनातन, सर्वेश्वर, सर्वसाक्षी तथा सर्वत्र फलदाता होते हैं। शम्भो! शरीर भी दो प्रकार का होता है-एक नित्य और दूसरा प्राकृत[1]।

शतपथ ब्राह्मण के अनुसार- "आदिकाल में यह सारा विश्व (प्रकृति) बह्म के रूप में था।" इस बह्म ने देवताओं का सृजन किया और तत्पश्चात् उनकों विश्व में आरूढ़ किया, अग्नि को पृथ्वी पर स्थापित किया, वायु को वातावरण में, और सूर्य को अन्तरिक्ष में स्थान दिया तब स्वयं बह्म दूसरे लोक में गये। परलोक में स्थापित होकर बह्म ने विचार किया कि मैं ब्रह्माण्ड में किस प्रकार पुनः प्रवेश कर सकता हूँ? तब फिर उसने इस विश्व में इन दों स्वरूपों में प्रवेश किया- १.नाम २. रूप जिस किसी वस्तु की संज्ञा है वह नाम है और जो संज्ञाहीन है वह रूप है। इन नामों और रूपों में ही यह सारा संसार अवस्थित है, और जो ब्रह्म की इन दो शक्तियों को पहचानता है वह स्वयं महाशक्तिमान् अथवा ब्रह्मस्वरूप हो जाता है। दूसरे स्थान पर ब्रह्म को विश्व में अद्वितीय चरमशक्ति के रूप में माना गया है और उसकों प्रजापति, पुरुष एवं प्राण कहकर सम्बोधित किया गया है। इस प्रकार वह (ब्रह्म) सारे प्राणियों का अधार उनका स्वामी है तथा उन पर शासन करता हैं। ऋग्वेद में

---

[1] सर्वेश्वरः सर्वसाक्षी सर्वत्रास्ति फलप्रदः। शरीरं द्विविधं शंभों नित्यं प्राकृतमेव च।।- ब्र० वै० कृ० खं ४३/६४

जिस पुरुष की कल्पना की गयी है वह इस विश्व में केवल अपने चतुर्थांश से स्थित है। उसके तीन अश अन्य लोकों में व्याप्त हैं। वह भूत, भविष्य एव वर्तमान तीनों हैं।

जीव और आत्मा-

जीव आत्मा का वह स्वरूप है जो अह रूप में सारी सासारिक अनुभूतियों आदि का भोग करता है। जीवन के तीन स्वरूप है- **१. सुषुप्ति अवस्था २. स्वप्नावस्था और ३. जाग्रत अवस्था।** इनमें सुषुप्ति अवस्था में अन्त करण का कार्य समाप्त हो जाता है, अहरूप निश्चल हो जाता है, तब यह स्थिति 'प्राज्ञ' या 'आनन्दमय' अवस्था कहलाती है। स्वप्नावस्था में जो सूक्ष्म शरीर के साथ सयुक्त रहता है, इस स्थिति में यह जीव की तैजस् अवस्था कही जाती है तथा जब मनुष्य जाग्रत अवस्था में रहता है तब उसकी आत्मा का सम्बन्ध सारे स्थूल जगत् मे रहती है इस अवस्था में आत्मा स्थूल और सूक्ष्म दोंनों शरीरों के सम्पर्क में रहती है। अत यह 'विश्वरूप' कहलाता है। इसी प्रकार आत्मा अपने शुद्ध रूप में 'ब्रह्म' 'माया' के सम्पर्क में 'ईश्वर', जगत् के नियन्त्रणकारी के रूप में पदार्थ अथवा सूक्ष्म प्रकृतितत्त्वमें स्थित होकर 'हिरण्यगर्भ' और स्थूल जगत् में नियन्ता रूप में स्थित 'विराट पुरूष' कहलाती हैं

अविद्या से आवृत्त 'जीव' 'परमार्थिक' (सत्) सज्ञा से जाना जाता है, जब यही जीव अहम् और इन्द्रियों के सम्पर्क से अनेक व्यापारों में प्रवृत्त होता है तो 'व्यावहारिक' (प्रकृत) और स्वप्नावस्था में स्वप्नात्मा रूप में प्रातिभाषिक कहलाता है।

ब्रह्मवैवर्त-पुराण के प्रकृति-खण्ड के पच्चीसवें अध्याय में बतलाया गया है कि - प्रकृति से परे रहने वाले भगवान् श्रीकृष्ण ही कर्मो के बीजरूप, उसके फलदाता और कर्मरूप हैं, वहीं कर्मो के हेतुरूप भी है। वे सदैव वर्तमान रहते हैं, अतः उन्हीं के द्वारा कर्म की प्राप्ति होती है। कर्मो के फल का भोक्ता जीव है और आत्मा उससे निर्लिप्त रहता है[1]। आत्मा का प्रतिबिम्ब ही देही और जीव कहलाता है। पॉच भूतों के नश्वर रूप को देह कहते हैं। भगवान् के सृष्टि विधान में पृथ्वी, वायु, आकाश, जल और तेज यही सृष्टि के सूत्र है। देही (जीवात्मा) कर्ता, भोक्ता है और आत्मा

---

[1] सोऽपि तद्धेतुरूपश्च कर्म तेन भवेत्सति।

जीव कर्मफल भुङ्क्त आत्मा निर्लिप्त एव च।। ब्र० वै० प्र० ख० २५/१३

(परमात्मा) भोजयिता (भोग करने वाला) है। अनेक भाँति के विभव भोग हैं तथा उनसे पृथक् होने को 'मुक्ति' कहते हैं। सूर्य, वायु और पृथ्वी एव वाणी आदि इन्द्रियों के देवता है। प्राण और देह आदि के धारण करने वाले को 'जीव' कहते हैं[1]। स्वय भगवान् श्रीकृष्ण को परमात्मा एव परब्रह्म कहते है, जो निर्गुण, प्रकृति से परे और समस्त कारणों के कारण हैं।

उपनिषदों में आत्मा को चरम तत्त्व माना गया है, आत्मा मूल चैतन्य है। वह ज्ञाता और ज्ञेय नहीं है, मूल चेतना के आधार को ही आत्मा कहा गया है। वह नित्य और सर्वव्यापी है। आत्मा-विचार उपनिषदों का केन्द्र-बिन्दु है। यहीं कारण है कि आत्मा की विशद व्याख्या उपनिषदों में निहित है। उपनिषदों के अनुसार जीव और आत्मा में भेद है। जीव वैयक्तिक आत्मा, आत्मा परम-आत्मा है। जीव और आत्मा एक ही शरीर में अन्धकार और प्रकाश की तरह निवास करते हैं। जीव कर्म के फलों को भोगता है, और सुख-दुख का अनुभव करता है। आत्मा इसके विपरीत कूटस्थ है, जीव अज्ञानी है। अज्ञान के फलस्वरूप उसे बन्धन और दु ख का सामना करना पड़ता है। आत्मा ज्ञानी है। आत्मा का ज्ञान हो जाने से जीव दुःख एव बन्धन से छुटकारा पा जाता है। जीवात्मा कर्म के द्वारा, पुण्य पाप का अर्जन करता है और उनके फलों को भोगता है। लेकिन आत्मा कर्म और पाप पुण्य से परे है। वह जीवात्मा के अन्दर रहकर भी उसके किये हुए कर्मो का फल नहीं भोगता। आत्मा जीवात्मा के भोगों का उदासीन साक्षी है।

तैत्तिरीय उपनिषद् की ब्रह्मवल्ली के सातवें अनुवाक में बतलाया गया है कि-वह आनन्दमय ही रसस्वरूप है, यह जीवात्मा इस रसस्वरूप परमात्मा को पाकर आनन्दयुक्त हो जाता है। यदि वह आकाश की भाँति परिपूर्ण आनन्दस्वरूप परमात्मा नहीं होता तो कौन जीवित रह सकता? कौन प्राणों की क्रिया कर सकता है? सचमुच यह परमात्मा ही सबको आनन्द प्रदान करता है[2]। तैत्तिरीय उपनिषद् में ही जीव के पाच कोषों का वर्णन है-

(१) अन्नमयकोष- स्थूल शरीर को अन्नमय कोष कहा जाता है। यह अन्न पर आश्रित रहता है।

---

[1] ब्र० वै० प्र० ख० - २५/२२

[2] तै० उ० -२/७

(२) प्राणमय कोष- अन्नमयकोष के अन्दर प्राणमय कोष विद्यमान रहता है। यह शरीर में गति देने वाली प्राणशक्तियों से निर्मित हुआ है। यह प्राण पर आश्रित है।

(३) मनोमय कोष- प्राणमय कोष के अन्दर मनोमय कोष है। यह मन पर निर्भर है। इसमे स्वार्थमय इच्छायें हैं।

(४) विज्ञानमय कोष- मनोमय कोष के अन्दर 'विज्ञानमय कोष' है। यह बुद्धि पर आश्रित है। इसमें ज्ञाता और ज्ञेय का भेद करने वाला ज्ञान निहित है।

(५) आनन्दमय कोष- विज्ञानमय कोष के अन्दर आनन्दमय कोष है। यह ज्ञाता और ज्ञेय के भेद से शून्य चैतन्य है। इसमें आनन्द का निवास है। यह पारमार्थिक और पूर्ण है। यह आत्मा का सार है न कि कोष। यही ब्रह्म है। इस आत्मा के ज्ञान से जीवात्मा बन्धन से छुटकारा पा जाता है। इस ज्ञान का आधार अपरोक्ष अनुभूति है।

ब्रह्मवैवर्त-पुराण के 'गणपति खण्ड' के सातवें अध्याय में नारायण ने कहा है कि- देवेश्वर ब्रह्म, शक्ति और महेश्वर मेरे अश है और जीव देवाधि गण कला एव कलाश रूप है। जिस प्रकार बिना मिट्टी के घडा बनाने में कुम्हार असमर्थ होता हैं, बिना सुवर्ण के सोनार कुण्डल बनाने में असमर्थ होता है उसी प्रकार बिना शक्ति के मैं सृष्टि करने में असमर्थ हूँ। सृष्टि में शक्ति प्रधान है, ऐसा समस्त दर्शनशास्त्रों का मत है[1]। मै निर्लिप्त, अदृश्य और समस्त देहधारी जीवों का साक्षी आत्मा हूँ। सभी देह प्रकृति नश्वर एव पचभूतों से निर्मित है[2]। सूर्य के समान प्रकाशमान शरीर वाला 'मै नित्य हूँ,' जगत् में प्रकृति सबकी आधार स्वरूपा है और मै सबका आत्मा हूँ। 'मै' आत्मा हूँ, 'ब्रह्म' 'मन' है महेश्वर ज्ञान स्वरूप है स्वय विष्णु पाचों प्राणस्वरूप हैं। और ईश्वरी प्रकृति बुद्धि स्वरूप है। ऐसा पुराण में बतलाया गया है।

वेदान्त में एक धारा एकजीववाद है जिसके अनुसार सारे ससार में एक ही जीव और एक ही शरीर है। अनेक शरीर और अनेक जीव एक भ्रान्त कल्पना के कारण दिखाई देते हैं। जब तक वह परम् जीव सासारिक अनुभूति बधन में बधा रहेगा ये स्वप्नजीव और स्वप्नससार इसी प्रकार

---

[1] बिना शक्त्या तथाऽहं च स्वसृष्टिं कर्तुमक्षम। शक्ति प्रधाना सृष्टिश्च सर्वदर्शन समता।। ब्र० वै० ग० ख० ७/७३

[2] ब्र० वै० ग० ख० ७/७४

चलते रहेगें। चूंकि आत्मा का वास्तविक स्वरूप आनन्दमय है इसीलिए आत्मा को सच्चिदानन्द कहा गया है। आत्मा शुद्ध सत् चित् और आनन्द का समिश्रण है। आत्मा की विभिन्न अवस्थाओं के विश्लेषण से यह सिद्ध हो जाता है कि आत्मा सत्+चित्+आनन्द है।

जगत्-

आचार्य शकर के दर्शन में विश्व की व्याख्या अत्यन्त ही तुच्छ शब्दों में की गयी है। शकर ने विश्व को पूर्णत सत्य नहीं माना है। शकर के मतानुसार ब्रह्म ही एक मात्र सत्य है। शेष सभी वस्तुए ईश्वर, जीव, जगत् प्रपच है। लोकोक्ति में कहा भी गया है कि- 'ब्रह्म ही एक मात्र सत्य है, जगत् मिथ्या है तथा जीव और ब्रह्म अभिन्न है[1]।' शकर ने जगत् को रस्सी में दिखाई देने वाले सॉप के समान माना है। यद्यपि जगत् मिथ्या हैं फिर भी जगत् का कुछ न कुछ आधार है। जिस प्रकार रस्मी में दिखाई देने वाले साप का आधार रस्सी है उसी तरह विश्व का आधार ब्रह्म है। अत ब्रह्म विश्व का अधिष्ठान है। जिस प्रकार साप रस्सी के वास्तविक स्वरूप पर आवरण डाल देता है उसी प्रकार जगत् ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप पर आवरण डाल देता है। तथा उसके रूप का विच्छेप जगत् यर्थाथ प्रतीत होने लगता है। शकर के मतानुसार सम्पूर्ण जगत ब्रह्म का विवर्त मात्र है। यह सासारिक प्रपच माया है, हमारे मन की भ्रान्ति है परन्तु यह भ्रान्ति सुप्ति में रजत् की भ्रान्ति से भिन्न है। सुप्ति में रजत की भ्रान्ति 'प्रातिभासिकी भ्रान्ति है जो कुछ समय पश्चात् हमारे अन्य अनुभव से असत्य सिद्ध हो जाती है। परन्तु इस सासारिक भ्रान्ति का इस संसार में अन्त नहीं होता, हमारा सारा व्यवहार इस भ्रान्ति के परिप्रेक्ष्य में ही होता है। अत· इस भ्रान्ति को 'व्यवहारिकी' भ्रान्ति कहते है। जब तक ब्रह्म सम्बन्धी सत्य ज्ञान का उदय नहीं होता है, हम इस ससार को ही सत्य मानकर तदनुकूल आचरण करते हैं।

इस पुराण के ब्रह्म खण्ड के तेरहवें अध्याय में मालावती ने कहा है कि- हे कृष्ण! आप सम्पूर्ण जगत् के नाथ है। हे नाथ! मै भी जगत् ने बाहर नहीं हूँ। आप जगत् की रक्षा करते हैं तो मेरी रक्षा क्यों नहीं कर रहे हैं? आप समस्त जगत् के नाथ है। मै भी जगत् के बाहर नहीं हूँ। अत मेंरे कान्त (पति) को शीघ्र जीवित कर दीजिए। इसी खण्ड के चौदहवें अध्याय में कहा गया है- जगत्

---

[1] 'ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापर'।।

के सृष्टा स्वय विधाता भी इस कार्य में उपस्थित है तथा समस्त ब्रह्माण्ड का सहार करने वाले साक्षात शिव भी यहा उपस्थित है और आश्चर्य है कि तीनों लोकों में सभी कर्मो के साक्षी धर्म भी यहा उपस्थित है। जिनके भय से वायु चलता है, सूर्य तपता है और जिनकी आज्ञा से ब्रह्मा सृष्टि करते हैं और विष्णु पालन करते हैं। जिनके शासन में शकर समस्त जगत् का सहार करते है। जिनकी आज्ञा का पालन करने के नाते धर्म कर्मो के साक्षी कहे जाते है[१]।

महेश्वर के अनुसार- जगत् के विधाता एव सबके रचयिता स्वय ब्रह्मा भी उनके चरण कमल का रात-दिन ध्यान करते है, किन्तु उनका दर्शन नहीं कर पाते है[२]। भगवान श्रीकृष्ण की प्रसन्नता के लिए एक लाख युग तक तप करके ही ब्रह्मा ज्ञानी और जगत् की सृष्टि करने में समर्थ हुए है[३]।

अट्ठारवें अध्याय में मालावती ने "समस्त कारणों के कारण उस परमात्मा की वदना की। जिसके बिना इस जगत् के सारे प्राणी शव के समान हैं[४]। स्वय जगत्स्रष्टा बह्मा उस ब्रह्म की सेवा में नियत रूप से लगे रहते है। विष्णु और स्वय जगत् के संहारकर्ता शिव भी उनकी सेवा में तत्पर रहते हैं[५]। चौबीसवें अध्याय में नारद के वचनानुसार-ब्रह्मन्! यह समस्त ससार जल के बुलबुले के समान अत्यन्त नाशशील और जल-रेखा की भाँति मिथ्या है[६]। वहीं अपनी अशकला मात्र से विष्णु होकर समस्त जगत् की रक्षा करते है। और श्वेतद्वीप में सिन्धु कन्या लक्ष्मी के पति होकर चारों भुजाओं में स्थित है। वहीं परमेश्वर बह्म की सृष्टि करते है और वे बह्म जगत् को उत्पन्न करने वाली उस नित्य प्रकृति की रचना करके सृष्टि करते है। उसके बिना समस्त जगत् जीवित रहते हुए भी मृतक के समान है।[७] सुकर्म की पत्नी कीर्ति है, जो धन्या, मान्या एव पूज्या है। उसके बिना

---

[1] ब्र० वै० ब्र० ख० - १५/४७

[2] स्वय ब्रह्मा च जगता विधाता सर्वकारक। पादारबिन्दमनिश ध्यायते द्रष्टुमक्षम ।। ब्र० वै० ब्र० ख०- १७/३०

[3] वही १७/३१

[4] ब्र० वै० ब्र० ख० १८/६

[5] जगत्सृष्टा स्वय ब्रह्मा नियतों यस्य सेक्या। पाता विष्णुश्च जगता सहर्त्ता शकर स्वयम्।। ब्र० वै० ब्र० ख० १८/१२

[6] जलबुद्बुदवत्सर्व ससारमतिनश्वरम्। जलरेखा यथा मिथ्या तथा ब्रह्मजगत्त्रयम्।। ब्र० वे० ब्र० ख० २४/३२

[7] जगज्जीवन्मृत सर्व यया देव्या बिना मुने।। ब्र० वै० प्र० ख० १/२६

सम्पूर्ण जगत् यशोहीन होने से मृतक की भाँति हो जाता है। क्रिया उद्योग की पत्नी है। इन आदरणीया देवी से सब लोग सहमत हैं। नारद! इनके बिना यह समस्त जगत् उच्छिन्न-सा हो जाता है। ज्ञान की बुद्धि, मेधा और स्मृति ये तीन भार्याएँ है जिनके बिना यह सारा जगत् मूढता के कारण मृतक के समान हो जाता है[1]। तेज की प्रभा और दाहिका दो स्त्रिया है जिसके बिना विधाता भी जगत् की सृष्टि करने में असमर्थ है। काल की पुत्रिया- जरा और मृत्यु- ज्वर की प्रिय भार्याएँ है, इनकी सत्ता न रहें तो ब्रह्मा के बनाये हुए जगत् की व्यवस्था भी बिगड जाये। ये सभी कृत्रिम है। कुछ तो ब्रह्मण्ड के भीतर है और कुछ उसके बाहर। ब्रह्माण्ड का विनाश होने पर इन सबका विनाश हो जाता है क्योंकि जल के बुलबुले के समान यह सारा जगत् अनित्य है। केवल गोलोक, और बैकुण्ठ लोक नित्य है[2]।

उपनिषद् दर्शन में जगत् को सत्य माना गया है क्योंकि जगत् ब्रह्म की अभिव्यक्ति है। ब्रह्म ही जगत् की उत्पत्ति का कारण है। जगत् ब्रह्म से उत्पन्न होता है उसी से पलता है और अन्त में उसी में विलीन हो जाता है। बृहदारण्यक उपनिषद् में बताया गया है कि ब्रह्म सृष्टि की रचना करता है और फिर उसी में प्रविष्ट हो जाता है। देश, काल, प्रकृति आदि ब्रह्म के आवरण है क्योंकि सभी में ब्रह्म व्याप्त है। जिस प्रकार नमक पानी में घुलकर सारे पानी को व्याप्त कर लेता है उसी प्रकार ब्रह्म पदार्थो के अन्दर व्याप्त हो जाता है।

उपनिषद् में कई स्थानों पर जगत् को ब्रह्म का निवास माना गया है। ब्रह्म से जगत् के विकास का क्रम भी उपनिषदो में निहित है। विकास का क्रम यह है कि सर्वप्रथम ब्रह्म से आकाश का विकास होता है, आकाश से वायु का, वायु से अग्नि का विकास होता है। जगत् के विकास के अतिरिक्त उपनिषद् में जगत के पांच स्तरों का उल्लेख हुआ है जिसे पचकोश कहा जाता है। अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय को पचकोश कहा जाता है। भौतिक पदार्थ को अन्नमय कहा गया है। पौधे प्राणमय है, पशु मनोमय है, मनुष्य को विज्ञानमय तथा विश्व के वास्तविक स्वरूप को आनन्दमय कहा गया है।

---

[1] वहीं १/२०

[2] एव सर्व कृत्रिम तद्बाह्याभ्यन्तर एव च। तदिनाशे विनाशश्च सर्वेषामेव।। ब्र० वै० प्र० ख० ३/१५ वही ३/१६

सृष्टि की व्याख्या उपनिषदों मे सादृश्यता एव उपमाओं के बल पर किया गया है जैसे प्रज्ज्वलित अग्नि से चिनगारिया निकलती है, सोने से गहने बन जाते है, मोती से चमक उत्पन्न होती है, बासुरी से ध्वनि निकलती है वैसे ही ब्रह्म से सृष्टि होती है। मकडी की उपमा से भी जगत् के विकास की व्याख्या की गयी है। जिस प्रकार मकड़ी के अन्दर से उसके द्वारा बुने गये जालों के तागे निकलते हैं उसी प्रकार ब्रह्म से सृष्टि होती है। सृष्टि को ब्रह्म की लीला भी माना गया है क्योंकि यह आनन्ददायक खेल है।

उपनिषदों में कहीं भी विश्व को एक भ्रमजाल नहीं कहा गया है। उपनिषद् के ऋषिगण प्राकृतिक जगत् के अन्दर जीवन-यापन करते रहे और उन्होने इस जगत् से दूर भागने का विचार तक नही किया। जगत् को उपनिषद् में कहीं भी निर्जन एव शून्य नहीं माना गया है। अत उपनिषद् जगत् से पलायन की शिक्षा नहीं देता है।

"माया और अविद्या"

वेदान्त दर्शन में माया और अविद्या को एक ही अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। जिस प्रकार आत्मा और ब्रह्म में तादात्म्य है उसी प्रकार माया और अविद्या अभिन्न है। शकर ने माया, अविद्या, अध्यास, अध्यारोप, भ्रान्ति, विवर्त, भ्रम, नामरूप, अव्यक्तमूल प्रकृति आदि शब्दों का एक ही अर्थ में प्रयोग किया है परन्तु बाद के वेदान्तियों ने माया और अविद्या में भेद किया है। उनका कहना है कि माया भावात्मक है जबकि अविद्या निषेधात्मक है। माया को भावात्मक इसलिए कहा जाता है कि माया के द्वारा ब्रह्म सम्पूर्ण विश्व का प्रदर्शन करता है। माया विश्व को प्रस्थापित करती हैं। अविद्या इसके विपरीत ज्ञान के अभाव को सकेत करने के कारण निषेधात्मक है। माया और अविद्या में दूसरा अन्तर यह है कि माया ईश्वर को प्रभावित करती है जबकि अविद्या जीव को प्रभावित करती है। माया का निर्माण मूलत 'सत्व' गुण से हुआ है जबकि अविद्या का निर्माण सत्व, रज् और तम् गुणों से हुआ है। माया का स्वरूप सात्विक है, अविद्या का स्वरूप त्रिगुणात्मक है।

ब्रह्मवैवर्त-पुराण के अनुसार- माया द्वारा प्रत्येक विश्व में दिक्पाल, ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर, देवगण और मनुष्य आदि स्थित हैं। धर्मात्मा पुरुष तपोबल से मोक्ष के लिए यहां (भारत में) जन्म

लेता है और विष्णु की माया से मोहित एव बद्ध होकर कर्म करता है[1]। क्योंकि सर्वसमर्थ नारायणी माया जिसपर प्रसन्न होती है उसी को भगवान श्रीकृष्ण अपनी भक्ति और उसका अभिलषित मत्र प्रदान करते हैं। उसे भगवान विष्णु की माया से मोहित ही जानना चाहिए।

ब्रह्मखण्ड के तेरहवें अध्याय मे बताया गया है कि विष्णु की माया से मोहित होने के कारण शोक से पीडित हो उसके शरीर के पास गये। तब उपबर्हण की पत्नी मालावती ने कहा- हे कृष्ण! आप सम्पूर्ण जगत् के नाथ है। हे नाथ! मै भी जगत से बाहर नहीं हूँ। प्रभो! आप जगत की रक्षा करते है, तो मेरी रक्षा क्यों नहीं कर रहे है? यह मेरा पति है और मै इसकी पत्नी हूँ, यह 'मेरा-तेरा' का भाव आपकी माया है। आप ही सबके स्वामी है और ऐसा होना ही अधिक सभव है, क्योंकि आप ही सबके कारण है[2]। चौदहवें अध्याय में बताया गया है कि- भगवान विष्णु की माया से मोहित होकर गृही ससार में बीज बोता है, समय पर उसमें अकुर निकलता है और समय प्राप्त होने पर वही वृक्ष होकर फलता है जो गृही को प्राप्त होता है[3]- यह सब कुछ माया ही है।

'अज्ञान' अर्थात अविद्या का आधार 'चित्' है। 'चित्' प्रकाशमय है। जब शुद्ध चित् रूप मनुष्य की चित्तवृत्तियों द्वारा धारण किया जाता है तो अज्ञान का विनाश हो जाता है, इसके पूर्व 'चित्' अज्ञान के आवरण में छिपा रहता है। अज्ञान का अधिष्ठान शुद्ध 'चित्' रूप है। माया के 'अविभूत' 'अहम्' या 'मै' के पीछे जो चित् है वह स्वय अविद्या के कारण ही उत्पन्न होता है। अविद्या चित् पर आश्रित है और 'चित्' ही इसका विषय है। स्वय प्रकाश-चित् अविद्या के आवरण में छिपा रहता है। अविद्या की ऐसी योग्यता है कि वह ब्रह्म को उसी प्रकार छिपा लेता है जैसे निद्रा में हमारी ज्ञान-चेतना में किसी भी वस्तु का बोध नहीं है। मनुष्य अज्ञान के कारण सुषुप्तावस्था में

---

[1] धर्मी मोक्षकृते जन्म प्रलभ्य तपस्य फलात्।

निबद्ध कुरुते कर्म मोहितो विष्णमायया।। - ब्र० वे० ब्र० ख १०/७८

२ ब्र० वै० ब्र० ख० - १३/४३, ४४

३ वही - १४/२६

रहता है। पचदशीकार ने माया को सर्वेश्वर अर्थात ब्रह्म की शक्ति कहा है अर्थात- जगत् के कारणभूत सत् वस्तु के पृथक तत्त्व से रहित और कार्य के द्वारा जानने योग्य अर्थात आकाश आदि कार्यो की उत्पत्ति जो सामर्थ्य रूप शक्ति है उसको माया कहते हैं। जैसे- अग्नि के स्वरूप से भिन्न और स्फोट आदि कार्य से जानने योग्य अग्नि का सामर्थ्य होता है ऐसे ही वस्तु की शक्ति माया है[1]। भाव यह है कि वस्तु के तत्व से अभिन्न और कार्य से अनुमित जो अग्नि की शक्ति के तुल्य वस्तु की शक्ति वह माया है क्योंकि कहीं भी कार्य से पहले किसी ने शक्ति को नहीं जाना।

इस पुराण के 'ब्रह्मखण्ड' के तेइसवें अध्याय में भी बताया गया है कि वह ब्रह्म स्वरूपा प्रकृति ब्रह्म से भिन्न नहीं है। वे सनातन भगवान उस प्रकृति द्वारा सृष्टि करते है। उस प्रकृति की कला से ससार की सारी स्त्रिया प्रकट हुई। प्रकृति ही माया है। उससे सब विमोहित है[2]। वह सनातनी, नारायणी, परमात्मा पुरूष की परमाशक्ति है जिससे वे आत्मेश्वर शक्तिमान् कहे जाते हैं। और उस (माया) के बिना वे सृष्टि करने में असमर्थ भी रहते है। मूल प्रकृति एक ही है, किन्तु वह विष्णु की सनातनी माया सृष्टि के समय पाच रूपों में प्रकट होती है, जिसका उल्लेख आगे प्रकृति या माया के स्वरूप नामक अध्याय में किया जायेगा।

सारी माया-भ्रान्ति का कारण अज्ञान है। यह अज्ञान अनादि है, यह भावरूप (जिसकी स्थिति है) परन्तु ज्ञान के द्वारा इसे दूर किया जा सकता है। अज्ञान के लिए कहा गया है कि 'अनादि-भावरूपत्वे सति ज्ञाननिवर्त्यत्वम्।' समय की अपेक्षा से जितनी वस्तुए आदि अर्थात् जिनका प्रादुर्भाव होता है उन सब में यह अनादि अज्ञान प्रकट होता है। सारे भौतिक पदार्थ इस अज्ञान अधकार के आवरण से आवृत है। किसी भी वस्तु के प्रत्यक्ष के लिए अज्ञान को दूर करना आवश्यक है। अज्ञान 'चित्' का ही आभावत्मक रूप है और चित् के समान ही अनादि है। अज्ञान 'चित्' से सम्पृक्त है। जहा ज्ञान नहीं वहा अज्ञान है। चित् की स्थिति अनादि अनन्त है। अज्ञान भी चित् का ही अन्यथा रूप है। यह भावरूप है। 'भाव' यहा अभाव का विलोम न होकर अभाव से भिन्नता सूचित करता है परन्तु अज्ञान की स्थिति अन्य पार्थिव वस्तुओं की स्थिति से भिन्न हैं।

---

[1] निस्तत्वा कार्यगम्याऽस्या शक्तिमार्याग्नि शक्तिवत्। नहि शक्ति क्वचित् कैश्चिद् बुध्यते कार्यत पुरा।। पचदशी पचभूत विवके-४७

[2] ब्र० वै० ब्र० ख० ३०/१२

ब्रह्मसूत्र में वादरायण ने बताया है।[1] कि जीवात्मा जिन-जिन वस्तुओं की रचना करता है वे वास्तविक नहीं हैं। इसके अतिरिक्त यह भी देखा जाता है कि स्वप्न में सभी वस्तुए पूर्णरूप से देखने में नहीं आती; जो कुछ देखा जाता है वह अनियमित और अधूरा ही देखा जाता है। प्रश्नोपनिषद् में तो स्पष्ट ही कहा गया है कि जाग्रत अवस्था में सुनी हुयी, देखी हुयी, और अनुभव की हुई वस्तुओं को स्वप्न में देखता है किन्तु विचित्र ढग से देखता है। देखी सुनी हुई को और न देखी-सुनी हुई को भी देखता है तथा अनुभव की हुई को और न अनुभव की हुई को भी देखता है। इन सब कारणों से यही सिद्ध होता है कि स्वप्न की सृष्टि वास्तविक नहीं है, जीव को कर्म फल का भोग कराने के लिए भगवान् अपनी योगमाया से उसके कर्मसस्कारों की वासना के अनुसार वैसे दृश्य देखने में उसे लगा देते है अत वह स्वप्न सृष्टि माया मात्र है।

यह माया साख्य दर्शन की प्रकृति के तुल्य स्वतत्र नहीं है अपितु परमेश्वर के परतत्र है। उसकी शक्तिरूपा है, परमेश्वर की शक्ति परमेश्वर से भिन्न नहीं होती किन्तु उसी से उद्‌भूत होकर उसी में विलीन हो जाती है। परब्रह्म या परमेश्वर इस माया या सनातन प्रकृति के द्वारा ही सृष्टि रचना में समर्थ है। क्योंकि सृष्टि सर्वज्ञतत्व, सर्वशक्तिमत्त्व धर्मो के बिना सभव नहीं और इन धर्मो की उत्पत्ति परमेश्वर में त्रिगुणत्मिका माया के द्वारा ही हो सकती है। इसीलिए वेदान्त सूत्रों में भगवान वादरायण ने लिखा है कि- 'परादेवता सर्वशक्ति युक्त है'[2] अर्थात वह परमात्मा सभी शक्तियों से पूर्ण है। छदोग्योपनिषद् में बताया गया है कि वह ब्रह्म सत्य संकल्प, आकाश स्वरूप, सर्वकर्मा, सर्वकाम, सर्वगध, सर्वरस, समस्त जगत् को सब ओर से व्याप्त करने वाला, वाणी रहित, और मान रहित है।[3] मुण्डकोपनिषद् में भी कुछ इसी प्रकार कहा गया है कि- "जो सर्वज्ञ, सबको जानने वाला, सबका ज्ञानमय तप है उसी परमेश्वर से यह विराट रूप जगत् और नाम रूप तथा अन्न उत्पन्न होते है।"[4] इस प्रकार माया, अविद्या आदि का कारण एक मात्र ब्रह्म ही है।

---

[1] माया मात्र तु कार्त्स्न्येनानभिव्यक्त स्वरूपत्वात्। - ब्रम्हसूत्र - ३/२/३

[2] सर्वोपेता च तद्दर्शनात्। - ब्रम्हसूत्र- २/१/३०

[3] छा० उ० - ३/१४/२

[4] मु० उ० १/१/६

बन्धन और मोक्ष-

वेदान्त के मतानुसार आत्मा का शरीर और मन में अपनापन का सम्बन्ध होना बन्धन है। अर्थात् आत्मा का शरीर के साथ आसक्त हो जाना ही बन्धन है। आत्मा शरीर से भिन्न है फिर भी वह शरीर की अनुभूतियों को निजी अनुभूतिया समझने लगती है। जिस प्रकार पिता अपनी प्रिय सतान की सफलता और असफलता को निजी सफलता और असफलता समझने लगता है, उसी प्रकार आत्मा शरीर के पार्थक्य के ज्ञान के अभाव में शरीर के सुख-दुख को निजी सुख-दुख समझने लगती है। यही बन्धन है।

आत्मा स्वभावत नित्य, शुद्ध, चैतन्य, मुक्त और अविनाशी है। परन्तु अज्ञान के वशीभूत होकर वह बधनग्रस्त हो जाती है। जबतक जीव में विद्या का उदय नहीं होगा, तब तक वह ससार के दु खों का सामना करता जायेगा। अविद्या का नाश होने के साथ ही साथ जीव के पूर्व संचित कर्मा का अन्त हो जाता है और इस प्रकार वह दुखों से छुटकारा पा जाता है।

अविद्या का अन्त ज्ञान से ही सभव है। शकर के अनुसार मोक्ष को अपनाने के लिए ज्ञान अत्यावश्यक है। मोक्ष को प्राप्त करने के लिए कर्म का सहारा लेना व्यर्थ है। मीमासा के अनुसार मोक्ष की प्राप्ति कर्म से सभव है परन्तु शकर के अनुसार कर्म और भक्ति ज्ञान की प्राप्ति में भले ही सहायक हो सकते है वे मोक्ष की प्राप्ति में सहायक नहीं हो सकते। ज्ञान और कर्म विरोधात्मक है। कर्म और ज्ञान अधकार और प्रकाश की तरह विरूद्ध स्वभाव वाले है। ज्ञान विद्या है जबकि कर्म अविद्या है। मोक्ष का अर्थ है अविद्या को दूर करना। अविद्या केवल विद्या के द्वारा ही दूर हो सकती है। शकर ने ज्ञान-कर्म समुच्चय को मोक्ष का उपाय नहीं माना है। शकर ने मात्र ज्ञान को ही मोक्ष का उपाय माना है।

ब्रह्मवैवर्त पुराण के ब्रह्मखण्ड के छठे अध्याय में बताया गया है कि वेत्ताओं ने मोक्ष और अमोक्ष रूपी सृष्टि (ईश्वर के समान सृष्टि करने की शक्ति), सालोक्य (ईश्वर की समान लोक मे रहना), सामीप्य (ईश्वर के समीप रहना), सारूप्य (ईश्वर के समान स्वरूप प्राप्त करना), साम्य (अपनी समता की प्राप्ति), और लीन होना "यही छ· प्रकार की मुक्ति बताई है।'[1] इसके अतिरक्ति

[1] साष्र्टिसालोक्य सारूप्य सामीप्य साम्यलीनताम्। वदन्ति षड्विधा मुक्ति मुक्ता मुक्तिविदो विभो।। ब्र० वै० ब्र० ख० -६/१७

'शिव-शिव' शब्द का उच्चारण करते हुये जो मनुष्य प्राण त्याग करता है वह कोटि जन्मों के सचित पापों से मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त करता है[1]। शिव शब्द कल्याण का वाचक है और कल्याण शब्द मोक्ष का। शिव के उच्चारण से मोक्ष या कल्याण की प्राप्ति होती हैं, इसलिए महादेव को शिव कहा गया है। (शिव शब्द में) 'शि' वर्ण पापनाशक और 'व' मुक्ति प्रदायक हैं। इसलिए मनुष्यों के पापनाशक एव मोक्षदाता होने के कारण वे 'शिव' कहे गये है[2]।

ब्रह्मखण्ड के आठवें अध्याय में नारद ने कहा है कि– पितामह! तीर्थसमूह पापियों के पाप मे अपने को शुद्ध करने के लिए वैष्णव का स्पर्श चाहते हैं। भारत में भगवान के मत्रोपदेश मात्र मे मनुष्य करोड़ों पूर्वजों तथा वशजों के साथ मुक्त हो जाते हैं[3]। ग्यारहवें अध्याय में बताया गया है कि "जो व्यक्ति नित्य भगवान कृष्ण का उच्छिष्ट या नैवेद्य भोजन करता है वह पवित्र आत्मा भूतल पर 'जीवन्मुक्त' होकर रहता है।[4] भगवान श्रीकृष्ण प्रकृति से परे तथा तीनों गुणों से अतीत-निर्गुण हैं। ब्रह्म, विष्णु और शिव आदि देवों के सेव्य, उनके आदिकारण, परात्पर, अविनाशी, परब्रह्म एव सनातन भगवान है। साकार, निराकार, ज्योतिःस्वरूप, स्वेच्छामय, व्यापक, सबके आधार, सबके अधीश्वर, परमानन्दमय, ईश्वर निर्लिप्त, तथा साक्षी रूप हैं। वे भक्तों के ऊपर कृपा करने के लिए शरीर धारण करते है। जो उनकी आराधना करता है वह सचमुच जीवन्मुक्त हो जाता है। अट्ठारहवें अध्याय में बताया गया है कि जो आस्तिक व्यक्ति वरदान की भक्ति समेत परम् आस्था से इसे पढ़ेगा, उसे धर्म, अर्थ, काम एव मोक्ष का फल निश्चित रूप से प्राप्त होगा। उसी प्रकार विद्यार्थी को विद्या, धनार्थी को धन, भार्यार्थी को स्त्री, पुत्रार्थी को पुत्र, धर्मार्थी को धर्म, तथा यश के इच्छुक को यश प्राप्त होता है। राज्यच्युत राजा को राज्य एव प्रजाहीन को प्रजा प्राप्त होगी, रोगी को रोग से और बधन में बधे हुये को बंधन से मुक्ति मिल जायेगी[5]।

---

[1] ब्र० वै० ब्र० ख० ६/४६

[2] पापघ्ने वतति शिश्च वश्च मुक्तिप्रदे तथा। पापघ्नों मोक्षदो नृणा शिवस्तेन प्रकीर्तित ।। - ब्र० वे० ब्र० ख० ६/५२

[3] ब्र० वै० ब्र० ख० - ८/५६-५७

[4] ब्र० वे० ब्र० खं० - ११/३४

[5] भ्रष्टराज्योलभेद्राज्य प्रजाभष्ट प्रजा लभेत्।रोगार्तो मुच्यते रोगाद्बद्धो मुच्यतें बन्धनात्।। - ब्र० वै० ब्र० ख०– १८/४८

शकर के अनुसार- ज्ञान की प्राप्ति वेदान्त-दर्शन के अध्ययन मे ही प्राप्त हो मकती है। परन्तु वेदान्त का अध्ययन करने के लिए साधक को माधना की आवश्यकता होती है, उमे भिन्न-भिन्न शर्तो का पालन करना पडता है। तभी वह वेदान्त का सच्चा अधिकारी बनता है। ये 'साधन-चतुष्ट्य' इस प्रकार है-

(१) नित्यानित्य- वस्तु- विवेक- अर्थात साधक को नित्य और अनित्य वम्तुओं में भेद करने का विवेक होना चाहिए।

(२) इहामुत्रार्थ- भोग- विराग- साधक को लौकिक और पारलौकिक भोगों की कामना का परित्याग करना चाहिए।

(३) शमदमादि- साधन- सम्पत्- साधक को शम, दम, श्रद्धा, समाधान उपरति और तितिक्षा- इन छ साधनों को अपनाना चाहिए।

(४) मुमुक्षुत्व- साधक को मोक्ष प्राप्त करने का दृढ सकल्प होना चाहिए। इन प्रणालियों से गुजरने के बाद पूर्व सचित सस्कार नष्ट हो जाते है जिसके फलस्वरूप ब्रह्म की सत्यता में अटल विश्वास हो जाता है। तब साधक को गुरु 'तत्त्वमसि' (तू ही ब्रह्म है) की दीक्षा देते हुये जब साधक इस तथ्य की अनुभूति करने लगता है तब वह ब्रह्म का साक्षात्कार पाता है। जिसके फलस्वरूप वह कह उठता है ' अह ब्रह्मास्मि'। जीव और ब्रह्म का भेद हट जाता है बधन का अन्त हो जाता है, तब मोक्ष की अनुभूति हो जाती है। मोक्ष की अवस्था में जीव ब्रह्म में विलीन हो जाता है। जिस प्रकार की वर्षा की बूँदे समुद्र में मिलकर एक हो जाती हैं, उसी प्रकार जीव ब्रह्म के साथ एकाकार हो जाता है। शकर का मोक्ष सम्बन्धी यह विचार रामानुज के मोक्ष सम्बन्धी विचार से भिन्न है। रामानुज के अनुसार जीव ब्रह्म के सादृश्य मोक्ष की अवस्था में होता है, वह ब्रह्म नहीं हो जाता है।

प्रकृतिखण्ड के छठे अध्याय में बताया गया है कि- भगवान विष्णु का मत्र गुरु के मुख से निकलकर जिसके वर्ण विवर में प्रविष्ट होता है वह वेद-वेदाग से भी पवित्र और नरोत्तम कहा जाता है[1]। जिसके जन्म मात्र से उसके सौ पूर्वज शुद्ध हो जाते है और वे स्वर्ग-नरक कहीं भी हो उसी

---

[1] ब्र० वै० प्र० ख० ६/११४

क्षण उनकी मुक्ति हो जाती है।[1] यदि उन पूर्वजों में से किन्हीं का कहीं जन्म हो गया हो तो उन्होनें जिस योनि में जन्म पाया है वहीं उनमें जीवान्मुक्तता आ जाती है। ऐसा इस पुराण में कहा गया है और समयानुसार वे परमधाम को चले जाते है। तथा पुत्रहीन को पुत्र और स्त्रीहीन को स्त्री की प्राप्ति होती है, रोगी रोग से मुक्त हो जाता है और बधन में पडा हुआ व्यक्ति उससे मुक्त हो जाता है[2]।

उपनिषदों में भी बधन और मोक्ष का विचार निहित होने के कारण मोक्ष को जीवन का चरम् लक्ष्य माना गया है। इनके अनुसार अविद्या बधन का कारण है। अविद्या के कारण अहकार उत्पन्न होता है। यह अहकार ही जीवों को बधन-ग्रस्त कर देता है। इसके प्रभावों में जीव इन्द्रिया, मन, बुद्धि अथवा शरीर से तादात्म्य करने लगता है। बधन की अवस्था में जीव को ब्रह्म, आत्मा, जगत् के वास्तविक स्वरूप का अज्ञान रहता है। इस अज्ञान के फलस्वरूप वह अवास्तविक एव क्षणिक पदार्थ को वास्तविक तथा यथार्थ समझने लगता है। बधन को उपनिषद् में 'ग्रन्थि' भी कहा गया है। ग्रन्थि का अर्थ 'बध जाना'।

विद्या से ही मोक्ष सभव है क्योंकि अहकार का छुटकारा विद्या से सभव है। विद्या के विकास के लिए उपनिषद् में नैतिक अनुशासन पर बल दिया गया है। इन अनुशासनों में सत्य, अहिसा, अस्तेय, ब्रम्हचर्य और अपरिग्रह प्रमुख है। मोक्ष की अवस्था में जीव अपने यथार्थ स्वरूप को पहचान लेता है तथा ब्रह्म के साथ तादात्म्यता को प्राप्त हो जाता है। जीव का ब्रह्म से एकत्र हो जाना ही मोक्ष है। जिसप्रकार नदी समुद्र में मिलकर एक हो जाती है, उसी प्रकार जीव ब्रह्म में मिलकर एक हो जाता है।

इस प्रकार मुक्ति ऐक्य का ज्ञान है। मोक्ष की अवस्था में एक ब्रह्म की अनुभूति होती है तभी सभी वेदों का अन्त हो जाता है उपनिषद् में मोक्ष को आनन्दमय अवस्था माना गया है। मोक्ष की

---

[1] ब्र० वै० प्र० ख० ६/११५

[2] अपुत्रों लभते पुत्र भार्याहीनो लभेत्प्रियाम्।

रोगान्मुच्यतेत रोगी च बद्धोमुच्येत बन्धनात्।। ब्र० वै० प्र० ख०- १०/१३७

अवस्था में जीव का ब्रह्मसे एकाकार हो जाता है। बह्म आनन्दमय है, इसलिए मोक्षावस्था को भी आनन्दमय माना गया है।

अध्याय ४

"प्रकृति या माया का स्वरूप"

ब्रह्मवैवर्त पुराण के 'प्रकृतिखण्ड' में प्रकृति का स्वरूप बतलाते हुए नारायण बोले कि- (प्रकृति शब्द में) 'प्र' का अर्थ है 'प्रकृष्ट' और कृति का अर्थ है 'सृष्टि'। अत· सृष्टि करने में प्रकृष्ट गुण सम्पन्न होने वाली देवी को प्रकृति कहा गया है। वेद में 'प्र' शब्द का प्रकृष्ट सत्त्वगुण अर्थ बताया गया है, 'कृ' शब्द का माध्यम रजोगुण और 'ति' शब्द का तमोगुण अर्थ कहा गया है। इस प्रकार त्रिगुणस्वरूपवाली सर्वशक्तिमती को सृष्टि में प्रधान होने के नाते प्रकृति कहा गया है[1]। प्रथम अर्थ मे 'प्र' शब्द और सृष्टि अर्थ मे 'कृति' शब्द का प्रयोग होता है। अत सृष्टि की आदि देवी को प्रकृति कहते है[2]। सृष्टि विधानकाल में वह परब्रह्म योग द्वारा दो रूपों में प्रकट होते हैं। उनके दाहिने अग से उत्पन्न होने वाले को 'पुरुष' और बायें अग से उत्पन्न होने वाली को प्रकृति कहते है[3]।

वह ब्रह्म स्वरूपा माया जो नित्य और सनातनी है, वह अग्नि में दाहिका शक्ति की भॉति आत्मा की शान्तिरूप है। नारद! इसलिये योगीन्द्र लोग स्त्री-पुरूष का भेद नहीं मानते वे सबको निरन्तर ब्रह्ममय देखते है[4]। ब्रह्मन् वह ईश्वरी मूल प्रकृति स्वेच्छामय भगवान् श्रीकृष्ण की सृष्टि करने वाली इच्छा द्वारा सहसा प्रकट हुई है।

प्रकृति या माया ब्रह्म की शक्ति है, अतएव शक्ति शक्तिमान् के अभेद सिद्धान्त होने से ब्रह्म से अभिन्न है। शक्ति होने से वह ब्रह्म से स्वतत्र नहीं हैं। उसी के कारण ब्रह्म सृष्टि करने में समर्थ होता है। वह आदिशक्ति सनातन है। शक्ति शक्तिमान् से अभिन्न होने से वस्तुत जगत् का कारण ब्रह्म ही है। जैसे- घट निर्माण में मृत्तिका तथा कुण्डलादि निर्माण में स्वर्ण की सहायता अपेक्षित होने

---

[1] प्रकृष्टवाचक प्रश्च कृतिश्च सृष्टिवाचक। सृस्टौ प्रकृष्टा या देवी या देवी प्रकृति सा प्रकीर्तिता।। ब्र० वै० प्र० ख० १/५

[2] वही ब्र० वै० प्र० ख० १/८

[3] वही ब्र० वै० प्र० ख० १/६

[4] अतएव हि योगीन्द्र स्त्रीषुभेद न मन्यते। सर्वब्रह्ममय ब्रह्मछश्वत्पश्यति नारद।। ब्र० वै० प्र० ख० १/११

पर भी उसके कर्ता कुलाल-स्वर्णकार ही कहलाते है। अतएव- "इसके पति, गति, रक्षक स्रष्टा सहारक एव पुन सृष्टि करने वाला है।"[1]

ब्रह्म, निर्गुण, निर्लेप निष्क्रिय तथा निर्धर्मक है, वह प्रकृत्य पर पर्याया माया के बिना सगुण साकार सर्वज्ञ शक्तिमान् नहीं बनता और न ही सृष्टि की रचना स्थिति तथा सहार कार्य ही कर सकता है जीव और ईश्वर की सत्ता भी माया पर ही निर्भर करती है। पचदशीकार[2] ने बतलाया है कि- वह माया ही आभास के द्वारा जीव और ईश्वर का निर्माण करती है। तब उनमें आवान्तर भेद कैसा? इस प्रश्न के समाधान में कहते है कि ईश्वर और जीव दोनों ही मेघाकाश और जलाकाश के समान सुव्यवस्थित है। अर्थात- ईश्वर और जीव दोनों मायिक हैं, तो भी वासना रूप अस्पष्ट और बुद्धि रूप स्पष्ट उपाधि वाले है इसलिए दोनों का भेद स्पष्ट प्रतीत होता है। इसी माया में प्रतिबिम्बित चैतन्य सत्त्व, रज् और तम् इन गुणों के द्वारा ब्रह्मा, विष्णु और महेश बनकर प्रपच की सृष्टि, रक्षा व सहार करता है।

माया ब्रह्म में निवास करती है यद्यपि माया का आश्रम ब्रह्म है फिर भी ब्रह्म माया से प्रभावित नहीं होता। जिसप्रकार रूपहीन आकाश पर आरोपित नीले रग का प्रभाव आकाश पर नहीं पडता उसीप्रकार माया भी ब्रह्म को प्रभावित करने में असफल रहती है। माया का निवास ब्रह्म में है, ब्रह्म अनादि है। अत ब्रह्म की तरह माया अनादि है; माया और ब्रह्म में तादात्म्य का सम्बन्ध है। माया ब्रह्म की शक्ति है जिसके आधार पर वह विश्व का निर्माण करता है। माया के कारण निष्क्रिय ब्रह्म सक्रिय हो जाता है। माया सहित ब्रह्म ही ईश्वर है। गीता में भगवान् ने स्वय कहा है[3] कि- "पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहकार भी- इस प्रकार यह आठ प्रकार से विभाजित मेरी प्रकृति है, यह आठ प्रकार के भेदों वाली तो अपरा अर्थात मेरी जड़ प्रकृति है और हे

---

[1] त्वमेव जगता पति। गतिश्च याता सृष्टा च सहर्ता च पुनर्विधि।। ब्र० वै० ब्र० ख० ३/७८

[2] मायाभासेन जीवेशौ करोतीति श्रुतौ श्रुतम्।

मेघाकाशजलाकाशाविव तौ सुव्यवास्थितौ।। पचदशी चित्रदीप - १५५

[3] भूमिरापोऽनलो वायु रव मनोबुद्धिरेव च।

अहकार इतीय मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा।। - गीता ७/४

अपरेयमितस्त्वन्या प्रकृति विद्धि में मराम्।

जीवभूता महाबाहों ययेद धार्यतिजगत्।। - गीता ७/५

महाबाहों! इससे दूसरी को, जिससे यह सम्पूर्ण जगत् धारण किया जाता है मेंरी जीवरूपा परा अर्थात चेतन प्रकृति जान"।

परमात्मा की शक्ति रूप प्रकृति सूक्ष्म है, वह देखने और वर्णन करने में नहीं आती, उसी का अश कारण शरीर है अत उसे अव्यक्त करना उचित ही है[1]। परन्तु वेद में उस प्रकृति को परब्रह्म परमेश्वर के ही अधीन रहने वाली उसी को एक शक्ति बताया है[2]। अर्थात्- शक्ति शक्तिमान् से भिन्न नहीं होती अत. उसका स्वतत्र अस्तित्व नहीं माना जाता। इस प्रकार परमात्मा के अधीन उसी की एक शक्ति होने के कारण उसी की सार्थकता है, क्योंकि शक्ति होने से ही शक्तिमान परमेश्वर के द्वारा जगत् की सृष्टि आदि कार्यो का होना सभव है। यदि परब्रह्म परमेश्वर को शक्तिहीन मान लिया जाय, तब वह इस जड-चेतनात्मक सम्पूर्ण जगत् का कर्ता-धर्ता और सहर्ता कैसे हो सकता है? फिर तो उसे सर्वशक्तिमान भी कैसे माना जा सकता है? 'श्वेताश्वतरोपनिषद्'[3] में स्पष्ट बताया गया है कि[4]- "महर्षियों ने ध्यानयोग मे स्थित होकर परमात्म देव की स्वरूपभूता अचिन्त्य शक्ति का साक्षात्कार किया जो अपने गुणों से आवृत्त है।"

वह परमात्मा सभी शक्तियों सम्पन्न है ऐसी बात वेद में सभी जगह पर कही गयी है। स्वप्न प्रपच के तुल्य दृश्यत्व, जन्मत्त्व, अनिर्वचनीयत्व, अज्ञान कल्पितत्त्व आदि हेतुओं से जाग्रत प्रपच में भी मिथ्यात्त्व सिद्ध होता है। ब्रह्मवैवर्त-पुरण में भी प्रपच मिथ्यात्त्व का स्वप्न दृष्टात तथा जल बुद्-बुद् दृष्टान्त में बताया गया है कि- यह चर-अचरमय सारा संसार जल के बुलबुले की भाँति (क्षणिक) है। प्रात काल के स्वप्न के समान मिथ्या एव केवल मोह का कारण है। पंचभौतिक शरीर एवं ससार के निर्माण का हेतु भी मिथ्या एव अनित्य है। माया से ही मनुष्य इसे सत्य मान रहा हैं। वह समस्त कर्मो में काम, क्रोध, लोभ और मोह से वेष्टित है तथा माया से सदा मोहित, ज्ञानहीन एव दुर्बल है।

---

[1] सूक्ष्म तु तदर्हत्वात् - ब्रह्मसूत्र- १/४/२

[2] तदधीनत्वादर्थवत् - ब्रम्हसूत्र - १/४/३

[3] 'ते ध्यान योगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्ति स्वगुणैर्निगूढाम्।' -श्वेताश्वररोपनिषद् - १/३

[4] जलबुद्बुद वत्सर्व ससार सचराचरम्। प्रभातेस्वप्नवन्मिथ्या मोह कारण मेव च।। ब्र० वै० कृ ख० ७८/१७

मिथ्या कृत्रिमनिर्माण हेतुश्च पाचभौतिक। मापया सत्यबुद्धयाच प्रतीति जायते नर।। ७८/१८

काम क्रोधलोभमोहै वैंष्टित सर्वकर्मसु। मापया मोहित शश्वज्ज्ञानहीनश्च दुर्बल।। १७/१९

साख्य के अनुसार सृष्टि की उत्पत्ति के पूर्व इसी प्रकार की गुण रहित दशा थी, एक ऐमी दशा जिसमें गुणों के मिश्रण एक वैषम्य की स्थिति में आ गये थे और परस्पर विरोध के कारण सतुलन की स्थिति अर्थात् प्रकृति बनी। बाद में प्रकृति में विकार उत्पन्न हुआ और उमके फलस्वरूप विभिन्न मात्राओं में गुणों के विषम मिश्रण बनने लगे जिससे विविध प्रकार की सृष्टि पैदा हुयी। इस प्रकार गुणों के पूर्ण साम्य और परस्पर विरोध की स्थिति अर्थात् प्रकृति उद्विकसित होकर धीरे-धीरे निश्चित नियत, विभेदीकृत, विषमजातीय और ससक्त होती गयी। गुण हमेशा मिश्रित पृथग्भूत और पुनर्मिश्रित होते रहते है[1] अर्थात-सत्त्व, हल्का अतएव प्रकाशक रजस् प्रवृत्तिशील (चचल) अतएव उत्तेजक, एव तमस् भारी अतएव अवरोधक (नियामक) माना गया है। एक ही प्रयोजन की सिद्धि के लिए तीनों ही प्रदीप के समान मिलकर कार्य करते है। (अव्यक्त इत्यादि सूक्ष्म पदार्थो में भी) अविवेकित्व इत्यादि धर्मो की सत्ता सिद्ध होती है क्योंकि ये त्रिगुणात्मक है और इसके अभाव में अव्यक्त आदि पदार्थो में तीनों गुणों का अभाव हो जायेगा, और कार्य के कारण- गुणों से ही युक्त होने से (इन अविवेकित्व आदि धर्मो के आश्रयभूत) अव्यक्त की भी सत्ता सिद्ध होती है। इसके अतिरिक्त महदादि कार्यो के परिमित होने, कारण के सादृश्य होने, कारण की शक्ति से उत्पन्न होने, कारण से ही आविर्भूत होने तथा उसी में तिरोभूत होने से सबका एक कारण 'अव्यक्त' अवश्य है, जो अपने तीनों गुणों के स्वरूप से, एवं एक-एक गुण के प्राधान्य से उत्पन्न अनेकत्व के कारण जल की तरह विविध परिणामों के योग से तीनों के मिश्रित रूप से परिणित होता रहता है।

विश्व में दो प्रकार की वस्तुयें दीख पडती हैं जिनमें एक स्थूल है और दूसरी सूक्ष्म नदी, पहाड, टेबुल, वृक्ष आदि विश्व के स्थूल पदार्थ है और मन, बुद्धि, अहकार आदि विश्व के सूक्ष्म पदार्थ हैं। विश्व का कारण उसे ही माना जा सकता है जो विश्व के स्थूल और सूक्ष्म दोनों पदार्थो की व्याख्या कर सकें। यदि विश्व का कारण परमाणु को माना जाय तो सम्पूर्ण विश्व की व्याख्या असभव है। परमाणुओं द्वारा विश्व की स्थूल वस्तुओं की व्याख्या हो जाती है, परन्तु विश्व के सूक्ष्म पदार्थ जैसे मन, बुद्धि, अहकार आदि की व्याख्या सभव नहीं होती। परमाणुओं को विश्व का कारण मानने से विश्व की पचास प्रतिशत वस्तुओं की ही व्याख्या हो पाती है। इसके अतिरिक्त यदि

---

[1] सा० का०- १३-१६

परमाणुओं को विश्व का कारण मान लिया जाय तो विश्व की व्यवस्था की व्याख्या नहीं हो सकती क्योकि परमाणु चार प्रकार के हैं जो एक दूसरे से भिन्न हैं।

अद्वैतवेदान्त और महायान बौद्ध- दर्शन विश्व का कारण चेतना को मानते है। परन्तु यह विचार भी अमान्य प्रतीत होता है, क्योंकि चेतना से सिर्फ विश्व के सूक्ष्म पदार्थो की व्याख्या हो सकती है। चेतना स्थूल पदार्थो की व्याख्या करने में असमर्थ है। अत. अद्वैत-वेदान्त एव महायान बौद्ध-दर्शन की व्याख्या अधूरी है।

साख्य विश्व का कारण मानने के लिए प्रकृति की स्थापना करता है। प्रकृति एक है इसलिए उससे विश्व की व्यवस्था की व्याख्या हो जाती है। प्रकृति जड होने के साथ ही साथ सूक्ष्म पदार्थ भी है। इसलिए प्रकृति सम्पूर्ण विश्व में जिसमें स्थूल एव सूक्ष्म पदार्थ की व्याख्या करने में समर्थ हैं। इसलिए साख्य ने विश्व का आधार प्रकृति को माना है। प्रकृति को प्रकृति इसलिए कहा जाता है कि यह विश्व का मूल कारण है। परन्तु वह स्वय कारणहीन है।

प्रकृति को प्रधान कहा जाता है। ब्रह्मवैवर्त-पुराण के प्रकृति खण्ड के प्रथम अध्याय में विष्णु की प्रिया तुलसी को प्रकृतिदेवी का प्रधान अग माना गया है। ये पतिव्रता विष्णु के आभूषण स्वरूप है। ये सदा विष्णु के चरण में विराजमान रहती है। मुने! तपस्या, सकल्प और पूजा आदि सभी शुभ कर्म इन्हीं से शीघ्र सपन्न होते हैं[1]। प्रकृति को प्रधान इसलिए कहा जाता है। क्योंकि वह विश्व का प्रथम कारण है। प्रथम कारण होने के कारण विश्व की समस्त वस्तुयें प्रकृति पर आश्रित है किन्तु प्रकृति स्वय स्वतत्र है। प्रकृति को ब्रह्मा कहा जाता है। बह्मा उसे कहा जाता है जिसका विकास हो। प्रकृति स्वय विकसित होती है इसका विकास भिन्न-भिन्न पदार्थो में होता है, इसलिए उसे ब्रह्मा की सज्ञा दी गयी है। प्रकृति को अव्यक्त कहा जाता है। प्रकृति विश्व का कारण होने के नाते विश्व के सारे पदार्थ प्रकृति में अव्यक्त रूप से मौजूद रहते हैं, इसीकारण प्रकृति को अव्यक्त कहा गया है। प्रकृति को अनुमान कहा जाता है। प्रकृति का ज्ञान प्रत्यक्ष से सभव नहीं है। प्रकृति का ज्ञान अनुमान के माध्यम से होता है जिसके फलस्वरूप इसे 'अनुमान' कहा जाता है

---

[1] विष्णु भूषणरूपा च विष्णुपादस्थिता सती।

तप सकल्पपूजादि सद्य सपादनी मुने।। - ब्र० वै० प्र० ख० १/६७

प्रकृति को जड कहा जाता है, क्योंकि यह मूलत भौतिक पदार्थ है।

प्रकृति को माया कहा जाता है। माया उसे कहा जाता है जो वस्तुओं को सीमित करती है। प्रकृति विश्व की समस्त वस्तुओं को सीमित करती है, क्योंकि वह कारण है और विश्व की समस्त वस्तुयें कार्य हैं। कारण स्वभावत कार्य को सीमित करता है। अत भिन्न-भिन्न वस्तुओं को सीमित करने के फलस्वरूप प्रकृति को माया कहा गया है। इस पुराण के 'ब्रह्मखण्ड' के तीसवें अध्याय में बताया गया है कि- प्रकृति ही माया है और पूर्णब्रह्मस्वरूप वाली वह मूल प्रकृति एक ही है, किन्तु वह विष्णु की सनातनी माया सृष्टि के समय पाच रूपों में प्रकट होती है[1]।

इस भॉति भगवान कृष्ण के प्राणों की उस अधिष्ठात्री देवी को, जो समस्त प्रकृतियों में उन्हें सबसे अधिक प्रिय है 'राधा' कहा गया है।[2] समस्त सम्पतियों का रूप धारण करने वाली लक्ष्मी, जो नारायण की प्रिया है दूसरी प्रकृति हैं, एव वाणी की अधिष्ठात्री देवी पूज्या सरस्वती तीसरी प्रकृति हैं। ब्रह्मा की प्रिया वेदमाता सावित्री चौथी, और शकर की प्रिया दुर्गा, जिनके पुत्र गणेश हैं, पाचवी प्रकृति हैं[3]।

'प्रकृतिखण्ड' के प्रथम अध्याय में बताया गया है कि- "गणेश की माता दुर्गा, शिव (कल्याण) रूपा और शिव की प्रिया हैं। उस पूर्ण ब्रह्मस्वरूपिणी, नारायणी, विष्णु की माया का ब्रह्मादि देवगण, मुनिगण और मनुगण सदैव पूजन करते रहते है वह सबकी अधिष्ठात्री देवी एवं सनातनी ब्रह्मरूपा है। वह यश, मगल, धर्म, श्री, सत्य, पुण्य, मोक्ष एव हर्ष प्रदान करने वाली शोक-दु ख का नाश करने वाली है।

प्रकृति को शक्ति कहा जाता है, क्योकि उनमें निरतर गति विद्यमान रहती है। प्रकृति जिस अवस्था में भी हो निरतर गतिशील दीख पड़ती है। पुराण के अनुसार- वह सर्वशक्तिस्वरूपा है तथा शकर को नित्य शक्ति प्रदान करती है। वह सिद्धेश्वरी ,सिद्धिरूपा, सिद्धि देने वाले की अधीश्वरी है[4]।

---

[1] मूल प्रकृतिरेका सा पूर्णब्रह्मस्वरूपिणी। सृष्टौ पन्चविधा सा च विष्णुमाया सनातनी।। - ब्र० वै० प्र ख० ३०/१८

[2] वहीं - ३०/१६

[3] वहीं ३०/२१

[4] सर्वशक्तिस्वरूपा च शक्तिरीशस्य सततम्। सिद्धेश्वरी सिद्धरूपा सिद्धिदा सिद्धिदेश्वरी।। - ब्र० वे० प्र० ख०- १/१८

बुद्धि, निद्रा, क्षुधा, पिपासा, छाया, तन्द्रा, दया, स्मृति, जाति, क्षान्ति, शान्ति, कान्ति, भ्रान्ति, चेतना. तुष्टि, पुष्टि, लक्ष्मी, वृत्ति तथा माया नाम से प्रसिद्ध देविया परमात्मा कृष्ण की सर्वशक्ति म्वरूपा प्रकृति हैं[१]। परमात्मा विष्णु की शक्ति पद्मा शुद्ध सत्व स्वरूपा, समस्त सम्पत्ति-स्वरूपा तथा सम्पत्ति की अधिष्ठात्री देवी हैं।

प्रकृति को अविद्या कहा जाता है क्योंकि वह ज्ञान का विरोधात्मक है। प्रकृति एक है। साख्य दो तत्वों की सत्ता स्वीकार करता है जिसमें पहला तत्व प्रकृति है। इसलिए प्रकृति को तत्व माना गया है। प्रकृति स्वय स्वतत्र है, यद्यपि विश्व की प्रत्येक वस्तु प्रकृति पर आश्रित है। प्रकृति की सत्ता के लिए किसी दूसरी वस्तु की अपेक्षा नही है, इसलिए प्रकृति को स्वतत्र सिद्धान्त भी कहा गया है। प्रकृति विश्व की विभिन्न वस्तुओं का कारण है, परन्तु स्वय अकारण है। वह जड, द्रव्य, प्राण, मन, अहकार आदि का मूल कारण है। यद्यपि प्रकृति समस्त वस्तुओं का मूल कारण हैं, परन्तु वह स्वय उन वस्तुओं से भिन्न है। प्रकृति स्वतत्र है जबकि वस्तुए परतत्र हैं। प्रकृति निरवयव है जबकि वस्तुयें सावयव हैं, प्रकृति एक है जबकि वस्तुयें अनेक है। प्रकृति दिक्, काल की सीमा से बाहर है जबकि वस्तुयें दिक् और काल में निहित हैं।

प्रकृति अदृश्य है क्योंकि वह अत्यन्त ही सूक्ष्मता के कारण प्रत्यक्ष का विषय नहीं है। प्रकृति का ज्ञान अनुमान से प्राप्त होता है। प्रकृति अव्यक्त है। साख्य सत्कार्यवाद में विश्वास करता है। जिसके अनुसार कार्य उत्पत्ति के पूर्व कारण में मौजूद रहता है। प्रकृति विश्व की विभिन्न वस्तुओं का कारण है। अत· सम्पूर्ण विश्व कार्य के रूप में प्रकृति में अन्तर्भूत रहता है। प्रकृति अचेतन है क्योंकि वह जड है। जड मे चेतना का अभाव रहता है। यद्यपि प्रकृति अचेतन है फिर भी वह सक्रिय है। प्रकृति में क्रियाशीलता निरन्तर दीख पडती है क्योकि उसमें गति अन्तर्भूत है। प्रकृति एक क्षण के लिए भी निष्क्रिय नहीं हो सकती है। प्रकृति को व्यक्तित्वहीन माना गया है, क्योंकि बुद्धि और सकल्प व्यक्तित्व के दो चिन्ह का वहा पूर्णत· अभाव है प्रकृति शाश्वत है, क्योंकि वह ससार की सभी वस्तुओं का मूल कारण है, वह अशाश्वत नहीं हो सकती है। इसलिए प्रकृति को शाश्वत अर्थात् अनादि और अनन्त कहा गया है।

---

[1] ब्र० वे० प्र० ख०- १/२०

ब्रह्मसूत्र में बताया गया है- साख्यमतावलम्बी प्रकृति को ज्ञेय मानते है। उनके अनुसार- गुणपुरुषान्तरज्ञानात् कैवल्यम् अर्थात 'गुणमयी प्रकृति और पुरुष का पार्थक्य जान लेने से कैवल्य (मोक्ष) प्राप्त होता है'। प्रकृति के स्वरूप को अच्छी तरह जाने बिना उससे पुरुष का पार्थक्य (भेद) कैसे ज्ञात हो सकता है? अत उनके मत में प्रकृति भी ज्ञेय है। परन्तु वेद में प्रकृति को ज्ञेय अथवा उपास्य कहीं भी नहीं बतलाया गया है। वहा तो एकमात्र परब्रह्म परमेश्वर को जानने योग्य तथा उपास्य बताया है। इससे यहीं सिद्ध होता है कि वेदोक्त प्रकृति साख्यवादियों के माने हुए 'प्रधान' तत्त्व से भिन्न है। अपने मत की पुष्टि के लिए सूत्रकार स्वय ही शका उठाकर उसका समाधान करते हुए कहते हैं कि **'वदतीति चेन्न प्राज्ञो हि प्रकरणात्'**। कठोपनिषद् में बताया गया है कि 'जो शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गध से रहित, अविनाशी, नित्य, अनादि, अनन्त, महत्, से परे तथा ध्रुव है, उस तत्व को जानकर मनुष्य मृत्यु के मुख से छूट जाता है'[1]।

इस मत्र में ज्ञेय तत्व के दो लक्षण बतायें गये हैं ये सब साख्योक्त प्रधान में भी सगत होते है; अत यहा प्रधान को ही ज्ञेय बताना सिद्ध होता हैं। परन्तु ऐसी बात जो कहे उसका यह कथन ठीक नहीं; क्योकि यहा परब्रह्म परमेश्वर के स्वरूप वर्णन का ही प्रकरण है। अत उसमें परमात्मा के ही स्वरूप का वर्णन तथा उसे जानने के फल का प्रतिपादन है।

साख्य दर्शन मे विश्व की अवस्था के लिए प्रकृति को माना गया है। प्रकृति से ही नानारूपात्मक जगत् की व्याख्या होती है। सम्पूर्ण विश्व प्रकृति का रूपान्तरित रूप है। शकर के दर्शन में माया के आधार पर विश्व की विविधता की व्याख्या की जाती है। माया ही नाना रूपात्मक जगत् को उपस्थित करती है। शकर की माया और सांख्य की प्रकृति में दूसरा साम्य यह है कि माया और प्रकृति दोनों का निर्माण सत्त्व, रजस् और तमस् गुणों के सयोजन से हो पाया है। शकर की माया साख्य की प्रकृति की तरह त्रिगुणात्मक है। शकर की माया और साख्य की प्रकृति में तीसरा साम्य यह है कि दोनों भौतिक और अचेतन हैं। साख्य की प्रकृति की तरह शकर की माया भी जड है।

---

[1] अशब्दमस्पर्शमरूपमव्यय तथारस नित्यमगन्धवच्च यत्।

अनाद्यनन्त महत पर ध्रुव निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते।। कठो० १/३/१५

शकर की माया और साख्य की प्रकृति में चौथा साम्य यह है कि दोनों मोक्ष की प्राप्ति में बाधक प्रतीत होते हैं। पुरुष प्रकृति से भिन्न है परन्तु अज्ञान के कारण वह प्रकृति से अपनापन का सम्बन्ध उपस्थित कर लेता है। यही बधन है। मोक्ष की प्राप्ति तभी हो सकती है जब प्रकृति अपने को पुरुष से भिन्न होने का ज्ञान पा जाये। मोक्ष के लिए पुरुष प्रकृति से पृथक्करण की माग करता है। शकर के अनुसार भी मोक्ष की प्राप्ति तभी हो सकती है जब अविद्या का, जो माया का ही दूसरा रूप है अन्त हो जाय। आत्मा मुक्त है, परन्तु अविद्या के कारण वह बधन-ग्रस्त हो जाती है। इन विभिन्नताओं के बावजूद माया और प्रकृति में अनेक अन्तर है।

माया और प्रकृति में पहला अन्तर यह है कि माया को परतत्र माना गया है जबकि प्रकृति स्वतत्र है। माया का आश्रय-स्थान ब्रह्म या जीव होता है, परन्तु प्रकृति को अपने अस्तित्व के लिए किसी दूसरी सत्ता की अपेक्षा नहीं करनी पड़ती। माया और प्रकृति मे दूसरा भेद यह है कि प्रकृति यथार्थ है, जबकि माया अयथार्थ है। साख्य पुरुष और प्रकृति को यथार्थ मानने के कारण द्वैतवादी कहा जाता है; परन्तु शंकर के दर्शन मे ब्रह्म को छोड़कर सभी विषयों को असत्य माना गया है। ब्रह्मवैवर्त पुराण मे समस्त ईश्वरों के ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण के साथ, जो समस्त कारणों के कारण, सबके आदि सब देवों के सेव्य, सबके अन्तरात्मा, माया द्वारा अनेक रूप धारण करने वाले (सगुण) अथवा निर्गुण एक ही रहने वाले है, अन्य की समता करता है, उसे ब्रह्म हत्या लगती है।'[1] प्रकृतिखण्ड के छत्तीसवें अध्याय में बताया गया है कि उस तत्त्ववेत्ता को उस प्रदीप्त निर्मल ज्ञान द्वारा ब्रह्मा से लेकर तृण पर्यन्त सारा जगत् मिथ्या दिखाई देता है।[2] इस प्रकार पौगाण्डावस्था तक यातनाओं का भोग करता हुआ वह युवावस्था प्राप्त करता है, जिसमें वह जीव गर्भादि के दु:खों का स्मरण भी माया से परवश होने के कारण कभी नहीं कर पाता है।

---

[1] माययाऽनेक रूपे वाऽप्येक एव हि निर्गुणे।

करोत्यन्येन समता ब्रह्महत्या लभेत्तु स।। - ब्र० वै० प्र० ख० ३०/१५६

[2] "निर्मलज्ञानदीपेन प्रदीप्तेन च तत्ववित्।

ब्रह्मादि तृण पर्यनत सर्व मिथ्यैव पश्यति।।" - ब्र० वै० प्र० ख० ३६/११०

"प्रकृति या माया की विशेषताएं"

शकर के मतानुसार माया की अनेक विशेषताए है। माया की पहली विशेषता यह है कि यह अध्यास रूप है। जहा जो वस्तु नहीं वहा उस वस्तु को कल्पित करना अध्यास कहा जाता है। जिस प्रकार रस्सी में साप और सीपीं में चॉदी का आरोपण होता है, उसी प्रकार निर्गुण ब्रह्म में जगत् अध्यासित हो जाता है। चूँकि अध्यास माया के कारण होता है इसलिए माया को मूलविद्या कहा जाता है। माया की दूसरी विशेषता यह है कि माया-विवर्त-मात्र है। माया ब्रह्म का विवर्त है जो व्यवहारिक जगत् में दीख पडता है।

माया की तीसरी विशेषता यह है कि माया ब्रह्म की शक्ति है जिसके आधार पर वह नाना रूपात्मक जगत् का खेल प्रदर्शन करती है। माया पूर्णत ईश्वर से अभिन्न है। माया की चौथी विशेषता यह है कि माया अनिर्वचनीय है; क्योकि वह न सत् है न असत् है और न दोनों है। वह सत् नहीं है; क्योंकि ब्रह्म से भिन्न उसकी कोई सत्ता नहीं है वह असत् भी नहीं है, क्योकि वह नानारूपात्मक जगत् को उपस्थित करता है। उसे सत् और असत् दोनों नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वैसा कहना विरोधात्मक होगा। इसलिए माया को अनिर्वचनीय कहा गया है।

माया की पाचवी विशेषता यह है कि इसका आश्रय-स्थान ब्रह्म हैं परन्तु ब्रह्म माया की अपूर्णता से अछूता रहता है। माया ब्रह्म को उसी प्रकार नहीं प्रभावित करती है जिस प्रकार नीला रग आकाश पर आरोपित होने पर भी आकाश को नहीं प्रभावित करता है। इसीप्रकार माया की छठी विशेषता यह है कि यह (माया) अस्थायी है माया का अन्त ज्ञान से हो जाता है। जिस प्रकार रस्सी का ज्ञान होते ही रस्सी सर्प भ्रम नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार ज्ञान का उदय होते ही माया का विनाश हो जाता है।

माया की सातवीं विशेषता यह है कि माया अव्यक्त और भौतिक है। सूक्ष्मभूत स्वरूप होने के कारण वह अव्यक्त है। माया की आठवीं विशेषता यह है कि माया अनादि है। उसी से जगत् की सृष्टि होती है। ईश्वर की शक्ति होने के कारण माया ईश्वर के समान अनादि है। माया की अन्तिम विशेषता यह है कि माया भावरूप है। इसे भावरूप इसलिये कहा गया है क्योंकि यह केवल निषेधात्मक नहीं है वास्तव में माया के दो पक्ष है निषेधात्मक और भावात्मक निषेधात्मक पक्ष में वह

सत्य का आवरण है क्योंकि वह उस पर पर्दा डालता है। भावात्मक पक्ष में वह ब्रह्म के विक्षेप के रूप में जगत् की सृष्टि करती है। वह अज्ञान तथा मिथ्याज्ञान दोनों है।

प्रकृति दिशाओं की भाति आत्मा, आकाश और काल नित्य है, एव विश्व-गोल तथा गोलोक धाम नित्य है[1]। उसके एक प्रदेश के लम्बे भाग में स्थित वैकुण्ठ भी नित्य हे। उसी प्रकार ब्रह्म में लीन रहने वाली सनातनी प्रकृति भी नित्य है। जिस प्रकार अग्नि में दाहिका शक्ति चन्द्र और कमल में शोभा तथा सूर्य में प्रभा निरन्तर युक्त रहती है, कभी भिन्न नहीं होती है। उसी प्रकार परमात्मा में प्रकृति नित्य विराजमान रहती है।[2] जिस प्रकार बिना सुवर्ण के सोनार कुण्डल (आदि आभूषण) बनाने में असमर्थ रहता है, बिना मिट्टी के कुम्हार घट आदि नहीं बना सकता है उसी प्रकार बिना प्रकृति के परमात्मा सृष्टि करने में असमर्थ है। जिसके सहारे श्री हरि सदा शक्तिमान् बने रहते है वह प्रकृति देवी ही शक्तिस्वरूपा है।

(शक्ति शब्द में) शक् का अर्थ है 'ऐश्वर्य' और 'ति' का अर्थ है 'पराक्रम'। ये दोनों जिसके स्वरूप है तथा जो इन दोनों गुणों को प्रदान करती है वह शक्ति कहलाती है।[3] भग शब्द समृद्धि, बुद्धि, सम्पत्ति एव यश का बोधक है उससे सम्पन्न होने के कारण शक्ति को भगवती कहते है। क्योंकि वह सदैव भगस्वरूपा है। उसी से सदैव युक्त रहने के कारण परमात्मा को भगवान् कहते है। भगवान् श्रीकृष्ण, स्वेच्छामय एव निराकार होते हुए भी साकार हैं।

उन परब्रह्म परमात्मा एव ईश्वर को योगी लोग सदा तेजोरूप, निराकार कहकर उनका ध्यान करते हैं। वह अदृश्य रहते हुए भी सबको देखने वाले, सर्वज्ञाता, समस्त के कारण, सर्वप्रद, समस्त रूपों में रहने वाले रूपरहित तथा सबके पोषक हैं। वह रत्नमय भूषणों से भूषित, सबके आधार, सबके ईश, समस्त शक्तियों से युक्त, प्रभु, समस्त ऐश्वर्यो के प्रदाता, सर्वरूप स्वतन्त्र, सर्वमगल,

---

[1] नित्यात्मा च नभो नित्य कालो नित्यों दिशों यथा।

विश्वेषा गोलोक नित्य नित्यो गोलोक एव च ।। ब्र० वे० प्र० ख० १/५

[2] ब्र० वे० प्र० ख० १/७

३ वही १/१०

परिपूर्णतम, सिद्ध, सिद्धिदायक और सिद्धि के कारण है। इस प्रकार के सनातन रूप का वैष्णव गण सदैव ध्यान करते हैं। उनकी कृपा से जन्म-मृत्यु, जरा व्याधि, शोक और भय का अत्यन्त नाश हो जाता है। ब्रह्मा की पूर्ण आयु उनके एक निमेष के बराबर है।, वे ही परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्ण हैं।

कृष्ण शब्द में कृष् का अर्थ है 'भक्ति' और 'न' का अर्थ है 'दास्य'। इसलिये भक्ति और दास्यभाव के प्रदायक भगवान् श्री कृष्ण है।'कृष' समस्तवाची है और 'ण' का अर्थ है बीज। समस्त बीजस्वरूप परब्रह्म कृष्ण कहे गये हैं। असख्य ब्रह्मा की आयु पर्यन्त जिनके गुणों का नाश नहीं होता है उनके समान गुण में कोई नहीं है वे सृष्टि के आदि में एकाकी थे। उस समय उनके मन में सृष्टि करने की इच्छा हुई। अपने अशभूत काल से प्रेरित होकर ही वे प्रभु सृष्टि कर्म के लिए उन्मुख हुए थे। उनका स्वरूप स्वेच्छामय है वे अपनी इच्छा से ही दो रूपों में प्रकट हुए। उनका वामाश स्त्रीरूप में ओर दक्षिण भाग पुरुष रूप में आविर्भूत हुआ।

यह प्रकृति त्रिगुणात्मक है, इसके तीनों गुण सूक्ष्म और अतीन्द्रिय हैं। इसलिए प्रकृति के समान इनका भी प्रत्यक्ष नहीं होता तथा इनके कार्यो से इनका अनुमान किया जाता है। सत्त्वगुण का कार्य सुख प्रदान करना है। रजोगुण का कार्य दुःख प्रदान करना है तथा तमोगुण का कार्य मोह उत्पन्न करना होता है। यह ध्यान देने की बात है कि यद्यपि इसको गुण कहा गया है तथापि ये न्यायवैशेषिक के गुणों के अर्थ में गुण नहीं है। ये प्रकृति रूपी द्रव्य के गुण या धर्म नहीं है। अत प्रकृति तथा गुणों में द्रव्य-गुण सम्बन्ध नहीं है। ये गुण स्वय द्रव्य रूप है। ये वे तत्त्व है जिनसे प्रकृति बनती है; ये प्रकृति के सघटक तत्त्व है। गुण या धर्म द्रव्य के ही होते है, धर्म के अर्थ में गुण के गुण नहीं होते। किन्तु साख्य के त्रिगुणों के भी गुण बताये गये है। प्रकाशत्व, चलत्त्व, लघुत्त्व, गुरुत्त्व आदि इन गुणों के गुण हैं। अत स्पष्ट है कि ये गुण द्रव्यरूप हैं, ये प्रकृति के निर्माणक तत्त्व हैं। अपने सम्मिलित साम्य रूप में ये तीनों गुण ही प्रकृति हैं प्रकृति इनके अतिरिक्त कुछ नहीं है।

इनको गुण इसलिये कहा गया है क्योंकि ये प्रकृति की अपेक्षा गौड़ हैं। अथवा ये पुरुष के उपकरण है। अथवा गुण का अर्थ डोरी भी होता है अतः ये गुण वे तीन डोरिया है जिनको मिलाकर प्रकृतिरूपी रस्सी बनती है जिससे पुरुषरूपी पशु संसार में बँधता है। सत्त्वगुण स्वच्छता या शुद्धता का प्रतीक है। यह प्रकाशक और लघु है, इन्द्रियार्थसन्निकर्ष होने पर सत्त्व से पदार्थ का प्रकाश या ज्ञान

होता है। लघु होने से यह ऊर्ध्वगामी है। सत्त्व से सुख उत्पन्न होता है। सुख के अन्तर्गत सरलता प्रीति, श्रद्धा, सन्तोष, विवके, दया आदि सुखद भाव आ जाते हैं। यह शुक्लवर्ण है। रजोगुण धूलि-धूसरता या अशुद्धता का प्रतीक है यह सक्रिय या चल तथा उपष्टम्भक या सश्लेषजनक होता है। समस्त क्रिया या प्रवृत्ति इसी के कारण होती है। यह दु:ख उत्पन्न करता है, दु ख के अन्तर्गत मान, मद्, द्वेष, क्रोध मत्सर आदि दु खद भाव आ जाते हैं। यह रक्तवर्ण है। तमोगुण अन्धकार या अज्ञान का प्रतीक है। यह गुरु (भारी) और वरणक अर्थात् आच्छादक या अवरोधक है। इसका कार्य प्रकाश तथा क्रिया का, सुख तथा दु.ख का अवरोध करना है। भारी होने से यह अधोगामी है। इससे मोह उत्पन्न होता है। मोह के अन्तर्गत प्रमाद, आलस्य, निद्रा, मूर्च्छा, अज्ञान, विषाद आदि आ जाते हैं। यह कृष्ण वर्ण है। तीनों गुण सदा सम्मिलित रहते हैं एवं एक दूसरे से अलग नहीं किये जा सकते ये सदा सयुक्त है। अत परस्पर इनका सयोग या विभाग नहीं हो सकता, ये एक दूसरे का तिरस्कार भी करते हैं; उपकार भी करते हैं और परस्पर सहयोग करके सारे पदार्थो को उत्पन्न करते हैं। जिस प्रकार दीपक में तेल, बत्ती और ज्वाला परस्पर विरोधी होते हुए भी मिलकार प्रकाश करते है, उसी प्रकार ये तीनों गुण, परस्पर विरोधी होते हुए भी मिलकर पुरुष के प्रयोजन की सिद्धि के लिए कार्य करते हैं। उदाहरणार्थ- सत्त्वगुण की प्रतीक पतिव्रता सुन्दरी अपने पति को सुखी, सपत्नी को दु.खी एव अन्य कामी पुरुष को मोहित करती है।

रजोगुण का प्रतीक वीर योद्धा युद्ध में अपनी वीरता से अपने लोगों को सुखी, शत्रुओं को दु खी तथा अन्य को मोहित करना है, और तमोगुण का प्रतीक मेघ आकाश को आच्छादित करके निदाघसतप्त लोगों को सुखी, कृषकों को क्रियाशील तथा विरह-निमग्नों को विषण्ण करता है। किसी वस्तु या व्यक्ति को सात्त्विक, राजस या तामस् उसमें उस गुण के आधिक्य के कारण कहा जाता है। रसलीन कवि ने अपने एक दोहे में प्रेयसी के नयनों के माध्यम से इन तीनों गुणों का अत्यन्त सुन्दर वर्णन किया है। वे कहते हैं कि प्रेयसी के नयनों में श्वेत, श्याम और लाल तीनों रग झलक रहें हैं; उनमें अमृत हलाहल, विष और मदिरा भरी हुई है; वे जिसे एक बार देख लेते है वह व्यक्ति मिलन की आशा से जीता है, निराशा में मरता है तथा विरह-वेदना में झुकझुककर तड़पता है। सत्त्वगुण श्वेत है, अमृतमय है सुखद एव जीवनदाता हैं; रजोगुण लाल है, मदिरा के समान है, प्रेम-मद में तड़पता है; तमोगुण श्यामवर्ण है, विष के समान है, मोह, मूर्च्छा मरण का प्रतीक है। इन गुणों में,

रजोगुण की क्रियाशीलता के कारण, निरन्तर परिणाम होता रहता है। यदि प्रकृति में स्वत परिणाम न हो तो बाहर से नहीं आ सकता, और यदि एक बार भी परिणाम रुक जाय तो पुन प्रारम्भ नहीं हो सकता। अत साख्य में प्रकृति और उसके गुणों को प्रतिक्षण-परिणामी माना है। पुरुष कूटस्थ नित्य है; प्रकृति परिणामि-नित्य है। गुणों की साम्यावस्था प्रलय की अवस्था है किन्तु इसमें गुणों में सरूप परिणाम प्रतिक्षण होता रहता है। विरूप-परिणाम गुणों की विषमावस्था में होता है। यह सघर्ष की तथा सर्ग की अवस्था है।

अव्यक्त प्रकृति और उससे उत्पन्न सघातरूपी समस्त व्यक्त कार्य-समूह जड होने से अपने लिये नहीं है, प्रत्युत उनकी सत्ता किसी अन्य के लिये है जो चेतन हो तथा जिसके प्रयोजन को साधने के लिये हो उनकी सत्ता हो। स्वय प्रकृति तथा उससे प्रसूत समस्त कार्य-समूह चेतन पुरुष के प्रयोजन को सिद्ध करने के लिए ही प्रवृत्त होते हैं। यह प्रयोजन दो प्रकार का है- भोग और अपवर्ग या मोक्ष। प्रकृति तीनों गुण, बुद्धि अहकार, मन इन्द्रिया शरीर आदि सब पुरुष के भोग और अपवर्ग रूपी प्रयोजन को सिद्ध करने के लिये प्रवृत्त होते है। अत अव्यक्त प्रकृति तथ व्यक्त कार्य समूह से सर्वथा भिन्न चेतन पुरूष की सत्ता सिद्ध होती है। यह प्रयोजनमूलक तर्क है। अव्यक्त प्रकृति तथा व्यक्त कार्य-समूह त्रिगुणात्मक है क्योंकि सब सत्त्वरज तमोगुण युक्त है। सगुण निर्गुण की ओर तथा त्रिगुण निस्त्रिगुण की ओर एव अचेतन चेतन की ओर तथा परिणामी अपरिणामी की ओर अनिवार्यतया सकेत करता है। यह निस्त्रिगुण अपरिणामी चेतन पुरुष है। अत अव्यक्त प्रकृति तथा व्यक्त कार्य-समूह से नितान्त विपरीत निर्गुण अपरिणामी चेतन पुरुष की सत्ता सिद्ध होती है। यह तर्कशास्त्रीय तर्क है। हमारा लौकिक ज्ञान सुख-दुख का अनुभव बुद्धि, अहकार या मनोमूलक हमारी सारी चित्तवृत्तियॉ ज्ञाता या अनुभविता की ओर सकेत करती है; जो समस्त ज्ञान और अनुभव का अधिष्ठान है। यह ज्ञाता ही हमारे सारे ज्ञान को, सारी चित्तवृत्तियों को प्रकाशित करके एकता के सूत्र में पिरोये रखता है। सारे विधि-निषेध इस पर निर्भर है। यह साक्षि-चैतन्य-रूप है तथा प्रमाता या जीवात्मा में भी इसी का चैतन्य प्रकाशित है। अतः ज्ञान और समस्त अनुभव के अधिष्ठान के रूप में पुरुष की सत्ता सिद्ध होती है; यह तत्त्वमीमासीय या सत्ता मूलक तर्क है।

इसी प्रकार प्रकृति तथा उसके कार्य-समूह जड होने से भोग्य हैं। वे स्वय अपना उपभोग नहीं कर सकते। सब पदार्थ सुख-दुःख और मोह उत्पन्न करते हैं किन्तु इनका भोगने वाला भी कोई

होना चाहिए। जड भोग्य वस्तु के भोगार्थ चेतन भोक्ता की सत्ता अनिवार्य है। यह चेतन भोक्ता पुरुष है, अत पुरुष की सत्ता सिद्ध होती है। यह नीतिशास्त्रीय तर्क है। कुछ आध्यात्मिक स्वभाव के ज्ञानी पुरुषो में कैवल्य या मोक्ष की प्राप्ति के लिए उत्कट इच्छा और प्रयत्न दृष्टिगत होता है। विविध दु ख की आत्यन्तिक निवृत्ति को कैवल्य कहा गया है। दु ख का अनुभव तो सभी को होता है, और सभी किसी न किसी रूप में दु ख मिटाने का प्रयत्न भी करते है, किन्तु कुछ ज्ञानी जन इस दु ख की आत्यन्तिक के लिये प्रयत्नशील रहते हैं। यह प्रकृति-पुरुष के विवेकज्ञान से सम्भव हे। अत पुरुषों की स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध होती है। यह आध्यात्मिक या रहस्यवादी तर्क हैं।

अध्याय ५

"ब्रह्म-निर्लिप्तता"

वह ब्रह्म तत्त्वों का सारभूत अज्ञानी, अन्धे के नेत्र और द्वैध भ्रमरूपी अन्धकार का नाशक अत्यन्त प्रज्ज्वलित प्रदीप है। वह सनातन परब्रह्म परमात्मास्वरूप है वह समस्त देहों में स्थित और जीवों के कर्मो का साक्षी है। समस्त जीवों के पाचों 'प्राण' स्वय विष्णु 'मन', प्रजापति, ब्रह्मा, समस्त ज्ञानस्वरूप में (शिव) और ईश्वरी प्रकृति शक्ति है। राजा के अनुचरों की भाँति हम सभी परमात्मा के अधीन हैं। शरीर में उसके स्थित रहने पर हम लोग स्थित रहते हैं, और उस परम् (महान्) के चले जाने पर चले जाते है जीव उसी परमात्मा का प्रतिबिम्ब है और कर्मो का भोग करता है। जैसे जल से पूर्ण रूप से भरे हुए घट में सूर्य-चन्द्र का प्रतिबिम्ब दिखायी पड़ता है और घट के नष्ट हो जाने पर वह प्रतिबिम्ब चन्द्रमा और सूर्य में विलीन हो जाता है, उसी भाँति प्रलय के समय जीव ब्रह्म में लीन हो जाता है।

वह ब्रह्म सभी का आत्मा, निलिप्त साक्षिरूप, सर्वव्यापी एवं सबका आदिकारण है।[१] वह निरीह निराकार परमात्मा, ईश्वर, स्वेच्छामय स्वतत्र एव समस्त कारणों का कारण है। वह शरीर में स्थित होने पर भी परमात्मा शरीरादि उपाधियों के दोषों से व शरीरजन्य कर्मो से लिप्त नहीं होता। क्योंकि देहादि आत्मा में अध्यस्त है ओर अधिष्ठान कदापि अध्यस्त वस्तु के दोषों में लिप्त नहीं होता[२]। ब्रह्मा ने कहा हे स्वात्मस्वरूप! आप निर्लिप्त है और भक्तों पर अनुग्रह करने के लिये कातर रहा करते है। अत आप भक्त का अपराध करने वाले इस ब्राह्मण श्रेष्ठ की रक्षा करे।[३]

उपनिषदों की सारी शिक्षाओं का सार यहीं सिद्ध करने में निहित है कि आत्मा और ब्रह्म एक ही है। ऋग्वेद में आत्मा को कभी विश्व की आधारभूत चेतन शक्ति के रूप में और कभी मनुष्य के प्राण रूप में देखा गया है। फिर उपनिषदों में ऐसा वर्णन आता है कि विश्व में व्याप्त चेतनशक्ति

---

[1] ब्रह्म चाऽऽत्मा च सर्वेषा निर्लिप्त साक्षिरूपि।
सर्वव्यापी च सर्वादि लक्षणं च श्रुतौ श्रुतम्।। - ब्र० वै० ब्र० ख० २८/३५

२ सर्वदेहे प्रविष्टोऽह न लिप्त सर्वकर्मसु।
जीवन्मुक्तश्च मद्भक्तो जन्ममृत्युजराहर।। - ब्र० वै० कृ० ख० ७८/३०

[3] स्वात्मस्वरूप निर्लिप्त भक्तानुग्रह कारण।
भक्ता पराधजनक रक्ष ब्राह्मणपुगवम्।। - ब्र० वै० ब्र० ख० २८/१२९

ब्रह्म है और मनुष्य में जो चेतनशक्ति व्याप्त है वह आत्मा है। उपनिषद् इस बात पर पुन बल देते है कि ये दोनों चेतन शक्तिया एक ही है। यहा प्रश्न यह उठता है कि मनुष्य का आधार तत्त्व क्या है? मनुष्य के आत्म तत्त्व के बारे में एक अनिश्चयात्मक भावना है अर्थात् इसका स्वरूप अस्पष्ट मा हैं। अन्न से निर्मित मनुष्य के भौतिक शरीर को अन्नमयकोश कहा गया है। लेकिन इस अन्नमयकोश के अन्दर जो मनुष्य की प्राणदायिनी शक्ति है उसको प्राणमय आत्मा के रूप में वर्णित किया है अर्थात् प्राणयम-कोश कहा गया हैं। इस प्राणमयकोश से भी सूक्ष्म मनन शक्ति को मनोमय आत्मा के रूप में अर्थात् मनोमय कोश कहते हैं। मन से सूक्ष्म मनोमय कोश के अन्तर्गत जो चेतन तत्त्व है उसे विज्ञानमय आत्मा या विज्ञानमय कोश कहते है। इस विज्ञानमय कोश के अन्तर में निहित सूक्ष्मात्म कोश आनन्दमय आत्मा अथवा आनन्दकोश है जो आत्मतत्त्व का अन्तिम आधार है और जो दिव्य विशुद्धानन्द का स्थान है।

शास्त्रों में कहा गया है, "वह आनन्दमय हो जाता है जिसको इस आनन्द की प्राप्ति होती है। वह दिव्यामृत का पान करता है। यदि वह आकाश आनन्दमय नहीं होता तो कौन इस विश्व में जीवित रह सकता और कौन प्राण धारण कर सकता? जो आनन्द का व्यवहार करता है वह आनन्दस्वरूप हो जाता है। जिस किसी को उस वर्णनातीत, अदृश्य, अवर्ण्य, अनाधार, विश्वातीत की प्राप्ति हो जाती है वह निर्भय हो जाता है, परन्तु जहां आत्मा और परमात्मा में भेद की अनुभूति है वहा ससार के सारे भय उनको सताते है[1]।

एक दूसरे स्थान पर प्रजापति ने कहा है कि "जो आत्मा पाप से मुक्त है अजर और अमर है, भूख-प्यास आदि के बधों से परे है जो सद्विचार सदिच्छाओं से युक्त है ऐसी आत्मा की खोज आवश्यक है। ऐसे आत्म-तत्त्व का चिन्तन और मनन करने से और इस आत्मा के स्वरूप को सम्यक् रूप से जानने पर सारी जिज्ञासाओं की तृप्ति और पूर्ति हो जाती है[2]। गीता में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन इस प्रकार हुआ है कि- हे अर्जुन! अनादि होने से और निर्गुण होने से यह अविनाशी परमात्मा शरीर में स्थित होने पर भी वास्तव में न तो कुछ करता है और न लिप्त ही होता है।[3]

---

[1] तै० उ० २/७

[2] छा० उ० ८/७/१

[3] "अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायम व्यय। शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते।। - गीता - १३/३१

उपनिषदों के अनेक वाक्य आत्मा और ब्रह्म की अभिन्नता पर बल देते हैं। 'तत्त्वमसि' उपनिषद् का महावाक्य है। इस वाक्य के द्वारा ब्रह्म और आत्मा में एकता प्रमाणित होती है। उपर्युक्त वाक्य की तरह अनेक वाक्यों के द्वारा आत्मा और ब्रह्म में अभेद का ज्ञान होता है। ऐसे वाक्यों में "अह ब्रह्मास्मि" 'अयमात्मा ब्रह्म' आदि मुख्य हैं शकर ने आत्मा और ब्रह्म की तादात्म्यता पर जोर दिया है। आत्मा और ब्रह्म के विवरण उपनिषद् में एक जैसे हैं। दोनों को चरम तत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। दोनों को सत्+चित्+आनन्द अर्थात् सच्चिदानन्द माना गया है। दोनों को सत्यम् ज्ञानम्, अनन्तम् कहा गया है। दोनों को सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम्, माना गया है। दोनों के आनन्दमय रूप पर जोर दिया गया है। दोनों को सभी ज्ञान का आधार बताया गया है।

आत्मा के जाग्रत अवस्था के तुल्य ब्रह्म का विराट रूप है स्वप्नावस्था के अनुरूप 'हिरण्यगर्भ' रूप है। सुषुप्ति के सदृश ईश्वर रूप है और तुरीयावस्था के अनुरूप परब्रह्म रूप है। विराट् ब्रह्म का विश्व में पूर्ण विकसित रूप है, जो जाग्रत आत्मा जैसा है। विश्व से पृथक् ब्रह्म का मौलिक रूप परब्रह्म है जो कि तुरीयावस्था के अनुरूप है। आत्मा तुरीयावस्था में अपनी सभी अभिव्यक्तियों से अलग है उस अवस्था में विषयी और विषय एक ही है। ब्रह्म और आत्मा एक ही तत्त्व की अलग-अलग दृष्टियों से व्याख्या है। एक ही तत्त्व को आत्मनिष्ठ दृष्टि ब्रह्म कहा गया है। डा० राधाकृष्णन् ने उपनिषद् दर्शन के आत्मा एव ब्रह्म के सम्बन्ध की व्याख्या करते हुए कहा है "विषयी और विषय" ब्रह्म और आत्मा, विश्वीय और आत्मिक दोनों ही तत्त्व एकात्मक माने गये हैं, ब्रह्म ही आत्मा है। "वह ब्रह्म जो पुरूष के अन्दर है और वह जो सूर्य में है दोनों एक है।" उपनिषद् दर्शन में विषयी और विषय, आत्मा और अनात्मा के बीच तादात्म्यता उपस्थित की गयी है।

समालोच्य पुराण में शुभाशुभ कर्मो के द्वारा उच्च-नीच योनियों में जन्म तथा सुख-दुख, शोक, भय आदि की प्राप्ति का उल्लेख स्पष्ट रूप से हुआ है- "इस ससार में अपने किये हुए कर्मफलवश लोग आया-जाया करते है, अत. कौन किसका पुत्र है, कौन किसका पिता है, और कौन किसकी माता है। कर्मानुसार जीव प्रत्येक स्थान में जन्म ग्रहण करता है- कोई जीव कर्मवश योगीन्द्रों के घर जन्म ग्रहण करता है कोई राजरानी के यहां, कोई ब्राह्मणी के यहा, कोई क्षत्रियों, वैश्यों और शूद्र स्त्रियों में जन्म ग्रहण करता है। इसी प्रकार कोई पक्षियों में और कोई पशु आदि योनियों में उत्पन्न होता है। मेरी माया से मोहित होकर सब लोग विषयों में आनन्दमग्न रहते है और बन्धुओं

के देहत्याग-वियोग में दीन मलीन होते रहते हैं[1]। इस प्रकार श्रीभगवान् ने कहा- मै तो सबका आत्मा, साक्षी, और समस्त जीवों में निर्लिप्त हूँ। जीव मेरा प्रतिबिम्ब है यह सर्वसम्मत है। प्रकृति मेरा विकार रूप है और वह प्रकृति रूप भी मै ही हूँ। हे नृप जिस प्रकार दुग्ध और उसकी धवलता में कोई भेद नहीं है जिस प्रकार जल में शीतलता, अग्नि में दाहकता, आकाश में शब्द, भूमि में गन्ध, चन्द्रमा में शोभा, सूर्य में प्रभा (किरण) एव जीवात्मा और परमात्मा में कोई भेद नहीं है, उसी भाँति राधा और मुझमें अभेद है। इसलिये तुम राधा में गोपीभाव और मुझमें पुत्रभाव त्याग दो[2]। मेरी माया से मोहित होने वाले पापीजन मुझे नहीं जानते है, क्योंकि वे पापग्रस्त दुर्बुद्धि तथा दैववञ्चित रहते है। मै समस्त जन्तुओं की आत्मा हूँ और स्वामी भी मैं जहा रहता हूँ, वहा क्षुधा, पिपासा आदि समस्त शक्तिया रहती हैं, और वहा से मेरे चले जाने पर राजा के पीछे सेवक की भाँति वे सभी चली आती हैं[3]।

यह जीवात्मा वास्तव में सर्वथा शुद्ध परमेश्वर का अश, जन्म-मरण से रहित विज्ञानस्वरूप नित्य अविनाशी है, इसमें कोई शका नहीं है। तो भी यह अनादि परम्परागत अपने कर्मो के अनुसार प्राप्त हुआ स्थावर, जगम (देव, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि) शरीरों के आश्रित है, उन-उनके साथ तद्रूप हो रहा है, 'मै शरीर से सर्वथा भिन्न हूँ, इससे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है; इस वास्तविक तत्त्व को नहीं जानता इस कारण उन-उन शरीरों के जन्म-मरण आदि को लेकर गौणरूप से जीवात्मा का उत्पन्न होना श्रुति में कहा गया है[4]।

"कल्पों के अन्त में सब भूत मेरी प्रकृति प्राप्त होते हैं अर्थात प्रकृति मे लीन होते हैं और कल्पों के आदि में उनको मै फिर रचता हूँ। अपनी प्रकृति को अगीकार करके स्वभाव के बल से परतन्त्र हुए इस सम्पूर्ण भूत-समुदाय को बार-बार उनके कर्मो के अनुसार रचता हूँ और उन कर्मो में आसक्तिरहित और उदासीन के सदृश (अर्थात जिसके सम्पूर्ण कार्य कर्तृत्वभाव के बिना अपने आप सत्ता मात्र से ही रहते हैं उनका नाम 'उदासीन के सदृश' है।) स्थित मुझ परमात्मा को वे कर्म

---

[1] ममैव मायया सर्वे सानन्रा विषयेषु च। देहत्यागे विषण्णाश्च विच्देदे बान्धवस्य च।। ब्र० वै० कृ० ख० ७३/८

[2] ब्र० वै० कृ० ख० ७३/४६-५०

[3] ब्र० वै० कृ० ख० ७३/६८

[4] ब्रह्मसूत्र - २/३/१६

नहीं बाधते। मुझ अधिष्ठाता के सकाश से प्रकृति चराचर सहित सर्वजगत् को रचती है और इस हेतु से ही यह ससारचक्र घूम रहा है।"[1] इसके शिवा, परब्रह्म परमात्मा किन्ही नये जीवों को उत्पन्न करते हों, ऐसी बात नहीं है। इस प्रकार स्थूल, सूक्ष्म और कारण-इन तीन प्रकार के शरीरों के आश्रित जीवात्मा का परमात्मा से उत्पन्न होना और उसमें विलीन होना श्रुति-स्मृतियों में जगह-जगह कहा गया है। जीवों को भगवान् उनके परम्परागत संचित कर्मो के अनुसार ही अच्छी-बुरी योनियों में उत्पन्न करते हैं।

श्रुति का यही निश्चित सिद्धान्त है कि जीवात्मा की स्वरूप से उत्पत्ति नहीं होती। इतना ही नही, श्रुतियों द्वारा उसकी नित्यता का भी प्रतिपादन किया गया है। छान्दोग्योपनिषद् में सजीव विश्व के दृष्टान्त से श्वेतकेतु को समझाते हुए उसके पिता ने कहा कि- "जीव से रहित हुआ यह शरीर ही मरता है, जीवात्मा नही मरता[२]। कठोपनिषद् में कहा गया है कि यह विज्ञानस्वरूप जीवात्मा न तो जन्मता है और न मरता ही है। यह अजन्मा, नित्य, सदा रहने वाला और पुराण है, शरीर का नाश होने पर इसका नाश नहीं होता[3]। इसलिये यह सर्वथा निर्विवाद है कि जीवात्मा स्वरूप से उत्पन्न नहीं होता। वह जीवात्मा स्वरूप से जन्म से मरने वाला नहीं है, नित्य चेतन है, इसलिये वह ज्ञात है[४]। तात्पर्य यह है कि जन्म से मरने वाला या घटने-बढ़ने वाला और अनित्य होता तो ज्ञाता नहीं हो सकता। किन्तु सिद्ध योगी अपने जन्म-जन्मान्तरों की बात जान लेता है तथा प्रत्येक जीवात्मा पहले शरीर से सम्बन्ध छोडकर जब दूसरे नवीन शरीर को धारण करता है, तब पूर्व स्मृति के अनुसार स्तनपानादि में प्रवृत्त हो जाता है। इसी प्रकार पशु-पक्षी आदि को भी प्रजोत्पादन का ज्ञान पहले के अनुभव की स्मृति से हो जाता है तथा बालकपन और युवा अवस्थाओं की घटनाए जिसकी जानकारी में रहती हैं वह नहीं बदलता, यह सबका अनुभव है, यदि आत्मा का परिवर्तन होता तो वह ज्ञाता

---

[1] गीता- ६/७-१०

[2] जीवोपेत वाव किलेद्र म्रियते न जीवों म्रियते। छा० उ०- ६/११/३

[3] "न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नाय कुतश्चिन्न वभूव कश्चित्।

अजो नित्य· शाश्वतोऽयं पुराणों न हन्यते हन्यमाने शरीरे।।" कठोपनिषद् १/२/१८

[4] ब्रह्मसूत्र- २/३/१८

नहीं हो सकता। इससे यह सिद्ध होता है कि जीव नित्य है और ज्ञान-स्वरूप है, शरीरों के बदलने से जीवात्मा नहीं बदलता।

(एक ही जीवात्मा के) शरीर से उत्क्रमण करने, परलोक में जाने और पुन लौटकर आने का श्रुति में वर्णन है[1] (इससे भी यही सिद्ध होता है कि जीवात्मा नित्य है)। कठोपनिषद् में कहा है कि "मरने के बाद इन जीवात्माओं में से अपने-अपने कर्मो के अनुसार कोई तो वृक्षादि अचल शरीर को धारण कर लेते है और कोई देव, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि जगम शरीरों को धारण कर लेते है[2]।" इसी प्रकार यदि कोई इस ॐकार की दो मात्राओं को लक्ष्य करके मन मे ध्यान करता है, तो यजुर्वेद की श्रुतिया उसे अन्तरिक्षवर्ती चन्द्रलोक में ऊपर की ओर ले जाती है; वहा स्वर्गलोक में नाना प्रकार के ऐश्वर्यो का भोग करके वह पुन मृत्यृलोक में लौट आता है[3]। इसीप्रकार अन्यान्य श्रुतियों में जीवात्मा के वर्त्तमान शरीर को छोडने, परलोक में जाने तथा वहा से पुन लौटकर आने का वर्णन है, इससे भी यही सिद्ध होता है कि शरीर के नाश से जीवात्मा का नाश नहीं होता, वह नित्य और अपरिवर्तनशील है।

"आत्मा एक द्रव्य है। सुख, दु:ख, राग-द्वेष, इच्छा, प्रयत्न और ज्ञान आत्मा के गुण हैं। धर्म और अधर्म भी आत्मा के गुण हैं और शुभ-अशुभ कर्मो से उत्पन्न होते हैं[4]। न्याय आत्मा को स्वरूपत· अचेतन मानता है। आत्मा में चेतना का सचार एक विशेष परिस्थिति में होता है। चेतना का उदय आत्मा में तभी होता है जब आत्मा का सम्पर्क मन के साथ तथा मन का इन्द्रियों के साथ सम्पर्क होता है तथा इन्द्रियों का वाह्य जगत् के साथ सम्पर्क होता है। यदि आत्मा का ऐसा सम्पर्क न हो तो आत्मा में चैतन्य का आविर्भाव नहीं हो सकता है। इस प्रकार चैतन्य आत्मा का आगन्तुक गुण है। आत्मा वह द्रव्य है जो स्वरूपत· चेतन न होने के बावजूद भी चैतन्य को धारण करने की क्षमता रखती है। आत्मा का स्वाभाविक रूप सुषुप्ति और मोक्ष की अवस्थाओं में दीख पड़ता है जब वह

---

1 ब्रम्हसूत्र- २/३/१६

2 योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिन।

स्थाणुमन्येऽनुसयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्।।- कठोपनिषद् २/२/७

3 प्र० उ० ५/४

4 न्यायदर्शन

चैतन्य गुण से शून्य रहती है। जाग्रत अवस्थाओं में मन, इन्द्रियों तथा वाह्य जगत् से सम्पर्क होने के कारण आत्मा में चैतन्य का उदय होता है।

आत्मा शरीर से भिन्न है। शरीर को अपनी चेतना नहीं है। शरीर जड है परन्तु आत्मा चेतन है। शरीर आत्मा के अधीन है इसलिये शरीर आत्मा के बिना क्रिया नहीं कर सकता। आत्मा वाह्य इन्द्रियों से भिन्न है क्योंकि कल्पना, विचार आदि मानसिक व्यापार वाह्य इन्द्रियों के कार्य नहीं है। आत्मा मन से भिन्न है। न्याय दर्शन में मन को अणु माना गया है। अणु होने के कारण मन अप्रत्यक्ष है। मन को आत्मा मानने से सुख-दुख, भी मन के ही गुण होंगे तथा वे अणु की तरह अप्रत्यक्ष होगें; परन्तु सुख, दुख की प्रत्यक्ष अनुभूति हमें मिलती है जो यह प्रमाणित करता है कि सुख, दुख मन के गुण नहीं है। अत मन को आत्मा नहीं माना जा सकता है।

आत्मा को विज्ञान का प्रवाह मानना भी अप्रमाण सगत है। यदि हम आत्मा को विज्ञान का प्रवाह मात्र मानते है तो वैसी अवस्था में स्मृति की व्याख्या करना असभव हो जाता है। अत बौद्ध दर्शन ने आत्मा को विज्ञान का प्रवाह मानकर भारी भूल की है। आत्मा को शुद्ध चैतन्य मानना जैसा कि शकर ने माना है भी 'भ्रामक' है, इसका कारण यह है कि शुद्ध चैतन्य नामक कोई पदार्थ नहीं है। चैतन्य को आत्मा मानने के बदले द्रव्य को आत्मा मानना जिसका गुण चैतन्य हो, न्याय के मतानुसार मान्य है।

न्याय दर्शन के अनुसार- आत्मा एक ज्ञाता है। जानना आत्मा का धर्म है, वह ज्ञान का विषय नहीं होता है। आत्मा भोक्ता है; वह सुख, दुख, का अनुभव करता है। आत्मा कर्त्ता है। "आत्मा सबका द्रष्टा सुख-दु.ख भोगने वाला और वस्तुओं को जानने वाला है[1]। आत्मा नित्य हैं; आत्मा निरवयव है। सावयव विषयों का नाश होता है; आत्मा अवयवहीन होने के कारण अविनाशी है। ईश्वर भी न आत्मा को पैदा कर सकता है और न उसे मार सकता है। यद्यपि आत्मा नित्य है फिर भी आत्मा के कुछ अनित्य गुण है: इच्छा, द्वेष, प्रयत्न इत्यादि आत्मा के अनित्य गुण हैं। आत्मा कर्म-नियम के अधीन है; अपने शुभ और अशुभ कर्मो के अनुसार ही आत्मा शरीर ग्रहण करती है।

---

[1] न्यायभाष्य

अतीत जन्म के कर्मो के अनुसार आत्मा के अन्दर एक अदृश्य-शक्ति पैदा होती है जो आत्मा के लिए एक उचित शरीर का चुनाव करती है न्याय के मतानुसार आत्मा का पूर्वजन्म एवं पुनर्जन्म मानना पड़ता है।

न्याय ने आत्मा को विभु माना हैं यह काल और दिक् के द्वारा सीमित नहीं होती है। यद्यपि यह विभु है फिर भी इसका अनुभव केवल शरीर के अन्दर ही होता है। आत्माओं की संख्या अनन्त है। प्रत्येक शरीर में एक भिन्न आत्मा का निवास है प्रत्येक आत्मा के साथ एक मनस् रहता है। मोक्ष की अवस्था में यह आत्मा से अलग हो जाता है, बंधन की अवस्था में यह निरन्तर आत्मा के साथ रहता है। न्याय-दर्शन जीवात्मा को अनेक मानकर अनेकात्मवाद के सिद्धान्त को अपनाता है। न्याय का अनेकात्मवाद शंकर के आत्म विचार का निषेध करता है। शंकर ने आत्मा को एक मानकर एकात्मवाद के सिद्धान्त को अपनाया है। न्याय शंकर के एकात्मवाद की आलोचना करते हुए कहता है कि यदि आत्मा एक होती तो एक व्यक्ति के अनुभव से सबकों अनुभव हो जाता तथा एक व्यक्ति के बन्धन या मोक्ष से सबका बन्धन या मोक्ष हो जाता परन्तु ऐसा नहीं होता, इससे प्रमाणित होता है कि आत्मा अनेक है।

कर्म द्वारा ही जीव जन्म-ग्रहण करता है और कर्म द्वारा ही उसका विलयन होता है तथा सुख, दुःख, भय और शोक कर्मवश ही उसे प्राप्त होते है[1]। कर्मवश किसी का जन्म स्वर्ग में, किसी का ब्रह्मा के घर, किसी का ब्रह्मणों और क्षत्रियों के घर एवं किसी का वैश्य के घर तो किसी का शूद्र के यहां जन्म होता है। किसी प्रकार किसी का अति नीच के यहां, किसी का कीड़ो में, किसी का मल के भीतर, किसी का पशु-पक्षियों में और किसी का जन्म क्षुद्र जन्तुओं में होता है। अतः अपने कर्मवश सब लोग बार-बार विभिन्न योनियों में भ्रमण किया करते हैं मेरा प्रिय भक्त सदा कर्म का निर्मूलन करने में लगा रहता है। ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र अंश वाले सत्त्व, रज्, तम् ये तीनों गुण ज्ञानात्मक शिव और ज्योतिनिर्गुण आत्मारूप में जब प्रकृति में प्रविष्ट होता हूँ, तब सगुण कहलाता हूँ, ब्रह्मा, विष्णु एवं रूद्र आदि सगुण विषय है अर्थात् इन रूपों में मैं प्रकट होकर निर्माण आदि कार्य करता हूँ। मेरे अंशभूत धर्म, शेष, सूर्य और कलानिधान चन्द्रमा विषयी कहे गये है। इसी मुनिगण,

---

[1] कर्मणा जायन्ते जन्तुः कर्मणैव प्रलीयते।

संखं दुःखं भयं शांकं कर्मणा च प्रपद्यते।। - ब्र० वै० कृ० खं० ७४/६

मनुवृन्द और देवलोग मेरे कलाश हैं। मैं समस्त रेहों में व्याप्त हूँ, किन्तु समस्त कर्मो में भी मैं लिप्त नहीं होता। मेरा भक्त भी जीवन्मुक्त और जन्म-मरण एव जरा का अपहर्त्ता होता है[१]।

श्रुति में कहा है कि- "निश्चय ही यह जीव पुण्य-कर्म से पुण्यशील होता है पुण्ययोनि में जन्म पाता है और पाप कर्म से पापशील होता है- पापयोनि में जन्म ग्रहण करता है[२]।" उस जीव के द्वारा किये हुए कर्मो में से जिनका फल भोगने के लिये उसे स्वर्गलोक में भेजा गया है उन पुण्यकर्मो का पूर्णतया क्षय हो जाने पर वह स्वर्गस्थ जीवात्मा अनुशय से अर्थात् शेष कर्मसस्कारों से युक्त होकर जिस मार्ग से गया था, उसी से अथवा किसी दूसरे प्रकार लौट आता है।[३] अच्छे आचरण वाले जीव अच्छी योनि को प्राप्त होते हैं और बुरे आचरणों वाले बुरी योनियों को प्राप्त होते हैं।[४] "जो वर्णाश्रमी मनुष्य अपने कर्मो से स्थित रहने वाले है वे यहाँ से स्वर्गलोक में जाकर वहा कर्मो का फल भोगकर बचे हुए कर्मो के अनुसार अच्छे जन्म, कुल, रूप आदि को प्राप्त होते हैं।[५]"

आत्मा उस सत्ता को कहा गया है जो चैतन्य का आधार है। इसलिये कहा गया है कि आत्मा वह द्रव्य है जो ज्ञान का आधार है। वस्तुत. वैशेषिक ने दो प्रकार की आत्माओं को माना है[६]-

(१) जीवात्मा

(२) परमात्मा

जीवात्मा की चेतना सीमित है जबकि परमात्मा की चेतना असीमित है। जीवात्मा अनेक है जबकि परमात्मा एक है। परमात्मा ईश्वर का ही दूसरा नाम है।

वैशेषिक के मतानुसार ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा, धर्म अधर्म इत्यादि आत्मा के विशेष गुण है। जीवात्मा अनेक है। जितने शरीर है, उतनी ही जीवात्मा होती है। प्रत्येक जीवात्मा में मन का निवास होता है जिसके कारण इनकी विशिष्टता विद्यमान रहती है। आत्मा की अनेकता को वैशेषिक ने

---

[1] ब्र० वै० कृ० ख० ७८/२७-३०

२ "पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पाप पापेना" बृह० उ० ३/२/१३

[3] ब्रह्मसूत्र ३/१/८

[4] छा० उ० ५/१०/७

[५] गौतमस्मृति ११/१

[6] वैशेषिक दर्शन

जीवात्माओं की अवस्थाओं में भिन्नता के आधार पर सिद्ध किया है। इन्होंने आत्मा को अमर माना है यह अनादि और अनन्त है।

प्रत्येक गुण का कुछ न कुछ आधार होता है, चैतन्य एक गुण है। इस गुण का आश्रय शरीर, मन और इन्द्रिय नहीं हो सकता अत इस गुण का आश्रय आत्मा है। चैतन्य आत्मा का स्वरूप गुण नहीं है अपितु यह इसका आगन्तुक गुण है। आत्मा में चैतन्य का आविर्भाव तब होता है जब आत्मा का सम्पर्क शरीर इन्द्रियों और मन से होता है। साख्ययोग के मतानुसार चैतन्य आत्मा का स्वरूप लक्षण है। जिस प्रकार कुल्हाड़ी का व्यवहार करने के लिए एक व्यक्ति की आवश्यकता होती है उसी प्रकार ऑख, कान, नाक आदि विभिन्न ज्ञानेन्द्रियों का उपयोग करने वाला भी कोई होना चाहिए। वहीं आत्मा है।

प्रत्येक व्यक्ति को सुख-दु ख की अनुभूति होती है। इससे सिद्ध होता है कि सुख, दु ख किसी सत्ता के विशेष गुण हैं। सुख-दु.ख, पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, आकाश, मन, दिक् और काल के गुण नहीं हैं। अत सुख-दु.ख आत्मा के ही विशेष गुण हैं।

परमात्मा को ईश्वर कहा जाता है ईश्वर की चेतना असीमित है जबकि जीव की चेतना सीमित है वह पूर्ण है वह दयावान् है। ईश्वर ने विश्व की सृष्टि की है। ईश्वर ने वेद की रचना की है। ईश्वर जीवात्मा को उनके कर्मो के अनुरूप सुख-दुःख प्रदान करता है। विश्व को कार्य मानकर इसके कारण की व्याख्या के लिये ईश्वर की स्थापना हुई है।

वह आत्मा की शक्तिरूपा और समस्त जगत् की श्रेष्ठ जननी है। त्रिशूल, शक्ति, धनुष, खड्ग, बाण, शख, चक्र, गदा, पद्दन अक्षमाला, कमण्डलु, वज्र, अकुश, पाश, भुशुण्डी, दण्ड, तोमर, नारायणास्त्र, ब्रह्मास्त्र रौद्रास्त्र तथा गान्धर्वास्त्र,- इन सब को हाथों में धारण किये वह सती भगवान् कृष्ण के सामने महालक्ष्मी खड़ी होकर बोली।[1]

आत्मा को मीमासा-दर्शन में एक द्रव्य माना गया है जो चैतन्य गुण का आधार है, चेतना आत्मा का स्वभाव नहीं अपितु गुण हैं चैतन्य को आत्मा का आगन्तुक गुण माना गया है। आत्मा स्वभावत. अचेतन है। आत्मा का सम्पर्क जब मन, इन्द्रियों से होता है तब आत्मा में चैतन्य उदय

---

[1] ब्र० वै० ब्र० ख० ३/७४-७६

होता है। सुषुप्ति की अवस्था में उक्त सयोग का अभाव रहता हैं जिसका फल यह होता है कि आत्मा ज्ञान से शून्य हो जाती है इसी प्रकार मोक्ष की अवस्था में आत्मा सभी विशेष गुणों से रहित हो जाती है। यही कारण है कि मोक्षावस्था में आत्मा चेतन-शून्य हो जाती है। आत्मा को यह अमर मानती है, आत्मा की उत्पत्ति और विनाश नहीं होता है। आत्मा बुद्धि और इन्द्रियों से पृथक् है। आत्मा नित्य है, जबकि बुद्धि और इन्द्रिय अनित्य है, आत्मा विज्ञान सतान से पृथक् है। वह विज्ञानों का ज्ञाता है जबकि विज्ञान स्वय को जानने में असमर्थ है। इसके अतिरिक्त विज्ञान-सतान को स्मृति नहीं हो सकती, जबकि आत्मा स्मृति का कर्त्ता है। आत्मा को शरीर से भिन्न कहा गया है, क्योंकि शरीर कभी ज्ञाता नहीं हो सकता

आत्मा स्वय प्रकाशमान् है इसलिये आत्मा को 'आत्मज्योति' कहा गया हैं। आत्मा कर्त्ता, भोक्ता और ज्ञाता है।मीमासा का आत्म-सम्बन्धी विचार जैन दर्शन के आत्म विचार के समान ही है। जैमिनि ने आत्मा के अस्तित्त्व को प्रमाणित करने के लिए तर्क नहीं दिया है। उन्होंने कर्म का फल भोगने के लिये नित्य आत्मा के अस्तित्त्व को मान लिया है। मीमांसा मानती है कि मृत्यु के उपरान्त आत्मा शरीर को त्यागकर परलोक में अपने कर्मो का फल-सुख-दुःख पाने के लिए विचरण करती है।

आत्मा अनेक है वह धर्म और अधर्म की भिन्नता के कारण आत्मा को अनेक माना गया है। आत्मा के सुख-दु.ख भी इसी कारण अलग-अलग है। आत्मा के विभिन्न गुण माने गये है जो- सुख-दु.ख इच्छा, प्रयत्न, द्वेष, धर्म, अधर्म, सस्कार, और बुद्धि नाम वाले है। आत्मा ज्ञाता है और ज्ञाता के रूप में वह प्रकाशित होती है। प्रत्येक ज्ञान में त्रिपुटी अर्थात् ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान को प्रकाशित करने की क्षमता है।

अद्वैत वेदान्त का केन्द्रगत सम्प्रत्यय आत्मा या ब्रह्म है। इनके अनुसार केवल ब्रह्म या आत्मा ही तात्त्विक पदार्थ है। श्रुतियों में कहा गया है कि- यह सम्पूर्ण चराचर जगत् निश्चय ही ब्रह्म है; क्योंकि यह उसी से उत्पन्न हुआ है, स्थिति के समय उसी में चेष्टा करता है और अन्त में उसी में लीन हो जाता है। साधक को राग-द्वेष रहित शान्त चित्त होकर इस प्रकार उपासना करनी चाहिए। अर्थात् ऐसा ही निश्चयात्मक भाव धारण करना चाहिए; क्योंकि यह मनुष्य संकल्पमय है। इस लोक में यह जैसे सकल्प से युक्त होता है; यहां से चले जाने पर परलोक में यह वैसा ही बन जाता है। इस मन्त्र में उसी परब्रह्म की उपासना करने को कहा गया है; जिससे इस जगत् की उत्पत्ति, स्थिति

और प्रलय होते है तो जो समस्त वेदान्त वाक्यों में जगत् के महाकारण रूप से प्रसिद्ध है। अत इससे सिद्ध होता है कि उपास्यदेव परब्रह्म परमात्मा ही है, दूसरा नहीं।[१] यह उपास्यदेव मनोमय, प्राणरूप शरीरवाला, प्रकाशस्वरूप सत्य-सकल्प, आकाश के सदृश व्यापक, सम्पूर्ण जगत् का कर्त्ता, पूर्णकाम, सर्वगन्ध, सर्वरस, इस समस्त जगत् को सब ओर से व्याप्त करने वाला, वाणीरहित तथा सम्भ्रमशून्य है। 'ब्रह्म' को 'मनोमय' तथा 'प्राणरूप शरीरवाला कहना भी अनुचित नहीं क्योंकि वह सबका अन्तर्यामी आत्मा है। केनोपनिषद् में उसे 'मन' का भी 'मन' और 'प्राण' का भी 'प्राण' बताया गया है इसलिये उपास्यदेव परब्रह्म परमेश्वर ही हैं।

उपासना के लिये श्रुति मे जो सत्यसकल्पता, सर्वव्यापकता, सर्वात्मकता, सर्वशक्तिमत्ता आदि गुण हैं वे जीवात्मा में नहीं पाये जाते; इस कारण इस प्रसग में बताया हुआ उपास्यदेव जीवात्मा नहीं है।[२] उक्त प्रकरण में उपास्य देव को प्राप्ति क्रिया का कर्म अर्थात् प्राप्त होने योग्य कहा है और जीवात्मा को प्राप्ति क्रिया का कर्त्ता अर्थात् उस ब्रह्म को प्राप्त करने वाला बताया है। इसलिये जीवात्मा उपास्य नहीं हो सकता।[३] तात्पर्य यह है कि 'सर्वकर्मा' आदि विशेषणों से युक्त ब्रह्म ही मेरे हृदय में रहने वाला ब्रह्म ही मेरी आत्मा है। मरने के बाद यहाँ से जाकर परलोक में मै इसी को प्राप्त होऊँगा। इस प्रकार यहाँ पूर्वोक्त उपास्य देव को प्राप्त होने योग्य तथा जीवात्मा को उसे पाने वाला कहा गया है। अत यहा उपास्यदेव परब्रह्म परमात्मा है और उपासक जीवात्मा। यही मानना उचित है। (उपास्य और उपासक के लिये) शब्द का भेद होने के कारण भी (यह सिद्ध होता है कि यहा उपास्यदेव जीवात्मा नहीं है)।

श्रीमद्भगवद्गीता आदि स्मृति ग्रन्थ से भी उपास्य और उपासक का भेद सिद्ध होता है जैसे- मुझमें मन को लगा, और मुझमें ही बुद्धि को लगा; इसके उपरान्त तू मुझमें ही निवास करेगा, इसमें कुछ भी सशय नहीं है[४] और जो पुरुष अन्तकाल में भी मुझको ही स्मरण करता हुआ शरीर को

---

[1] छा० उ० ३/१४/१

[2] ब्रह्मसूत्र १/२/२

[3] कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च - ब्रह्मसूत्र- १/२/४

[4] मय्येव मन आधस्व मयिबुद्धि निवेशय। निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न सशय।। गीता - १२/८

त्यागकर जाता है, वह मेरे स्वरूप को प्राप्त होता है इसमें कुछ भी सशय नही है।[१] अत इसमें उपास्यदेव परब्रह्म परमात्मा ही है। परब्रह्म परमेश्वर भी सबके हृदय में बुद्धिरूप गुफा के भीतर छिपा है। वह अन्नमय स्थूल शरीर है इसको पुरुष के नाम से कहकर उसके अगों की तुलना पक्षी के अगों से की गयी है। क्रमश एक का दूसरे को अन्तरात्मा बताते हुए प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय पुरुष का वर्णन किया गया है। साथ ही प्रत्येक का आत्मा एक ही तत्त्व को निश्चित किया गया इससे यह ज्ञान होता है कि उत्तरोत्तर सूक्ष्म तत्त्व के भीतर दृष्टि ले जाकर उस एक ही अन्तरात्मा को लक्ष्य कराया गया है। वहा विज्ञानमय-जीवात्मा का वर्णन करके उसका भी अन्तरात्मा आनन्दमय को बताया गया है। अन्त में सबका अन्तरात्मा आनन्दमय को कहा गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि आनन्दमय शब्द ब्रह्म का ही वाचक है।

आत्मा शब्द का प्रयोग तो अधिकतर प्रत्यगात्मा (जीवात्मा) का ही वाचक है। श्रुति के अनुसार[२] आत्मा शब्द को ब्रह्म का वाचक माना गया है। तैत्तिरीय उपनिषद् में –'उसने इच्छा की कि मै बहुत हो जाऊँ।[३] इस श्रुति वाक्य द्वारा उस आनन्दमय आत्मा से समस्त जगत् की उत्पत्ति का वर्णन है। अत. इससे यह सिद्ध हो जाता है कि यहा 'आत्मा' शब्द परमात्मा का ही वाचक है और आनन्दमय नाम भी उस परब्रह्म का ही है।

श्रुति यह भी कहती है कि एक को जानने से सब कुछ जान लिया जाता है, यह तभी सम्भव है जब एकमात्र ब्रह्म ही, जो जगत् का कारण है, सत् पदार्थ हो। छान्दोग्य के छठे अध्याय में अपने पुत्र श्वेतकेतु को समझाते हुए, आरुणि ने कहा कि कारण को जान लेने वाला होता है उसके समस्त कार्य जान लिये जाते हैं; क्योकि कार्य नामरूप मात्र है। अद्वैत वेदान्त ब्रह्म अथवा आत्मा को प्रमाणों का विषय नहीं मानता, वह उसे ज्ञान का विषय भी नही मानता। यह सिद्धान्त विशेष महत्वपूर्ण है क्योंकि 'प्रमाण' शब्द का व्युत्पत्ति मूलक अर्थ है- वह जिसके द्वारा ज्ञान के विषय का मापन किया जाता है अथवा जिसके द्वारा ज्ञेय को सीमित या परिच्छिन्न किया जाता है चूँकि आत्मा अपरिच्छिन्न है, इसलिये उसे प्रमाणों अथवा ज्ञान का विषय नहीं बनाया जा सकता।

---

[1] गीता – ८/५

[2] ऐ० उ० १/१/१

[3] 'सोऽकामयत बहुस्याम्'- तै० उ०

उपनिषदों में जगह-जगह ब्रह्म या आत्मा का वर्णन है। ब्रह्म को अपरोक्ष या साक्षात्कार-रूप कहा गया है अर्थात् जो साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म है, जो सबका अन्तरात्मा है, उसको मुझे समझाये।[१] इसके उत्तर में कहा है कि 'जो तेरी अन्तरात्मा है, वहीं सबकी अन्तरात्मा है। जो भूख, प्यास, शोक, मोह, बुढ़ापा और मृत्यु सबसे अतीत है।'[२] इसे सत्य, ज्ञान और अनन्त कहा गया है। अद्वैत मत में आत्मा चैतन्य-रूप है, चैतन्य उसका गुण मात्र नहीं है। अद्वैत का ब्रह्म साख्य के पुरुष के समान है।'

दिशाओं की भाँति आत्मा, आकाश और काल नित्य है एव विश्व-गोल तथा गोलोक धाम नित्य है।[३] उसके एक प्रदेश के लम्बे भाग में स्थित वैकुण्ठ भी नित्य है। उसी प्रकार ब्रह्म में लीन रहने वाली सनातनी प्रकृति भी नित्य है। जिस प्रकार अग्नि में दाहिकता शक्ति, चन्द्र और कमल में शोभा तथा सूर्य में प्रभा निरन्तर युक्त रहती है कभी भिन्न नहीं होती। उसी प्रकार परमात्मा में प्रकृति नित्य विराजमान रहती है।

कृष्ण भक्तिहीन पुरुष का जीवन व्यर्थ है, क्योंकि वह जिस आत्मा से जीवित रहता है वह उसी को नहीं मानता।[४] शरीर में जब तक आत्मा रहती है तब तक शक्तियों से उसका सयोग होता है और आत्मा के चले जाने पर शक्तिया भी चली जाती हैं क्योंकि शक्तियाँ स्वतन्त्र नहीं हैं। प्रकृति से परे रहने वाले भगवान् श्रीकृष्ण ही कर्मो के बीजरूप, उसके फलदाता और कर्मरूप हैं एव वही कर्मो हेतु रूप भी हैं, वे सदैव वर्तमान रहते हैं, अत· उन्हीं के द्वारा कर्म की प्राप्ति होती है। कर्मो के फल का भोक्ता जीव है और आत्मा उससे निर्लिप्त रहता है।[५] आत्मा का प्रतिबिम्ब ही देही और जीव कहलाता है। पांच भूतों के नश्वर रूप को देह कहते हैं। भगवान् के सृष्टि विधान में पृथिवी, वायु, आकाश, जल और तेज यही सृष्टि के सूत्र हैं। देही (जीवात्मा) कर्ता, भोक्ता है और आत्मा

---

[1] यत् साक्षाद परोक्षाद् ब्रह्म। ब्र० उ० ३/४/१

[2] वही ३/५/१

[3] नित्यात्मा च नभो नित्य कालो दिशो यथा।

विश्वेषा गोलोक नित्य नित्यों गोलोक एव च।। - ब्र० वै० प्र० ख० २/५

[4] ब्र० वै०प्र० ख० ३/३७

[5] ब्र० वै०प्र० ख० २५/१३

(परमात्मा) भोजयिता (भोग करने वाला) है। अनेक भाँति के विभव भोग हैं तथा उनसे पृथक् होने को मुक्ति कहते हैं।

इस स्वप्रकाशित चेतना (चित्) और आत्मा में कोई अन्तर नहीं है। यह 'चित्' ही आत्मा है जो सारी अनुभूतियों का केन्द्र है। यह आत्मा सारी वस्तुओं को प्रकाशित करती है। यह स्वय किसी ज्ञान का विषय नहीं है। किसी को भी अपनी आत्मा के होने के सम्बन्ध में कोई सन्देह नहीं रहता सारी ज्ञान वृत्तियों में आत्मा का बोध निश्चित रूप से उपस्थित रहता है। जिसे हम आत्मा का बोध कहते हैं। वह सासारिक दृष्टि से आत्मा का 'अहम्' रूप का बोध मात्र है। यह अहम् ही हमारे नश्वर शरीर में आत्मरूप में जाना जाता है। शुद्ध चेतन महान् आत्मा सारे विश्व में एकरूपेण स्थित है, यह सर्वव्यापक विश्वात्मा के रूप में अवस्थित है जब यह आत्मा शरीर में उपस्थित होकर सासारिक अनुभूतियों का विषय बनती है तो यह जीवात्मा कहलाती है। यह जीवात्मा ही सारे सासारिक अनुभवों को अनुभूति-चेतना के रूप में ग्रहण करता है परन्तु यह आत्मा का केवल शरीर स्थित रूप है। जिस प्रकार 'ईश्वर' ब्रह्म अथवा परम आत्मा का प्रकृत रूप हैं। ईश्वर ब्रह्म का वह रूप है जो माया के साथ सारे संसार का निर्माण कर उसमें स्थित है।

आत्मा दृश्य नहीं है, न अस्त्रों का ही लक्ष्य है वह न तो वध के योग्य है और न दृश्य ही है। उसे अग्नि जला नहीं सकती है। वह हिसा करने योग्य भी नहीं है ऐसा अध्यात्मवादियों का कहना[1] है। कृष्ण की देह जो दिखाई पड़ती है वह भक्तों के ध्यानार्थ है। ज्योति स्वरूप एव व्यापक परमात्मा का आदि, मध्य, और अन्त नहीं है। जिस समय निखिल ब्रह्माण्ड जल में विलीन हो जाता है, उस समय भगवान् जनार्दन जल में शयन करते है। जिसके नाभिकमल से ब्रह्मा उत्पन्न होते है, उस ईश्वर को एक साधारण कुण्ड में क्या विपत्ति घेर सकती है?[2]

ब्रह्मा बोले- मैं उस सर्वस्वरूप, सबके ईश, समस्त कारणों के कारण, सबके लिये अनिर्वचनीय, जो नये मेघ के समान श्यामल श्याम-सुन्दर शरीर, सभी जीवों में स्थित रहने पर भी

---

[1] नाऽऽत्मा दृश्यो नास्त्रलक्ष्वो च बध्यो न हि दृश्यक। नाग्निग्रस्तो न हिस्यश्चापदिमाध्यत्मिका बिन्दु।। ब्र० वै० कृ० ख० १६/१५७

[2] ब्र० वै० कृ० ख० -१६/१५८

निर्लिप्त, साक्षीरूप अपने आत्मा में रमण करने वाले, पूर्णकाम, जगत् में व्याप्त और जगत् से परे रहने वाले, सबके स्वरूप, सबके बीजरूप, सनातन सर्वाधार, सर्वश्रेष्ठ समस्त शक्ति सम्पन्न, सबके अराध्य देव, सबके गुरू, समस्त मगलों के कारण, सम्पूर्ण मन्त्र स्वरूप, समस्त सम्पत्तिकारी, शक्ति समेत और रहित भी है; उन स्वेच्छामय एव व्यापक भगवान् की मै स्तुति करता हूँ।[१]

वह शक्ति के ईश, शक्ति के बीज, शक्ति रूपधारी, श्रेष्ठ, घोर ससार सागर में शक्तिरूपी नौका से युक्त, कृपालु, भक्त वत्सल और कर्णधार की मैं स्तुति कर रहा हूँ।[२] आत्मस्वरूप, एकान्त, लिप्त, निर्लिप्त, सगुण एव निर्गुण ब्रह्म तथा स्वेच्छामय की मै स्तुति करता हूँ। क्षण में तेज स्वरूप, निराकार, निरजन, निर्लिप्त, निरीह और परमात्मस्वरूप, अनेक रूपधारी उन स्वेच्छामय को देखकर हिमालय के नेत्र प्रेमवश सजल हो गये और वह उन्हें बार-बार प्रणाम करने लगा।[३] वहीं भगवान् श्रीकृष्ण सबके आत्मा है, पुरुषों में श्रेष्ठ हैं कठिनाई से आराधना करने योग्य, अत्यन्त साध्य, सभी के आराध्य, सुखदायक, अपने भक्तों के लिए साध्य, अभक्त के लिए बिल्कुल असाध्य, अपने भक्त को निरन्तर दिखायी देने वाले और अभक्त को कभी न दिखायी देने वाले हैं।[४] उनका चरित कार्य और हृदय दुर्ज्ञेय (समझ में न आने योग्य) हैं। उनकी अपार शक्ति वाली माया से समस्त प्राणी बधे और मोहित है।[५]

इसी प्रकार गुरु विष्णु, गुरु, ब्रह्मा, गुरु महेश्वर देव, गुरु धर्म, गुरु शेष और गुरु ही सबकी आत्मा एव निर्गुण स्वरूप है। समस्त तीर्थो के आश्रय एव समस्त वेदस्वरूप होने के कारण वह स्वय गुरु रूप में साक्षात् भगवान् है।[६] गुरु से बढकर न तो आत्मा प्रिय है, न पुत्र प्रिय है, न धन प्रिय है और न स्त्री ही प्रिय है, गुरु से बढ़कर न धर्म प्रिय है, न तप प्रिय है, न सत्य प्रिय है और न गुरु से बढकर कोई पुण्य ही है।

---

1 ब्र० वै० कृ० ख० -२०/३७-४१

2 ब्र० वै० कृ० ख० -२०/४२-४४

3 ब्र० वै० कृ० ख० -४०/१०३-१०५

4 ब्र० वै० कृ० ख० -५५/१-२

5 दुर्ज्ञेय तस्य चरित कार्य हृदयमेव च। बद्धस्तन्मायया सर्वे मोहिताश्च दुरन्तया।। ब्र० वै० कृ० ख० -५५/३

6 ब्र० वै० कृ० ख० -५६/१५१-१५२

श्रीकृष्ण ने नारद से कहा- मैं (सबकी) आत्मा और भक्तों के ध्यान के अनुरोध से नित्य देह धारण करने वाला हूँ। जितने प्राकृतिक (प्रकृति-उत्पन्न) हैं, वे प्राकृत के लय होने पर नष्ट हो जाते हैं। केवल मैं ही सृष्टि के पहले और पश्चात् भी रहता हूँ, जिस प्रकार दूध और उसकी धवलता पृथक् नहीं रहती है, उसी भाँति हम और तुम हैं। इस प्रकार प्राणियों की देहों में निरन्तर स्थित रहते हुए भी निर्लिप्त रहते हैं और कर्मियों के कर्मो के शुद्ध साक्षी और अविनाशी विभु (व्यापक परमात्मा) है, अत मैं तुम्हारी स्तुति क्या करूँ? क्योंकि तुम रूप-रहित, गुणशून्य एव निर्गुण हो।[1]

[1] देहेषु देहिना शश्वत्सिति निर्लिप्तमेव च। कर्मिणा कर्मणा शुद्ध साक्षिण साक्षात् विभुषा।।
कि स्तौमि रूपशून्य च गुणशून्य च निर्गुणम्।। - ब्र० वै० कृ० ख० -१००/२०

अध्याय ६

"जीव स्वरूप"

अविद्या में चैतन्य के प्रतिबिम्ब को जीव कहा जाता है।[1] अर्थात् उन्हीं का प्रतिबिम्ब जीव है। मन, ज्ञान, चेतना, प्राण, इन्द्रियाँ, बुद्धि मेघा, घृति और स्मृति। यहाँ तत्प्रतिबिम्बक इस शब्द में तत् चिद्रूप परमात्मा का बोधक है। क्योंकि इसके पूर्व हृदिस्थ[2] अर्थात् हृदय में अन्तर्यामी आत्मा रूप से विराजमान हमारे स्वामी सर्वेश्वर परमात्मा को नहीं जानते, यह आश्चर्य की बात हैं। देहधरियों की देह से परमात्मा के निकल जाने पर देह गिर जाती है और सभी सूक्ष्म इन्द्रिय वर्ग एव प्राण उनके पीछे उसी तरह निकल जाते हैं जैसे राजा के पीछे उसके सेवक जाते हैं वे परमात्मा जब जाने को उद्यत होते हैं। तब उनकी शक्ति आगे-आगे जाती है उपर्युक्त सभी भाव तथा शक्ति उन्हीं परमात्मा के आज्ञापालक हैं। देह में उनके रहने पर ही प्राणी सभी कार्य करने में समर्थ होता है, और उनके चले जाने पर शरीर अस्पृश्य और त्याज्य शव हो जाता है ऐसे सर्वेश्वर शिव को कौन देहधारी नहीं मानता है?

वेदान्त दर्शन में व्यष्टि अविद्या में चैतन्य के आभास या प्रतिबिम्ब को प्रतिबिम्बवादी विवरण का जीव माना है। इसे ही 'आभासवाद' या 'प्रतिबिम्बवाद' कहा जाता है। अर्थात् जो लोग जीवात्मा को उस परब्रह्म का अंश नहीं मानते, सब जीवों को अलग-अलग स्वतन्त्र मानते है उन्होंने अपनी मान्यता को सिद्ध करने के लिये युक्ति-प्रमाण दिये है; वे सबके सब आभासमात्र है;[3] अत उनका कथन ठीक नही है जीवात्माओं को परमात्मा का अंश मानना ही युक्तिसगत है, क्योंकि ऐसा मानने पर ही समस्त श्रुतियों के वर्णन की एकवाक्यता हो सकती हैं। परब्रह्म परमेश्वर को श्रुति में अखण्ड और अवयवरहित बताया गया है इसलिये उसका अंश नहीं हो सकता। फिर भी जो जीवों को उस परमात्मा का अश कहा जाता है, वह अशाशिभाव वास्तविक नहीं है; घटाकाश की भाँति उपाधि के निमित्त से प्रतीत होता है। 'अदृष्ट' अर्थात् जन्मान्तर में किये हुए कर्मफलभोग की कोई नियम

---

[1] जीवस्तत्प्रतिनिम्बश्च मनोज्ञान च चेतना। प्राणश्चेन्द्रियवर्गाश्च बुद्धिर्मेधा धृति स्मृति ।। ब्र० वै० ब्र० ख० १७/२६

[2] ब्र० वै० ब्र० ख० १७/२४-२५

[3] 'आभासा एव च' - ब्रह्मसूत्र २/३/५०

व्यवस्था नहीं हो सकेगी;[1] इसलिये (उपाधि के निमित्त से जीवों को परमात्मा का अश मानना युक्तिसगत नहीं है।) तात्पर्य यह है कि जीवों को परमात्मा का अश न मानकर अलग-अलग स्वतन्त्र मानने से तथा घटाकाश की भाँति उपाधि के निमित्त से जीवगण को परमात्मा का अश मानने से भी जीवों के कर्मफल-भोग की व्यवस्था नहीं हो सकेगी; क्योंकि यदि जीवों को अलग-अलग स्वतन्त्र मानते है तो उनके कर्मफल भोग की व्यवस्था कौन करेगा? जीवात्मा स्वय अपने कर्मो का विभाग करके ऐसा नियम बना ले कि अमुक कार्य का अमुक फल मुझे अमुक प्रकार से भोगना है तो यह सम्भव नहीं है।

कर्म जड़ है, अत वे भी अपने फल का भोग कराने की व्यवस्था स्वय नहीं कर सकते। यदि ऐसा माने कि एक ही परमात्मा घटाकाश की भाँति अनादि सिद्ध शरीरादि की उपाधियों के निमित्त से नाना जीवों के रूप में प्रतीत हो रहा है तो भी उन जीवों के कर्मफल भोग की व्यवस्था नहीं हो सकती; क्योंकि इस मान्यता के अनुसार जीवात्मा और परमात्मा का भेद वास्तविक न होने के कारण समस्त जीवों के कर्मो का विभाग करना, उनके भोगने वाले जीवों का विभाग करना तथा परमात्मा को उन सबसे अलग रहकर उनके कर्मफलों का व्यवस्थापक मानना सम्भव न होगा। अत श्रुति के कथनानुसार यह मानना ठीक है कि सर्वशक्तिमान् परब्रह्म परमेश्वर ही सबके कर्मफलों की यथायोग्यव्यवस्था करता है तब सब जीव उसी से प्रकट होते हैं इसलिये पिता-पुत्र की भाँति उसके अश है।

कूटस्थ में कल्पित हुई बुद्धि में चेतन का जो प्रतिबिम्ब है, वहीं जीव कहलाता है।[2] सभी प्राणों का धारक होने से उसकी 'जीव' सज्ञा होती है। वही ससार के जाल में फँस जाता है। प्रतिबिम्ब का तात्पर्य यहाँ चिदाभास से है। घटाकाश के आश्रित, जल से भरे हुए घट में महाकाश के प्रतिबिम्ब के समान ही कूटस्थ में कल्पित स्थूल शरीर में विद्यमान अविद्याश में प्रतीयमान चेतन का प्रतिबिम्ब ही चिदाभास है और उसी चिदाभास को 'जीव' कहते हैं। यदि कहा जाय कि जीव से भिन्न होने पर भी यह कूटस्थ प्रतीत क्यों नहीं होता? तो इसका उत्तर है कि जलाकाश से घटाकाश के

---

[1] 'अदृष्टानियमात् - ब्रह्मसूत्र २/३/५१

[2] "कूटस्थे कल्पिता बुद्धिरतत्र चित्प्रतिबिम्बित।
प्राणाना धारणाज्जीव ससारेण सा युज्यते।। पचदीप चित्रदीप- २३

आवृत्त रहने के समान ही कूटस्थ भी जीव से घिरा रहता है। इसी तिरोहित भाव को 'अन्योन्याध्यास' कहते हैं।

वह तत्वों का सारभूत, अज्ञानी-अन्धे के नेत्र और द्वैध भ्रमरूपी अन्धकार का नाशक अत्यन्त प्रज्ज्वलित प्रदीप है।[1] सनातन परब्रह्म परमात्मस्वरूप है। वह समस्त देहों में स्थित और जीवों के कर्मो का साक्षी है। (सभी जीवों के) पाचों प्राण स्वय विष्णु, मन, प्रजापति, ब्रह्मा, समस्त ज्ञानस्वरूप मै (शिव) और ईश्वरी प्रकृति शक्ति हैं। राजा के अनुचरों की भॉति हम सभी परमात्मा के अधीन है। शरीर में उसके स्थित रहने पर हम (महादेव) लोग स्थित रहते हैं। और उस परम् (महान) के चले जाने पर चले जाते हैं।[2] जीव उसी परमात्मा का प्रतिबिम्ब है और कर्मो का भोग करता है। जैसे जलपूर्ण घट में सूर्य-चन्द्र का प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ता है और घट के फूट जाने पर वह प्रतिबिम्ब चन्द्रमा और सूर्य में विलीन हो जाता है, उसी भॉति प्रलय के समय जीव ब्रह्म में लीन हो जाता है। समस्त सगीत की सन्धि तथा ताल का कारण उसी का रूप है।

प्रत्येक विश्व में जीवों के लिये वह विषय, ज्ञान और वाणी रूपा है, उसके बिना विश्व-समूह सदा मूक एव मृतक तुल्य है, उसका एक हाथ व्याख्या की मुद्रा में उठा रहता है। वह शतरूपा है तथा हाथ मे वीणा और पुस्तक धारण किये रहती है।[3]

आत्मा की पारमार्थिक सत्ता है जबकि जीव की व्यावहारिक सत्ता है। जब आत्मा शरीर, इन्द्रिय, मन इत्यादि उपाधियों से सीमित होता है तब वह जीव हो जाता है। आत्मा एक है जबकि जीव भिन्न-भिन्न शरीरों से अलग-अलग हैं इससे सिद्ध होता है कि जीव अनेक हैं। जितने व्यक्ति विशेष हैं उतने जीव हैं। जब आत्मा का प्रतिबिम्ब अविद्या में पड़ता है तब वह जीव हो जाता है। इस प्रकार जीव आत्मा का आभासमात्र है। जीव ससार के कर्मो में भाग लेता है। इसलिये उसे कर्त्ता कहा जाता है, वह विभिन्न विषयों का ज्ञान प्राप्त करता है; इसलिये उसे ज्ञाता कहा जाता है। सुख-दु.ख की अनुभूति जीव को होती है, वह कर्म-नियम के अधीन है। अपने कर्मो का फल प्रत्येक जीव को भोगना पड़ता है। शुभ और अशुभ कर्मो के कारण वह पुण्य और पाप का भागी होता है।

---

[1] सारभूत च तत्त्वानामज्ञानान्धकलोचनम्। द्वैधभ्रम तमो ध्वस सुप्रकृष्ट प्रदीपकम्।। ब्र० वे० ब्र० ख० २८/११
[2] आत्माधीनावय सर्वे थितेतस्मिन्वय स्थिता। गते गताश्च परमेनरदेवमिवानुगा।। ब्र० वै० ब्र० ख- २८/१४
[3] ब्र० वै० प्र० ख० १/३४-३५

शकर ने आत्मा को मुक्त माना है परन्तु जीव इसके विपरीत बन्धन-ग्रस्त हैं। अपने प्रयासों से जीव मोक्ष को अपना सकता है। जीव को अमर माना गया है। शरीर के नष्ट हो जाने के बाद जीव आत्मा में लीन हो जाता है। एक ही आत्मा विभिन्न जीवों के रूप में दिखाई देती है। जिस प्रकार एक ही आकाश उपाधि भेद के कारण घटाकाश, मठाकाश इत्यादि में दीख पडता है; उसी प्रकार एक ही आत्मा शरीर और मनस् की उपाधियों के कारण अनेक दीख पडती है। जीव आत्मा का वह रूप है जो देह से युक्त है। उसके तीन शरीर है। वे है-स्थूल शरीर, लिग शरीर और कारण शरीर जीव शरीर और प्राण का आधारस्वरूप है। जब आत्मा का अज्ञान के वशीभूत होकर बुद्धि से सम्बन्ध होता है तब आत्मा जीव का स्थान ग्रहण करती है। जब तक जीव में ज्ञान का उदय नहीं होगा वह अपने को बुद्धि से भिन्न नहीं समझ सकती है। इसलिये शंकर ने इस सम्बन्ध का नाश करने के लिये ज्ञान पर बल दिया है।

"ब्रह्म और जीव का सम्बन्ध"

ब्रह्म और जीव वस्तुत. अभिन्न है। जिस प्रकार अग्नि से निकली हुई विभिन्न चिनगारियॉं अग्नि से अभिन्न है उसी प्रकार जीव ब्रह्म से अभिन्न है। रामानुज के मतानुसार जीव ब्रह्म का अश है परन्तु शंकर को यह मता मान्य नहीं है, क्योंकि ब्रह्म निरवयव है। बल्लभ के अनुसार जीव ब्रह्म का विकार है। परन्तु शकर को यह मत मान्य नहीं है, क्योंकि ब्रह्म अविकारी या अपरिणामी है। जीव न आत्मा से भिन्न न आत्मा का अश है। न आत्मा का विकार है बल्कि स्वतः आत्मा है। यदि जीव को ब्रह्म या आत्मा से भिन्न माना जाय तब जीव का ब्रह्म से तादात्म्य नहीं हो सकता है, क्योंकि दो विभिन्न वस्तुओं में तादात्मता की सम्भावना नहीं सोची जा सकती है।

जीव और ब्रह्म के बीच जो भेद दीख पडता है वह सत्य नहीं है। इसका कारण यह है कि दोनों का भेद उपाधि के द्वारा निर्मित है। दोनों का भेद व्यावहारिक है। सच तो यह है कि जीव और ब्रह्म में परमार्थतः कोई भेद नहीं है। शकर का यह कथन कि 'तत्त्वमसि'[1] अर्थात् 'वह ब्रह्म तू है' इत्यादि वचनों द्वारा उस परमात्मा को अपने से अभिन्न मानकर उसकी उपासना करने के लिये उपदेश दिया गया है। फिर उसी को भोक्ता, भोग्य आदि से युक्ति इस विचित्र जड़चेतनात्मक जगत्

---

[1] तत्त्वमसि - छा० उ० ६/८/७

का स्रष्टा, सचालक तथा जीवों के कर्मफल भोग एव बन्ध मोक्ष की व्यवस्था करने वाला कहा गया है। जीव समुदाय तथा उनके कर्म सस्कारों को अनादि बताकर उनकी उत्पत्ति का निषेध किया गया है। इन सब प्रसगों पर विचार करने से यहीं सिद्ध होता है कि जीव-समुदाय चैतन्य जाति के कारण तो परस्पर एक या अभिन्न है, परन्तु विभिन्न कर्म-सस्कार जनित सीमित व्यक्तित्व के कारण भिन्न-भिन्न है। प्रलयकाल में सब जीव ब्रह्म में विलीन होते हैं, सृष्टि के समय पुन उसी से प्रकट होते है तथा ब्रह्म की ही परा प्रकृति के अन्तर्गत होने से उसी के अश है, इसलिये तो वे परमात्मा से अभिन्न कहलाते हैं और परमात्मा उनका नियामक है तथा समस्त जीव उनके नियम्य है, इस कारण वे उस ब्रह्म से भी भिन्न हैं। यह आत्मा और जीव की अभिन्नता को प्रमाणित करता है।

जीव और ब्रह्म के सम्बन्ध की व्याख्या के लिये शकर प्रति-बिम्बवाद का प्रतिपादन करते है। जिसप्रकार एक चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब जब जल की भिन्न-भिन्न सतहों पर पडता है तब जल की स्वच्छता और मलिनता के अनुरूप प्रतिबिम्ब भी स्वच्छ और मलिन दीख पडता है। उसी प्रकार एक ब्रह्म का प्रतिबिम्ब अविद्या पर पड़ता है तब अविद्या की प्रकृति के कारण जीव भी विभिन्न आकार प्रकार में दीख पड़ता है। शंकर प्रतिबिम्बवाद की कठिनाइयों से अवगत होकर ब्रह्म और जीव के सम्बन्ध की व्याख्या के लिये दूसरे सिद्धान्त का सहारा लेता है। जिस प्रकार एक ही आकाश, जो सर्वव्यापी है, उपाधि भेद से अनेक जीवों के रूप में आभाषित होता है। इस सिद्धान्त को 'अवच्छेदवाद' कहा जाता है। यह सिद्धान्त प्रतिबिम्बवाद की अपेक्षा अधिक सगत है। इससे सिद्ध होता है कि जीव सीमित होने के बावजूद ब्रह्म से अभिन्न है। जो लोग दोनों सिद्धान्तों से सहमत नहीं हो पाते, उन्हें शकर यह कहता है कि जीव अपरिवर्तनशील ब्रह्म है जो अपने स्वरूप के बारे में अनभिज्ञ रहता है।

जब ब्रह्म का माया से सम्बन्ध होता है तब वह ईश्वर हो जाता है। जब ब्रह्म का अविद्या से सम्बन्ध होता है तब वह जीव हो जाता है। इस प्रकार जीव और ईश्वर दोनों ब्रह्म के विवर्त हैं। ईश्वर और जीव दोनों व्यावहारिक दृष्टिकोण से ही सत्य है। पारमार्थिक दृष्टिकोण से दोनों असत्य प्रतीत होते है। जिस प्रकार आग की सभी चिनगारियों में ताप पाया जाता है। वैसे ही शुद्ध चैतन्य जीव और ईश्वर दोनों में पाया जाता है। इससे प्रमाणित होता है कि जीव और ईश्वर एक दूसरे के निकट है। "यदि ईश्वर ब्रह्म है और यदि जीव भी आध्यात्मिक दृष्टि से ब्रह्म के समान है तो ईश्वर

तथा जीव के मध्य का भेद बहुत न्यून हो जाता है।"[1] इन समानताओं के अतिरिक्त दोनों में कुछ विभिन्नताएँ है-

ईश्वर मुक्त है, जबकि जीव बन्धनग्रस्त है। ईश्वर अकर्त्ता है जबकि जीव कर्त्ता है, ईश्वर उपासना का विषय है जबकि जीव उपासक है। ईश्वर जीवों के कर्मो के अनुसार सुख-दु ख प्रदान करता है। वह कर्मफलदाता है। जीव कर्मो का फल भोगता है, क्योंकि वह कर्म नियम के अधीन है परन्तु ईश्वर कर्म-नियम से स्वतन्त्र है। ईश्वर पाप-पुण्य से ऊपर है क्योंकि वह पूर्ण है। ईश्वर जीव का शासन है जबकि जीव शासित है। जीव ईश्वर के अशों की तरह है। यद्यपि ईश्वर निरावयव है। ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक और अविद्या से शून्य है जबकि जीव अविद्या के वशीभूत तुच्छ तथा कमजोर है।

शकर ने जीव और ईश्वर के सम्बन्ध को बताने के लिये श्रुति का सहारा लिया है- "दो पक्षी निरन्तर साथ रहते हैं तथा एक दूसरे के अति निकट हैं, एक ही वृक्ष पर निवास करते हैं। उनमें से एक फल को मधुर समझकर बड़े चाव से खाता है और दूसरा बिना खाये सिर्फ देखा करता है। पहला जीव है जबकि दूसरा ईश्वर है। जीव भोगता है जबकि ईश्वर द्रष्टा है। ईश्वर जीव को भोग कराता है। जीव कर्त्ता है ईश्वर नियन्ता है।[2]

प्रकृति से परे रहने वाले भगवान् श्रीकृष्ण ही कर्मो के बीजरूप, उसके फलदाता और कर्मरूप है। वहीं कर्मा के हेतुरूप भी हैं। वे सदैव वर्तमान रहते हैं। अत उन्हीं के द्वारा कर्म की प्राप्ति होती है। कर्मो के फल का भोक्ता जीव है और आत्मा उससे निर्लिप्त रहता है। आत्मा का प्रतिबिम्ब ही देही और जीव कहलाता है। पाच भूतों के नश्वर रूप को देह कहते हैं।[3] भगवान् के सृष्टि विधान में पृथिवी, वायु, आकाश, जल और तेज यही सृष्टि के सूत्र है देही (जीवात्मा), कर्त्ता , भोक्ता है और आत्मा (परमात्मा) भोजयिता (भोग कराने वाला) है। अनेक भाँति के विभव भोग हैं तथा उनसे पृथक् होने को मुक्ति कहते हैं। सत् असत् भेद का बीजरूप ज्ञान अनेक प्रकार का होता है। घट, पट, आदि विषय तथा उनका भेदज्ञान के भेद में कारण कहा गया है। विवेचनमयी शक्ति को बुद्धि कहते है। वेद में ज्ञानबीज नाम से इसकी प्रसिद्धि है। वायु के ही विभिन्न रूप प्राण है। इन्हीं के प्रभाव से

---

[1] डा० राधाकृष्णन्।

[2] मुण्डकोपनिषद्

[3] ब्र० वै० प्र० ख - २५/१३-१४

प्राणियों के शरीर में शक्ति का सचार होता है। जो इन्द्रियों में प्रमुख, परमात्मा का अश, सशयात्मक, कर्मो के प्रेरक, प्राणियों के लिये दुर्निवार्य, अनिरूप्य, अदृश्य तथा बुद्धि का एक भेद है, उसे 'मन' कहा गया है। यह शरीरधारियों का अग तथा सम्पूर्ण कर्मो का प्रेरक हैं। यहीं इन्द्रियों को विषयों में लगाकार दु खी बनाने का कारण शत्रु रूप हो जाता है। और सत्कार्य में लगाकर सुखी बनाने के कारण मित्र रूप है। ऑंख, कान, नाक, त्वचा, और जिह्व आदि इन्द्रियॉं हैं। सूर्य वायु और पृथिवी एव वाणी आदि इन्द्रियों के देवता है। प्राण और देह आदि के धारण करने वाले को 'जीव' कहते है।[1] जीव भले कर्मो द्वारा अनेक भॉंति का स्वर्ग प्राप्त करता है और कुकर्मो द्वारा अनेक भॉंति के नरक।[2] नरकों के अनेक भॉंति के कुण्ड हैं, वे विस्तृत, गम्भीर (अथाह), जीवों को दु ख देने वाले, घोर, भयकर एव कुत्सित है। जो लोभवश अपने पालन के लिये किसी अन्य 'जीव' का हनन करता है, वह लाख वर्ष तक मज्जा के कुण्ड में वही खाकर पडा रहता है। अन्त में सात जन्मों तक वह शशक (खरगोश), मछली, मृग आदि योनियों में उत्पन्न होकर दु खानुभव करता है। इसके उपरान्त उसकी निश्चित शुद्धि हो जाती है।[3]

जो दॉंतों से काटकर या लोहे द्वारा जीवों को मारता है, वह दश सहस्त्र वर्ष तक दन्तु कुण्ड में रहता है, अन्त में अपने कुल में उत्पन्न होकर व्याधि-पीड़ित रहता है। इस प्रकार उसी एक जन्म में कष्टों को भोगकर पुन शुद्ध हो जाता है।[4] भारत में जो निष्करुण और अतिभीषण नरघाती मनुष्य खड्गों द्वारा जीवों को मारता है तथा धन के लोभ से मनुष्य की हत्या करता है वह चौदह इन्द्रों के समय तक असिपत्र नामक नरक में रहता है। यदि वह ब्राह्मणों की हत्या किये रहता है तो सौ मन्वन्तरों के समय तक उस नरक में निवास करता है।[5] जो विनाशशील और इसी लोक मे भस्म हो जाती है पुन भोगने के लिये पुरुषाकार यह जीव वृद्धागुष्ठ के बराबर 'सूक्ष्म देह' धारण करता

---

[1] *सूर्योवायुश्च पृथिवी वाण्याद्या देवता स्मृता।*
प्राण-देहादिभृद्यों हि सा जीव परिकीर्तित ।। ब्र० वै० प्र० ख० २५/२२

[2] नाना प्रकार स्वर्ग च याति जीव सुकर्मणा। कुकर्मणा च नरक याति नानाविध नर।। ब्र० वै० प्र० ख० २६/३

[3] ब्र० वै० प्र० ख० ३०/३१-३२

[4] वहीं - ३०/५६-५७

[5] ब्र० वै० प्र० ख ३०/१२१, १२२

है।[1] वसा (चर्बी) के रस से भरा, चार कोष का विस्तृत, अति असह्य एव चर्बी ,खाने वाले पापियों से आच्छन्न वसाकुण्ड है जहा पापी जीव दूतों द्वारा नित्य तड़ित होते हैं।[2]

जीवित और चेतन होने के कारण जीव कहलाता है। जीवों की सख्या अनन्त है। बीजजाग्रत, जाग्रत, महाजाग्रत, स्वप्न, स्वप्नजाग्रत तथा सुषुप्त कहकर जीव की सात अवस्थाए बतायी गयी है। इन्हीं अवस्थाओं के कारण जीव भी सात प्रकार के होते हैं। वे हैं- स्वप्नजागर, सकल्पजागर, केवलजागर, चिरजागर, धनजागर, जाग्रत्स्वप्न और क्षीणजागर। ससार के सब जीवों को १५ जातियों में विभक्त किया गया है। जीव अनादि और अनन्त है। जिस प्रकार हिलते हुऐ जल से लहरों की उत्पत्ति होती है उसी प्रकार सभी जीवों की उत्पत्ति ब्रह्मा से होती है।

योगवसिष्ठ के मन में ब्रह्म के साथ तादात्म्य बताया गया है। मन और ब्रह्म को दो अलग वस्तुए नहीं माना गया हैं ब्रह्म ही जब मन का आकार धारण करता है तो मन की भी अनन्त अपार शक्तियॉं हो जाती है। मन जगत् का बीजस्वरूप है और वह जगत् का निर्माण करने वाला है। अत मन ही स्वय पुरुष कहलाता है। मन स्वतन्त्र रूप से शरीर की रचना करता है। मन के शान्त होने पर ही जीव आनन्द का अनुभव करता है। शुद्ध मन मे ही आत्मा का प्रतिबिम्ब होता है। मन का अज्ञान ही जीव का संसार-रूपी अन्धकार है। चित्त की जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुर्यानामक चार आवस्थाए हैं।

आत्मा और शरीर का कोई सम्बन्ध नहीं है। वे दोंनों अन्धकार और चॉंदनी के समान दो विलक्षण पदार्थ हैं आत्मा शरीर की जनन, मरण आदि अवस्थाओं से परे है। एक शरीर को छोडकर जीव दूसरे शरीर को धारण करता है जबतक आत्मा का दर्शन नहीं होता तब तक जीव जन्म-मरण के चक्र में पडा रहता है। आत्मा के लिये जीवन और मरण नहीं है।

जीवात्मा ईश्वर तथा जड़ पदार्थो से बिल्कुल भिन्न तथा परस्पर भिन्न, अनेक अणुरूप, नित्य, कर्त्ता, भोक्ता, रूपवान्, जन्म-मरण वाला होता है। यह निरवयव तत्त्व है, शरीर के सयोग-वियोग से जन्म-मरण को प्राप्त होता है। स्वरूपतः यह पूर्णज्ञान सम्पन्न होता है, किन्तु धर्म और अधर्म के कारण प्रकट नहीं होता। ईश्वराधीन होने पर भी धर्माधर्म के सचय में स्वतन्त्र है, ऐसा मत

---

[1] ब्र० वै० प्र० ख० ३२/२६

[2] वसारसेन पूर्ण च कोशतुर्य सुदु सहम् तद्भोजिभि पातकिभिर्व्याप्त दूतैश्च ताडितै।। ब्र० वै० प्र० ख० - ३३/१७

मध्व-वेदान्त में सर्वमान्य प्रतीत नहीं होता। कुछ विद्वान कहते है कि कर्त्तृत्व, भोक्तृत्व आदि धर्म यदि जीव के है तो वह अवश्य ही अज्ञान का आश्रम होगा।

अन्य वैष्णव वेदान्त-सम्प्रदायों की भाँति मध्व-जीव को अणु-रूप, किन्तु ज्ञान गुण द्वारा विभु-रूप बताते हैं। जिस प्रकार चन्दन की सुगन्ध या दीपक का प्रकाश है, उसी प्रकार जीव का गुण है "जिस प्रकार एक देश में लगाया हुआ चन्दन अपने गन्धरूप गुण से सब जगह फैल जाता है।, वैसे ही एक देश में स्थित आत्मा विज्ञानरूप गुण द्वारा समस्त शरीर को व्याप्त करके सुख-दु खादि का ज्ञाता हो जाता है अत कोई विरोध नहीं हैं।"[1] अर्थात् जीव को अणु मान लेने पर उसको शरीर के प्रत्येक देश में होने वाली पीड़ा का ज्ञान होना, युक्ति विरूद्ध प्रतीत होता है। क्योंकि जिस प्रकार किसी एक देश में लगाया हुआ या मकान में किसी एक जगह रखा हुआ चन्दन अपने गन्ध रूप गुण से सब जगह फैल जाता है, वैसे ही शरीर के भीतर एक जगह हृदय में स्थित हुआ जीवात्मा अपने विज्ञानरूप गुण के द्वारा समस्त शरीर में फैल जाता है और सभी अंगों में होने वाले सुख-दु खों को जान सकता है।

जीव का कर्म और स्वतन्त्रता ईश्वर की इच्छा के बिना सम्भव नहीं है। ईश्वर ही पूर्णस्वतन्त्र, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् है। जीवों के अन्तर्यामी के रूप में ईश्वर ही सब कुछ कराता है। अत अविद्या आदि से मुक्ति के लिये ईश्वर की अनुकम्पा आवश्यक हैं सुख-दु.ख का अनुभव करने वाला यह जीव ईश्वर से भिन्न है, किन्तु उसका अंश है।[2] स्वरूपत. एव सहज रूप में चैतन्य गुण से युक्त है, भूतों के सम्पर्क में वह प्रकट हो जाता है अतः ज्ञान स्वरूप और ज्ञाता है। जीव आनन्द-स्वरूप भी है ये सभी स्वरूपगत गुण अविद्या के आवरण से आच्छन्न रहते हैं। जीव का ज्ञान आनन्द आदि गुण ईश्वर के समान है, तथापि दोनों बिल्कुल भिन्न तत्त्व हैं जीव अप्राकृत देह से युक्त होता है, अत. एक विशेष प्रकार का देहात्मवाद माध्व सम्प्रदाय को मान्य है।

जीव की उत्पत्ति के प्रश्न को लेकर माध्व कहते हैं कि उपाधि की उत्पत्ति और सम्पर्क के कारण जीव एक विशेष रूप में आविर्भूत होकर सूक्ष्म और स्थूल शरीर धारण करता है। जीव की ये उपाधिया १. स्वरूपोपाधि और २. ब्राह्योपाधि भेद से दो प्रकार की है। स्वरूपोपाधि तो जीव से अलग

---

[1] अविरोधश्चन्दनवत् - ब्रह्सूत्र - १/३/२३

[2] "तत्सम्बन्धित्वमेव तदशत्वमिति वक्ष्याम।" - तत्त्वप्रकाशिका, पृ० - १२१

नहीं है, किन्तु वाह्य उपाधियों-सूक्ष्म और स्थूल शरीर तथा मानस तत्त्व आदि हैं। स्वरूपोपाधि जो जीव का विशेष ही है, परमेश्वर से उसका भेद करने का कारण है। जीव ईश्वर का अश भी है जो प्रतिबिम्बवाद पर आधारित है। प्रतिबिम्ब सोपाधिक और अनुपाधिक दो प्रकार का है। जीव ब्रह्म का अनुपाधिक प्रतिबिम्ब है। जीव को अविद्या का आश्रय कहा गया है यह अविद्या ज्ञान का निषेध परन्तु भावरूप है।[1] और चार प्रकार की है। जीवाच्छादिका- जीव के चैतन्य और आनन्दस्वरूप का आवरण करती है। परमाच्छादिका- जीव को परमात्मा के स्वरूप को जानने से रोकती है। शैवला-जगत् के बधन में जीव कों बाधती है। माया-मायिक कार्यो की सृष्टि करती है।

सम्पत्ति से मतवाला, अत्यन्त मूढ तथा मदमत्त व्यक्ति चेतना से युक्त तथा बान्धवों से घिरा होने पर भी बन्धुओं से द्वेष करता है।[2] सम्पत्ति रूपी मद (नशे) से महामत्त प्राणी (सदैव) विषयों (भोगों) से अन्धा, व्याकुल, महाकामी तथा साहसिक होने से सात्त्विक मार्ग को नहीं देखता है। राजस् और तामस् भेद से विषयान्ध प्राणी दो प्रकार के होते हैं, जिनमें तामस शास्त्रज्ञान से रहित और राजस् शास्त्रज्ञ होते हैं। शास्त्र में जीवों के लिये दो प्रकार के मार्ग बताये गये हैं जिनमें पहला प्रवृत्तिमार्ग का बीज (कारण) है और दूसरा उससे परे निवृत्ति मार्ग का। जीव समूह सर्वप्रथम दुःखपूर्ण प्रवृत्ति मार्ग में, जो स्वच्छन्द, प्रसन्नतारहित और निर्बाध है, निरन्तर भ्रमण करता है। यह (प्रवृत्ति मार्ग) आपात मधुर होते हुए भी दु खमय है। जीव लोभवश उसी दुःख को सुख मान लेता है, जिसका परिणाम उत्पत्ति का कारण होता है, और इसीलिये इसे जन्म, मृत्यु एव जरा का कर्त्ता कहते हैं। अपने कर्मानुसार विविध योनियों में क्रमशः जीववृन्द घूमा करते है। इस प्रकार अनेक जन्म पर्यन्त भ्रमण करते हुए सहस्त्रों सैकडो में किसी एक मनुष्य को भगवान् श्रीकृष्ण की कृपा से सत्सग की प्राप्ति होती है, जो इस ससारसागर को पार करने का एक मात्र कारण होता है।[3] क्योकि सज्जन लोग सत्त्वरूपी दीपक से मुक्ति का मार्ग दिखा देते हैं और तभी यह जीव अपने (कर्म) बन्धन को काटने के लिये यत्न करता हैऔर अनन्तर अनेक जन्म के योगाभ्यास, तप एव अनशन करने के द्वारा वह परम सुखदायकमुक्ति-मार्ग को निर्विघ्न प्राप्त करता है।

---

[1] "न वय भावरूपाज्ञानस्य परिपन्थिन।" न्याय सुधा पृ० ६३

[2] सपन्मत्त सुमूढश्च सुरामत्त सचेतन।
बान्धवैर्वेष्टित सोऽपि बन्धुद्वेषकरो मुने।। ब्र० वै० प्र० ख ३६/५०

[3] ब्र० वै० प्र० ख -३६/५६-५७

दान, तप, व्रत और अनशन आदि कर्मो से जीवों कों स्वर्ग-भोगादि सुख प्राप्त होते है। अत सम्प्रति काम्य कर्मो के मूल कारण का नाश तुम प्रयत्नपूर्वक करो क्योकि सकल्परहित कर्म करना ही मोक्ष का कारण है। इसलिये सकल्परहित जितने सात्त्विक कर्म किये जाते हैं, उन्हें कृष्णार्पण कर देने पर व्यक्ति परब्रह्म में हीन हो जाता है। सासारी जीवों के लिये यही निर्वाण मोक्ष कहा गया है। जिसे वैष्णव लोग नहीं चाहते हैं, क्योंकि वे सेवा वियोग को ही दु:ख मानते हैं।[1] धर्म का विषर्यय होने पर (उस) प्राणी को जन्म तथा यम-यातना का भय प्राप्त होता है। जीवों के लिये जन्म दु ख तथा अतिभीषण यम-यातना कही गयी है। इस प्रकार देवता, सूकर तथा पशु आदि छोटे जीवों को गर्भ-दु ख समान ही प्राप्त होता है। गर्भ में रहकर सभी जीव अपने सैकडो जन्मों के किये गये कर्मो का स्मरण करते हैं और पुन· गर्भ से निकलकर भगवान् विष्णु की माया के कारण वे उसे भूल जाते है। देव हो या छोटा कीड़ा हो सभी अपनी देह की सप्रयत्ना करते हैं।[2]

समस्त तत्वों के वेत्ता उस जीव का छठे मास में सचार होता है जो पिजड़े में पक्षी की भाँति दु खी होकर अति संकुचित स्थान में स्थित रहता है। उस अपवित्र स्थान में स्थित रहकर वह जीव माता के भोजन अन्न-पान को खाता है और (असह्य दु:ख के कारण) 'हाय-हाय' शब्द करते हुए प्रतिक्षण उस परमेश्वर का चिन्तन करता रहता है। इसी प्रकार शेष चार मास उस परम यातना का अनुभव करके समय पर वायु द्वारा प्रेरित होकर गर्भ से बाहर निकलता हैं। दिशा, देश और काल में अविच्छिन्न उस जीव को उसी समय भगवान् विष्णु की माया से (पूर्व) ज्ञान विस्मृत हो जाता है। इस भाँति निरन्तर विष्ठा-मूत्र में लिपटे रहकर वह जीव अपनी शैशवावस्था तक निरा बच्चा रहता है।[3] पराधीन रहने के कारण वह मच्छर आदि को भगाने में असमर्थ रहता है; कीड़ों आदि के काटने पर केवल बार-बार रुदन करता है। दुग्धपान करते हुए भी वह अपनी अभिलषित की याचना करने में असमर्थ रहता है। क्योंकि पौगण्डावस्था तक उसकी वाणी अति स्फुट (साफ) नहीं निकलती है।

इस प्रकार पौगण्डावस्था तक यातनाओं का भोग करता हुआ वह युवावस्था प्राप्त करता है। जिसमें वह जीव गर्भादि के दुखों का स्मरण भी माया से परवश होने के कारण कभी नहीं कर पाता

---

[1] ब्र० वै० प्र० ख ३६/६८-७०

[2] गर्भे स्मरन्ति सर्वे ते कर्म जन्मशतोद्भवम्।
विस्मरेन्निर्गतो जीवों गर्भा द्वै विष्णु मायया स्वदेह पाति यत्नेन सुरो वा कीट एव वा।। ब्र० वै० प्र० ख - ३६/१२६

[3] ब्र० वै० प्र० ख० - ३६/१४१

है।[1] जब वह अत्यन्त वृद्ध, अति बधिर, खासी और श्वास आदि के रोगों से युक्त और अत्यन्त मूढ के समान पराधीन हो जाता है, उस बीच फिर निरन्तर (अपने किये पर) अनुताप करता रहता है, और कहता भी है कि मैने भगवान् के तीर्थो की सेवा कभी नहीं की और कभी सत्सग भी नहीं किया। इस प्रकार केवल मान में सोचविचार करते हुए उस जड़ जीव को अवसर के प्राप्त होते अतिभीषण यम-दूत पकड लेते हैं।

वह उन यम-दूतों को उस समय देखता भी है, जो हाथ में फॉस और दण्ड लिये अतिक्रोध के कारण रक्त नेत्र तथा विकृत आकार के दिखायी देते हैं। वे यमदूत उपायों द्वारा न रोकने योग्य बलवान् एव भयकर होते है। उनके दर्शन अति दु खप्रद होते हैं। वे समस्त सिद्धियों के ज्ञाता एव अदृश्य होकर (प्राणी के) सामने ही स्थित रहते हैं। उस समय जीव उन्हे देखते ही महाभयभीत होकर विष्ठा-मूत्र करने लगता है। इसके अनन्तर इस पाच भौतिक शरीर और प्राणों के त्याग करते समय यमदूत उस अँगूठे मात्र आकार वाले पुरुष को पकड़कर भोग देह (सूक्ष्मदेह) में रख देते हैं और शीघ्रता से उसे अपने स्थान ले जाते हैं। इसके अनन्तर जीव वहाँ पहुँचकर यम को देखता है, जो समस्त धर्मो का ज्ञाता, रत्नरवचितसिहासनासीन, मन्द मुस्कान करते हुए परम सुस्थिर रहते है। पुण्यात्माओं के लिये शान्तरूप, और पापियों के लिये भयकर रूप में रहते हैं। ऐसे यम को देखकर जीव उन्हें प्रमाण करता है और महाभयभीत होते हुए वहा स्थित रहता है।[2]

इसके उपरान्त चित्रगुप्त के विचार से जिस जीव का जैसा शुभ और अशुभ कर्म रहता है उसे वैसा ही उचित फल (दण्ड) सूर्य पुत्र (यम) प्रदान करते है। इस प्रकार गमनागमन बने रहने के कारण जीवों को कभी उससे निवृत्ति नही मिलती है क्योकि, निवृत्ति का एकमात्र हेतु तो भगवान् श्रीकृष्ण की चरणसेवा है।[3]

जिस सत्ता को अन्य भारतीय दर्शनों में साधारणतया आत्मा कहा गया है, उसी को जैन दर्शन में 'जीव' की सज्ञा दी गयी है। वस्तुतः जीव और आत्मा एक ही सत्ता के दो भिन्न-भिन्न नाम है। चेतन द्रव्य को जीव कहा जाता है। चैतन्य जीव का मूल लक्षण है। यह जीव में सर्वदा वर्त्तमान

---

[1] वहीं ३६/१४४

[2] ब्र० वै० प्र० ख० ३६/१६१

[3] एव तेषा गतायाते निवृत्तिर्नास्ति जीविनाम्।
निवृत्ति हेतुरूप च श्रीकृष्ण पद सेवनम्।। ब्र० वै० प्र० ख० - ३६/१६३

रहता है। चैतन्य के अभाव में जीव की कल्पना करना भी सम्भव नहीं है। इसलिये जीव की परिभाषा इन शब्दों में दी गयी है। 'चेतना-लक्षणो जीव.'। जैन का जीव सम्बन्धी यह विचार न्याय-वैशेषिक के आत्मा-विचार से भिन्न है। चैतन्य जीव में सर्वदा अनुभूति रहने के कारण जीव को प्रकाशमान माना जाता है। वह अपने आप को प्रकाशित करता है। तथा वस्तुओं को भी प्रकाशित करता है।

जीव नित्य है। जीव की यह विशेषता शरीर में नहीं पायी जाती है, क्योंकि शरीर नाशवान् है। जीव और शरीर में इस विभिन्नता के अतिरिक्त दूसरी विभिन्नता यह है कि जीव आकार विहीन है जबकि शरीर आकाशयुक्त है। जीव की अनेक विशेषताएँ हैं- जीव ज्ञाता है, वह भिन्न-भिन्न विषयों का ज्ञान प्राप्त करता है। परन्तु स्वय ज्ञान का विषय कभी नहीं होता। जीव कर्त्ता है। वह सासारिक कर्मों में भाग लेता है कर्म करने मे वह पूर्णत स्वतन्त्र है। वह शुभ और अशुभ कर्म से स्वय अपने भाग्य का निर्माण कर सकता है। जैन का जीव सम्बन्धी यह विचार साख्य के आत्मा सम्बन्धी विचार से विरोधात्मक सम्बन्ध रखता हुआ प्रतीत होता है। साख्य ने आत्मा को अकर्त्ता कहा है।

जीव भोक्ता है, जीव अपने कर्मो का फल स्वय भोगने के कारण सुख और दु ख की अनुभूतियाँ प्राप्त करता है। जैनों के अनुसार जीव स्वभावत· अनन्त है। जीव में चार प्रकार की पूर्णताएँ पायी जाती हैं; जिन्हें अनन्त चतुष्टय कहा जाता है- ये है- अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त शक्ति, अनन्त सुख। जब जीव बन्धन-ग्रस्त हो जाते हैं। तो उनके ये गुण अभिभूत हो जाते हैं जीव की इन विशेषताओं के अतिरिक्त प्रमुख विशेषता यह है कि जीव अमूर्त होने के बावजूद मूर्ति ग्रहण कर लेता है इसलिये जीव को अस्तिकाय द्रव्यों के वर्ग में रखा गया है। जीव के इस स्वरूप की तुलना प्रकाश से की गयी है। प्रकाश का कोइ आकार नहीं होता; फिर भी वह जिस कमरे को आलोकित करता है, उसके आकार के अनुसार भी प्रकाश का कुछ-न-कुछ आकार अवश्य हो जाता है।

जीव भी प्रकाश की तरह जिस शरीर में निवास करता है, उसके आकार के अनुसार आकार ग्रहण कर लेता है। शरीर के आकार में अन्तर होने के कारण आत्मा के भी भिन्न-भिन्न आकार हो जाते है। हाथी में निवास करने वाली आत्मा का रूप 'बृहत्' है। इसके विपरीत चींटी में व्याप्त आत्मा का रूप सूक्ष्म हैं। जैनों के आत्मा का यह स्वरूप देकार्त के आत्मा के स्वरूप से भिन्न है। देकार्त के

मतानुसार विचार ही आत्मा का ऐकान्तिक गुण है। उनके ऐसा मानने का कारण यह है कि उन्होंने आत्मा को चिन्तशील प्राणी कहा है।

जैनों का यह मत कि आत्मा का विस्तार सम्भव है, अन्य दार्शनिकों को भी मान्य है। इस विचार को प्लेटो और अलेक्जेण्डर ने भी अपनाया है। जीव के विस्तार और जड़-द्रव्य के विस्तार में भेद है। जीव का विस्तार शरीर को घेरता नहीं है बल्कि यह शरीर के समस्त भाग में अनुभव होता है। इसके विपरीत जड-द्रव्य स्थान को घेरता है जहा पर एक जड-द्रव्य का निवास है, वहा पर दूसरे जड-द्रव्यों का प्रवेश पाना असम्भव है परन्तु जिस स्थान में एक जीव है वहा दूसरे जीव का भी समावेश हो सकता है। जैसे "दो दीपक एक कमरे को आलोकित करते हैं, उसी प्रकार दो आत्माएँ एक ही शरीर में निवास कर सकती हैं।

चार्वाक दर्शन में आत्मा और शरीर को अभिन्न माना गया है, चार्वाक चैतन्य को मानता है, परन्तु चैतन्य को वह शरीर का गुण मानता है। जैन दर्शन आत्मा को शरीर से भिन्न मानते हैं इसलिये वह चार्वाक के आत्म-सम्बन्धी विचार का खण्डन करता है।

चार्वाक का कहना है कि शरीर से ही चैतन्य की उत्पत्ति होती है। यदि शरीर ही चैतन्य का कारण होता, तब शरीर के साथ-ही-साथ चैतन्य का भी अस्तित्व रहता। परन्तु ऐसी बात नहीं पायी जाती है। मूर्च्छा, मृत्यु, निद्रा इत्यादि के समय शरीर विद्यमान रहता है; परन्तु चैतन्य कहाँ चला जाता है? अतः शरीर को चैतन्य का कारण मानना भ्रामक है। यदि चैतन्य शरीर का गुण होता तब शारीरिक परिवर्तन के साथ-ही-साथ चैतन्य में भी परिवर्तन होता। लम्बे और मोटे शरीर में चेतना की मात्रा अधिक होती और नाटे तथा दुबले शरीर मे चेतना की मात्रा कम होती। परन्तु ऐसा नहीं होता है जिससे प्रमाणित होता है कि चेतना शरीर का गुण नहीं है।

जीव अनेक है। जीव की अनेकता में विश्वास करने के फलस्वरूप जैन दर्शन 'अनेकात्मवाद' का समर्थक है। जैनों के अतिरिक्त न्याय और साख्य दर्शनों ने भी अनेकात्मवाद को अपनाया है। जर्मन दार्शनिक लाइबनीज भी चिद्‌बिन्दु को जो आत्मा का प्रतिरूप है, अनेक माना है।

जैन दर्शन के अनुसार सर्वप्रथम जीव के दों प्रकार हैं- बद्ध और मुक्त। मुक्त जीव उन आत्माओं को कहा जाता है जिन्होंने मोक्षकों प्राप्त किया है। बद्ध जीव इसके विपरीत उन आत्माओं को कहा जाता है जो बन्धनग्रस्त हैं। बद्ध जीव इसके विपरीत उन आत्माओं को कहा जाता है जो

बन्धन ग्रस्त हैं। बद्ध जीव का विभाजन फिर दो प्रकार के जीवों में किया गया है वे है- 'स्थावर' और 'त्रस'। स्थावर जीव गतिहीन जीवों को कहा जाता है। ये जीव पृथ्वी, वायु, जल, अग्नि और वनस्पति में निवास करते हैं। इनके पास सिर्फ एक ही ज्ञानेन्द्रिय है-स्पर्श की। इसलिये इन्हे ऐकेन्द्रिय जीव भी कहा जाता है। इन्हे केवल स्पर्श का ज्ञान होता है। 'त्रस' जीव वे हैं; जो गतिशील हैं, ये निरन्तर विश्व में भटकते रहते हैं। 'त्रस' जीव विभिन्न प्रकार के होते है। कुछ त्रस जीवों को दो इन्द्रियाँ होती हैं, घोंघा, सीप इत्यादि दो इन्द्रियों वाले जीव हैं। इनकी दो इन्द्रियाँ हे- 'स्पर्श' और 'स्वाद'। इससे ऊपर चींटिया आदि आती हैं। जिनमें स्पर्श और घ्राण और स्वाद तीनों शक्ति होती है। उससे ऊपर मधुमक्खियाँ है जिसमें स्पर्श, घ्राण और स्वाद के अतिरिक्त चक्षुरिन्द्रिय भी होती है। अन्य जीवधारी प्राणियों में पाच ज्ञानेन्द्रियाँ होती है। ऐसे प्राणियों में मनुष्य और देवता गिने जाते हैं। जिनमें समस्त इन्द्रियाँ तो होती ही है एक आन्तरिक इन्द्रिय और होती है, मन, जिसके कारण वे सज्ञी प्राणी कहे जाते हैं, अन्य पशु आदि प्राणी असज्ञी कहे जाते हैं।

जीव का विभाजन करते हुए जैन चार तत्त्वों, पृथ्वी, जल, वायु, और अग्नि में भी जीव की सत्ता मानते हैं। पार्थिव पदार्थ भी जीवों के ही पिण्ड हैं। इन्हें पार्थिव जीव आदि कहा जा सकता है इन्हें हम प्राथमिक जीव भी कह सकते हैं। वे जीवन पूर्ण कर मर जाते हैं और किसी अन्य प्राथमिक शरीर में पुन जीवित हो उठते हैं। ऐसे प्राथमिक जीव स्थूल भी होते है और सुक्ष्म भी। सूक्ष्म जीव अदृश्य होते है। ऐकेन्द्रिय जीवों के अन्तिम वर्ग में पौधे आते हैं। कुछ पौधों में समस्त कलेवर एक ही जीव का बना होता है। जबकि कुछ ऐसे होते है जो शरीरधारी जीवों के शरीर से बने होते हैं। इनके विभिन्न अवयवों में जीवन के समस्त लक्षण पाये जाते है। जैसे श्वसन क्रिया, वृद्धि की क्रिया, पोषण क्रिया आदि।

एक जीव वाले पौधे स्थूल होते है। वे पृथ्वी के आवासयोग्य भाग में ही पाये जाते हैं। किन्तु उन वृक्षों में भी जो विभिन्न वृक्ष जीवों के समूह से निर्मित होते हैं, कुछ सूक्ष्म जीव हो सकते हैं और अदृश्य हो सकते हैं- ऐसे पौधे समस्त विश्व में व्याप्त हैं। समस्त ब्रह्माण्ड 'निगोड़' नामक सूक्ष्म जीवों से व्याप्त है। वे अनन्त जीवों के समूह से निर्मित होते हैं। इनमें श्वसन और पोषण क्रिया समान होती है। इन्हें भयकर पीड़ा का अनुभव होता रहता है। समस्त आकाश ऐसे अनन्त जीवों से

ठसाठस भरा हुआ है जैसे चूर्ण के डिब्बे में चूर्ण भरा रहता है। जिन जीवों को मोक्ष प्राप्त हो जाता है। उनके स्थान पर इन निगोडो से अन्य जीव आ जाते है।

अनादिकाल से लेकर आजतक जितने जीवों को निर्वाण प्राप्त हुआ है, उन सबकी जगह लेने के लिये केवल एक निगोड के अत्यन्त स्वल्प स्थान से निकले बहुत थोडे से जीव ही पर्याप्त रहे हैं। इससे स्पष्ट होता है कि ससार जीवधारी प्राणियों से कभी खाली नहीं हो सकता। निगोडो में से जिन-जिन को विकास की आकाक्षा होती है वे बाहर आकर विभिन्न प्रक्रमों से गुजरते हुए अपना विकास जीवधारी प्राणी के रूप में करते रहते है।

प्राणी जो कर्म स्वय करता है, वहीं कर्म दैव का कारण होता है और मनुष्यों का स्वभाव उसके पूर्व जन्म के कर्मानुसार ही होता है।[1] इस प्रकार सभी प्राणियों को प्रत्येक जन्म में उसके पूर्व जन्मकृत कर्मानुसार ही सुख-दु ख, भय एव शोक होता है। अपना कर्म फलभोगने के लिये जीव सदा सगुण रहता है, और आत्मा भोग करने वाला, साक्षी, निर्गुण और प्रकृति से परे हैं।[2] इसलिये वह आत्मा सभी के सेवन करने योग्य है। वहीं सबकों फल प्रदान करता है, वहीं दैव (भाग्य), स्वभाव और कर्म का सर्जन करता हे। इसलिये मनुष्यों को कर्मानुसार ही लज्जा, प्रशसा और प्रफुल्लता प्राप्त होती है।[3]

---

[1] *स्वय च कर्मजनक कर्म वै दैवकारणम्।*
स्वभावो जायते नृणा स्वात्मन पूर्वकर्मण।। ब्र० वै० प्र० ख० ६०/२८

[2] ब्र० वै० प्र० ख० ६०/३०

[3] वहीं ६०/३२

अध्याय ७
'जगत् -स्वरूप'

यह सारा ससार मिथ्या है। यह माया का रूप है। इस मिथ्या ससार का रूप भी अनिश्चित है। यह प्रपच कालापेक्षा से 'सत्' और असत् दोनों ही है। काल की दृष्टि से यह ससार असत् है क्योंकि इसका अस्तित्त्व शाश्वत नहीं है। इसका स्वरूप तब तक ही दिखायी देता है जब तक सत्य ज्ञान का उदय नहीं होता। सत्य ज्ञान के पश्चात् यह तुच्छ प्रतीत होने लगता है। फिर इसका कोई अस्तित्त्व ही नहीं रहता। यह जगत् प्रपच 'सत्' भी है। यह सत् इस अर्थ में है जब तक मिथ्याज्ञान का अस्तित्त्व है। यह ससार वास्तविक दिखायी देता है। अत अज्ञान के क्षणों तक यह यथार्थ के रूप में प्रतिभाषित होता है। क्योंकि इसकी सत्ता सभी काल में सत्य नहीं है, यह शाश्वत सत्ता नहीं है, अत. यह 'असत्' है। जब यथार्थ को इसके सत्यरूप में जान लिया जाता है तब जो असत्य है उसका स्वयमेव लोप हो जाता है। तब यह स्पष्ट हो जाता है कि यह ससार न कभी था, न है, न आगे कभी रहेगा। मिथ्या दृष्टि से जो सत् प्रतीत होता है सत्य दृष्टि से वही भ्रान्ति के रूप में दिखाई देता है। जैसे-शुक्ति में रजत् का आभास होता है तो हम रजत् की सत्ता को सत्य मानकर तदनुसार कर्म करते हैं परन्तु भ्रान्ति-निवारण के साथ ही यह समझ में आ जाता है कि रजत् खड न कभी था न है न रहेगा। ब्रह्मानुभूति के साथ ही ससार की निस्सारता का अनुभव होने लगता है।

ब्रह्म से ही यह सम्पूर्ण जगत् है। सभी प्राणी जगत् से बाहर नहीं हैं। ब्रह्म ही जगत् की रक्षा करते हैं। यह मेरा-तेरा का भाव उन्हीं की माया है। वही सबके स्वामी हैं और ऐसा होना ही अधिक सभव है क्योंकि वहीं सबके कारण है। कर्मवश गन्धर्व मेरे (मालावती) पति हुए और कर्मवश ही मै उनकी पत्नी हुई, किन्तु कर्मभोग के अन्त में वे मुझे छोड़कर कहाँ चले गये?[1] इस जगत् में जितनी स्त्री जातियाँ हैं, उनमें से किसी को भी ब्रह्मा ने ऐसा पति नहीं दिया है। समस्त जगत् के नाथ मै (मालावती) भी जगत् से बाहर नहीं हूँ अत. मेरे कान्त को शीघ्र जीवित कीजिए।[2]

---

[1] गन्यर्व कर्मणा कान्त कान्ताऽह चास्य कर्मणा।
क्व गत कर्मभोगान्ते कुत्र सस्थाप्यमा प्रियाम्।। ब्र० वै० ब्र० ख० १३/४५

[2] ब्र० वै० ब्र० ख० १३/६१

प्रकृति, ब्रह्मा, विष्णु और शिवादि देवगण, मुनिगण, मनुगण, मानवसमूह और समस्त जीवगण जिनसे उत्पन्न हुए है। जिनके चरणकमल का योगीगण सदैव ध्यान करते है और बुद्धिमान् पुरुष जिन परमात्मा के पवित्र नामों का निरन्तर जप करते हैं।[1] जिनके भय से वायु चलता है, सूर्य तपता है, और जिनकी आज्ञा से ब्रह्मा सृष्टि करते है तथा विष्णु पालन करते हैं। जिनके शासन में शकर जगत् का सहार करते हैं। जिनकी आज्ञा का पालन करने के नाते धर्म कर्मों के साक्षी कहे जाते है। शासन में राशि समूह और समस्त ग्रहगण भ्रमण करते हैं, दिशाओं के अधीश्वर दिक्पाल जिनकी आज्ञा का सतत् पालन करते हैं। जिनकी माया से सहसा माया भी मोहित हो जाती है और जिनके भय से सबकों जन्म देने वाली प्रकृति भीत होकर कार्य करती रहती है वे ही सबके अधीश्वर, काल के काल, मृत्यु के मृत्यु और श्रेष्ठ से भी श्रेष्ठ हैं। अत समस्त ससार उन्हीं कृष्ण को जपता रहता है।[२]

जगत् की रचना करने वाले विधाता, सहार करने वाले 'हर' और कर्मो के साक्षी धर्म जिनकी आज्ञा का पालन करते हैं।[3]जिनकी आज्ञा और भय से काल लोकों का सहार करता है, यम पापियों पर शासन करता है। और मृत्यु सबके समीप पहुचती है। उसी भाँति सर्वेश्वरी सर्वाद्या और सबको उत्पन्न करने वाली प्रकृति भी जिनके सामने भयभीत रहती तथा जिनकी आज्ञा का पालन करती है।(वे ही विष्णु सर्वात्मा और सम्पूर्ण जगत् के रक्षक हैं)।[४]

वह ब्रह्म ही है जिसके बिना इस जगत् के सारे प्राणी शव के समान है। स्वय जगत्सृष्टा ब्रह्मा उस ब्रह्म की सेवा में नियत रूप से लगे रहते हैं। विष्णु और समस्त जगत् के सहर्त्ता शिव भी उसकी सेवा में तत्पर रहते हैं।

यद्यपि यह सारा ससार और इस वाह्य जगत् की वस्तुएं मायामात्र है, फिर भी वस्तु विशेष के प्रकाश में आने के लिए हमारी चित्त वृत्तिया उस ओर प्रवाहित होनी चाहिए, जिसके द्वारा उस वस्तु से इन्द्रिय सम्पर्क स्थापित होता है। सरल शब्दों में हमारी इन्द्रियॉ उस वस्तु को ग्रहण करती है जिस

---

[1] ब्र० वै० ब्र० ख० १५/४४-४५

[2] सर्वेश्वर कालकालो मृत्योर्मृत्यु परात्पर।
सर्वविघ्न विनाशाय त कृष्ण परिचिन्तय।। ब्र० वै० ब्र० ख १५/५४

[3] अह स्रष्टा च जगता विधाता सहर्तो हर।
धर्मश्च कर्मणा साक्षी यस्याऽऽज्ञा परिपालक।। ब्र० वै० ब्र० ख० १७/१६

[4] ब्र० वै० ब्र० ख० १७/२१

ओर उस क्षण में हमारी वृत्ति का झुकाव होता है। यदि ऐसा ही है तो फिर शका यह उठती है कि हम इन सब वस्तुओं और इस वाह्य जगत् को वास्तविक क्यों नहीं मान लेते। जो वस्तुए हमारी इन्द्रियों के द्वारा स्थूल रूप से ग्रहण की जाती हैं, उनकी सत् स्थिति होनी ही चाहिए।

वेदान्त का कथन है कि ससार की सारी वस्तुएँ सत् का प्रतिबिम्ब मात्र हैं। सत् है परन्तु यह सारे माया जगत् के अधिष्ठान के रूप में है। इस सत् के ऊपर मायामय आभास की स्थिति है। यह आभास या माया हर समय विद्यमान है। इसके किस अग को क्षण विशेष में दिखायी देना है यह हमारे चित् (चेतना) पर निर्भर करता है।

ब्रह्म ही इस संसार में एक शाश्वत सत्य है, वही सत् है, वहीं अद्वैत रूप में स्थित है। सत्य और मिथ्या का स्वरूप समझना चाहिए मिथ्या को मिथ्या प्रमाणित करने से भी हम किसी सत्य पर नहीं पहुँच सकते। सत्य स्वय अपनी सत्ता से स्थित है, इसको किसी अन्य प्रतिरोधी सत्ता की अपेक्षा नहीं है। माया के कारण ब्रह्म की सत्ता नहीं है। माया असत्य है, माया के मिथ्यात्व से भी ब्रह्म प्रमाणित नही होता सत्यज्ञान से ससार की निस्सारता, मिथ्याज्ञान की निस्सारता और माया का असत् इन सबका स्वयमेव बोध हो जाता है।

सत्त्वगुण सम्पन्न होने के नाते विष्णु (जगत् के) रक्षक, रजोगुण सम्पन्न ब्रह्मा स्रष्टा और तमोगुण सम्पन्न होने के कारण वे रुद्र दुर्निवार और भयकर हैं।[1] इस ससार के नष्ट हो जाने पर एक वही परब्रह्म शेष रह जाता है, हम सब तथा यह चराचरमय सम्पूर्ण जगत् उसी में विलीन हो जाते है।[2]

संसार के सब पदार्थ कल्पनामय हैं। वस्तुओं में कल्पना के अतिरक्त और कोई द्रव्य नही है। भौतिक वस्तए शशश्रृग के समान असत् हैं। द्रष्टा के भीतर ही दृश्य का उदय होता है। जाग्रत अवस्था और स्वप्न अवस्था में कोई विशेष भेद नहीं है अपितु दोनों में घनिष्ठ समानता है।[3] एक में स्थिर का अनुभव होता है और दूसरे में अस्थिर का। दोनों में वाह्य वस्तु की प्रतीति आदि बातें समान रूप से अनुभव में आती हैं। जगत् का अनुभव स्वप्न के अनुभव के समान है।[4] प्रत्येक जीव

---

[1] ब्र० वै० ब्र० ख० २२/२३

[2] एकमेव पर ब्रह्म शेषेवत्स भवक्षये।
वय प्रलीनास्तत्रैव जगदतेच्चराचरम्।। - ब्र० वै० ब्र० ख २८/१७

[3] जाग्रत्स्वप्नदशाभेदो न स्थिरास्थिरते विना। सम सदैव सर्वत्र समस्तोऽनुभवोऽनयो।। यो० व० ४/१९/११

[4] ष्यत्यकृतमेवेद जगत्स्वप्न कृत तथा। यो० व० ६.२/६२/४४

का जगत् अलग-अलग है। जीव ही इस जगत् की सृष्टि करता है। सभी जीव ब्रह्मा से उत्पन्न होते है। दृश्य जगत् ससृत, महत्तमस, मोह, माया आदि अनेक नामों से कहा गया है। प्रत्येक दृश्य वस्तु स्वय द्रष्टा भी है।

प्रत्येक सृष्टि में भी अनेक प्रकार की भिन्न-भिन्न सृष्टिया है। इन सृष्टियों का सिलसिला निरन्तर चलता रहता है। प्रत्येक जीव को केवल अपनी सृष्टि का ज्ञान होता है। ब्रह्माण्ड की अनेक सृष्टियों का ज्ञान एक दूसरे को नहीं होता। जीव चाहे तो समस्त पदार्थो का अनुभव कर सकता है, क्योंकि ससार के सभी पदार्थ ब्रह्ममय है। समुद्र की लहरों के समान ब्रह्म में अनन्त जगत् उत्पन्न और लीन भी होते रहते हैं। कल्प के अन्त में दृष्टा के नष्ट हो जाने पर सारा ससार और सारे प्राणी नष्ट हो जाते है।[1] प्रलय-काल में केवल ब्रह्म ही रह जाता है। फिर ससार की सृष्टि उसी ब्रह्मा से होती है। वह ब्रह्म ही स्वय को बाह्य जगत् के रूप में परिणत कर लेता है। इसी ब्रह्म से आकाशादि भूत-प्रपच और जीव प्रपच की उत्पत्ति होती है।

योगवसिष्ठ के अनुसार जगत् मनोमय है। जगत् को द्रष्टा से भिन्न मानने पर किसी प्रकार का ज्ञान होना सम्भव नहीं है। एक दूसरे से अत्यन्त भिन्न वस्तुओं में सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता। ज्ञाता को ज्ञेय का अनुभव भी सम्बन्ध के बिना नही हो सकता। द्रष्टा और दृश्य दोनों को चैतन्य न मानने पर दार्शनिक कठिनाई उत्पन्न हो जाती है और द्रष्टा दृश्य को कभी जान नहीं सकता।

वह परमेश्वर ही ब्रह्मा की सृष्टि करते हैं और वे ब्रह्मा जगत् को उत्पन्न करने वाली उस नित्य प्रकृति की रचना करके सृष्टि करते है। परमात्मा विष्णु की शक्ति पद्मा शुद्ध सत्त्वस्वरूपा, समस्त सम्पत्ति स्वरूपा तथा सम्पत्ति की अधिष्ठात्री देवी, वह परम सुन्दरी, अनुपम संयमरूपा, भक्तों पर अनुग्रह करना तथा अपने स्वामी श्रीहरि से प्रेम करना उनका स्वभाव है। वह सबकी आदिकारण और पतिव्रता हैं।[2] वही स्वर्ग में स्वर्गलक्ष्मी, राजाओं की राजलक्ष्मी और गृहों में गृहस्थ मनुष्यों की गृहलक्ष्मी हैं। वह सभी प्राणियों और जड़ पदार्थो की शोभा, परम मनोहर, पुण्यात्माओं की प्रीति एव

---

[1] यो० व० ३/१/१०
[2] ब्र० वै० प्र० ख० १/२२

राजाओं की प्रभा हैं। वह विद्युत की चचलता है तथा भक्तों की सम्पत्ति की रक्षा करने वाली है उसके बिना समस्त जगत् जीवित रहते हुए भी मृतक के समान हैं।[1]

वे जगत् के लिये सदा पुत्र-पौत्रदात्री तथा धात्री हैं और अपने पति के समीप सुन्दरी एव रमणीक युवती के रूप में वे सदा विद्यमान रहती हैं। यह वसुन्धरा (पृथ्वी) भी प्रकृति देवी के प्रधान अश से उत्पन्न हुई हैं। सम्पूर्ण जगत् इन्हीं पर ठहरा है। ये सर्वसस्यप्रसूतिका (सकल अन्नों को उत्पन्न करने वाली) कही जाती हैं। ये रत्नों की खान, रत्नों से परिपूर्ण तथा सकल रत्नों की आधार हैं। राजा और प्रजा सभी लोग इनकी पूजा और स्तुति करते हैं। ये सम्पूर्ण सम्पत्ति का विधान करती हैं वे न रहे तो सारा चराचर जगत् कहीं भी नहीं ठहर सकता। वह सुकर्म की पत्नी कीर्ति हैं, जो धान्या, मान्या एव पूज्या हैं। उनके बिना सम्पूर्ण जगत् यशोहीन होने से मृतक की भाँति हो जाता है। क्रिया उद्योग की पत्नी है। इन आदरणीया देवी से सब लोग असहमत हैं। इनके बिना यह समस्त जगत् उच्छिन्न-सा हो जाता है। मिथ्या अधर्म की पत्नी है, धूर्त लोग इस देवी की पूजा करते है। इसके बिना विधि रचित यह सारा जगत् अस्तित्वहीन दिखायी देता है।[2] सुशील की शक्ति और लज्जा ये दो माननीया पत्नियाँ हैं इसके बिना समस्त जगत् उन्मक्त की भाँति दिखायी देता है।

जगत् के विषय में वेदस्तुति का स्पष्ट मत है कि त्रिगुणात्मक जगत् 'मन' की कल्पनामात्र है। वस्तुतः सत्य नहीं है। केवल यही नहीं प्रत्युत परमात्मा और जगत् से पृथक् प्रतीत होने वाला पुरुष भी कल्पनामात्र है। सत्य अधिष्ठान पर आश्रित रहने के कारण ही यह जगत् सत्य सा प्रतीत होता है। यह जगत् आत्मा में ही कल्पित है तथा आत्मा से ही व्याप्त है और इसलिये आत्मज्ञानी लोग इसे आत्मरूप मानते हैं। तथा उसी रूप से (सुवर्ण की तरह) इसका व्यवहार करते हैं। सुवर्ण से बने हुए गहने भी तो अन्तोगत्वा सोना ही है। अतएव इस रूप को जानने वाले पुरुष इसे छोड़ते नहीं। जगत् की भी ठीक यह दशा है।

जगत् की अवास्तविकता सिद्ध करने के लिए एक अन्य हेतु लिया गया है। यह जगत् उत्पत्ति से पहले नहीं था और प्रलय के बाद भी नहीं रहेगा। इससे यह सिद्ध होता है कि मध्य में भी यह असत् रूप ही है। जिस प्रकार मिट्टी में घड़ा, लोहे मे शस्त्र और सोने में कुण्डल आदि नाममात्र हैं,

---

[1] वही १/२६

[2] ब्र० वै० प्र० ख० १/११६

वास्तव में तो मिट्टी लोहा और सोना ही है, उसी प्रकार परमात्मा में वर्णित जगत् नाममात्र है, सर्वथा मिथ्या तथा मन की कल्पना है। मूर्ख ही इसे सत्य मानता है, ज्ञानी नहीं। अधिष्ठान की सत्यता से ही आधेय की सत्यता प्रतीत होती है।

भगवान् के ईक्षणमात्र से माया क्षुब्ध होती है और वह विचित्र कर्मों के फल देने के लिये जगत् की सृष्टि करती है। फलत सृष्टि में जो विचित्रता तथा विषयता दृष्टिगोचर होती है। वह कर्मो की विषमता के कारण ही है। जीव नाना प्रकार के कर्मों का सम्पादन करता है और उन कर्मफलों को भोगने के लिये उसे इस सृष्टि के भीतर आना पड़ता है। फलत जगत् के जीवों की वर्तमान दशा उन्हीं के पूर्व कर्मो के फल से जन्य है। सृष्टि-वैषम्य कर्म-वैषम्य जन्म है। भगवान् तो परम् कारूणिक, एक रस और समदृक् हैं। उसमें किसी प्रकार के वैषम्य की कल्पना एकदम निराधार तथा अप्रामाणिक है।

श्रुति ने जिस प्रकार ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति बतायी है उसी प्रकार निर्विकार रूप से ब्रह्म की स्थिति का भी प्रतिपादन किया है। अत श्रुति प्रमाण से यह मानना ठीक है कि ब्रह्म जगत् का कारण होता हुआ भी निर्विकार रूप से नित्य स्थित है। वह अवयवरहित और निष्क्रिय होते हुए ही जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है। उस सर्वशक्तिमान् परमेश्वर के लिये कोई बात असम्भव नहीं है। वह मन, इन्द्रिय आदि से अतीत है, इनका विषय नहीं है। उसकी सिद्धि कोरे तर्क और युक्ति से नहीं होती। उसके लिये तो वेद ही सर्वोपरि निर्भ्रान्त प्रमाण है। वेद ने उसका स्वरूप जैसा बताया है, वैसा ही मानना चाहिए। वेद उस परब्रह्म को अवयव रहित बताने के साथ ही यह भी कहता है कि 'वह सम्पूर्णरूपेण जगत् के आकार में परिणत नहीं होता' यह समस्त ब्रह्माण्ड ब्रह्म के एक पाद में स्थित हैं, शेष अमृतस्वरूप तीन पाद परमधाम में स्थित है।[1] अतः ब्रह्म को जगत् का कारण मानने में पूर्वोक्त दोष नहीं प्राप्त होते हैं।

अवयवरहित परब्रह्म से इस विचित्र जगत् का उत्पन्न होना असगत नही है,[2] क्योकि स्वप्नावस्था में इस अवयवरहित निर्विकार जीवात्मा से नाना प्रकार की विचित्र सृष्टि होती देखी जाती है; यह सबके अनुभव की बात है। योगी लोग भी स्वय अपने स्वरूप से अविकृत रहते हुए ही

---

[1] तावानस्य महिमा ततो ज्यायायाश्च पूरुष।
पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृत दिवि।। छा० उ० ३/१२/६

[2] ब्र० सू० २/१/२८

अनेक प्रकार की रचना करते हुए देखे जाते हैं जब ऋषि-मुनि आदि विशिष्ट जीव कोटि के लोग भी स्वरूप से अविकृत रहकर विचित्र सृष्टि-निर्माण में समर्थ हो सकते है तब परब्रह्म में ऐसी शक्ति का होना तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। विष्णु पुराण में- मुने! जो ब्रह्म निर्गुण, अप्रमेय, शुद्ध और निर्मलात्मा है, उसे सृष्टि आदि का कर्त्ता कैसे माना जा सकता है?[1]

इतना ही नहीं, निरवयव वस्तु से विचित्र सावयव जगत् की सृष्टि साख्यवादी स्वय भी मानते है। इनके अनुसार प्रधान को जगत् का कारण मान लिया जाय तो उसमें भी अनेक दोष आयेगें, क्योंकि वह वेद से तो प्रमाणित है ही नहीं; युक्ति से भी उस अवयव रहित जड प्रधान से इस अवयवयुक्त सजीव जगत् की उत्पत्ति मानने में विरोध आता है; क्योंकि साख्यवादी भी प्रधान को न तो सीमित मानते है, न सावयव। अत उनके मत में भी प्रधान का जगत्-रूप में परिणत होना स्वीकार करने पर सभी दोष प्राप्त होते है। अत यह ठीक है कि परब्रह्म परमेश्वर ही जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण है।

ब्रह्म का इस विचित्र जगत् की सृष्टि करने से कोई प्रयोजन नहीं है, क्योंकि वह तो पूर्णकाम है। जीवों के लिये भी जगत की रचना करना आवश्यक नही है; क्योंकि परमेश्वर की प्रवृत्ति तो सबका हित करने के लिये ही होनी चाहिए। इस दु.खमय ससार से जीवों को कोई भी सुख मिलता हो ऐसी बात नही हैं। इससे भी यही सिद्ध होता है कि परमेश्वर जगत् का कर्ता वहीं है, क्योंकि जगत् में प्रत्येक कार्यकर्ता किसी न किसी प्रयोजन से ही कार्य आरम्भ करता है। बिना किसी प्रयोजन के कोई भी कर्म में प्रवृत्त नहीं होता। अत. परब्रह्म को जगत् का कर्त्ता नही मानना चाहिए।

जैसे लोक में देखा जाता है कि जो परमात्मा को प्राप्त हो चुके हैं। जिनका जगत् से अपना कोई स्वार्थ नहीं रह गया है, कर्म करने या न करने से जिनका कोई प्रयोजन नही है, जो आप्तकाम और वीतराग है, ऐसे सिद्ध महापुरूषों द्वारा बिना किसी प्रयोजन के जगत् का हित-साधन करने वाले कर्म स्वभावत. किये जाते हैं; उनके कर्म किसी प्रकार का फल उत्पन्न करने में समर्थ न होने के कारण केवल लीलामात्र ही है। उसी प्रकार उस परब्रह्म परमात्मा का भी जगत्-रचना आदि कर्मो से अथवा मनुष्यादि-अवतार-शरीर धारण करके भाँति-भाँति के लोकपावन चरित्र करने से अपना कोई

---

[1] निर्गुणस्या प्रमेयस्य शुद्धस्याप्यमलात्मन।
कथ सर्गादिकर्तृत्व ब्रह्मणोऽभ्युपगम्यते।। वि० पु० १/३/१

प्रयोजन नहीं है तथा इन कर्मों में कर्तापन का अभिमान या असक्ति भी नहीं है; इसलिये उनके कर्म केवल लीलामात्र ही है। इसलिये शास्त्रों में परमेश्वर के कर्मों को दिव्य (अलौकिक) एव निर्मल बताया है। यद्यपि हम लोगों की दृष्टि में ससार की सृष्टिरूप कार्य महान् दुष्कर एव गुरुतर है तथापि परमेश्वर की यह लीलामात्र है; वे अनायास ही कोटि-कोटि ब्रह्माण्डों की रचना और सहार कर सकते है क्योंकि उनकी शक्ति अनन्त है, इसलिये परमेश्वर के द्वारा बिना प्रयोजन इस जगत् की रचना आदि कार्य का होना उचित ही है। इसका आशय यह है कि भगवान् केवल सकल्पमात्र से बिना किसी परिश्रम के इस विचित्र विश्व की रचना में समर्थ है। उनकी इस अद्‌भुत शक्ति को देखकर, सुनकर और समझकर भगवदीय सत्ता और उनके गुण-प्रभाव पर श्रद्धा-विश्वास करके उनकी शरण में जाने से मनुष्य अनायास ही चिरशक्ति और भगवत्प्रेम प्राप्त कर सकता है। भगवान् सबके सुहृद हैं उनकी एक-एक लीला जगत् के जीवों के उद्धार के लिये होती है। इस प्रकार उनकी दिव्य लीला का रहस्य समझ में आ जाने पर मनुष्य का जगत् में प्रतिक्षण घटित होने वाली घटनाओं के प्रति राग-द्वेष का अभाव हो जाता है। उसे किसी भी बात से हर्ष या शोक नहीं होता। अत साधक को इस पर विशेष ध्यान देकर भगवान् के भजन चिन्तन में संलग्न रहना चाहिए।

यहाँ सभी लोक कृत्रिम हैं। कुछ तो ब्रह्माण्ड के भीतर हैं और कुछ बाहर। ब्रह्माण्ड का निवास होने पर इन सबका विनाश हो जाता है। क्योंकि जल के बुलबुले के समान सारा जगत् अनित्य है। इनमें केवल गोलोक और बैकुण्ठ लोक नित्य, अविनाशी और अकृत्रिम है।[1] वह (सरस्वती) ब्रह्मस्वरूपा परमज्योति स्वरूपः सनातनी (नित्या) और समस्त विद्याओं की अधीश्वरी है। जिनके बिना सम्पूर्ण जगत् निरन्तर जीवित रहते हुए भी सदा मृतक के समान है, उन ज्ञानाधिदेवी सरस्वती को मै बार-बार नमस्कार करता हूँ। जिनके बिना समस्त जगत् सदा मूक (गूगे) उन्मत्त की भाँति रहता है। यहा से लेकर ब्रह्मलोक तक यह समस्त चराचर जगत् मुझ (श्रीकृष्ण) से ही उत्पन्न होता है और मै ही सबका अधीश्वर हूँ, ऐसा ज्ञान रखने वाले उत्तम वैष्णव हैं।[2]

प्राकृतिक लय में ब्रह्मा का भी तिरोधान हो जाता है और ईश्वर की इच्छा से उनका पुन आविर्भाव भी होता है। तप के द्वारा उन्हें ज्ञान, बुद्धि और लोक की स्मृति होती है, इसलिये स्रष्टा

---

[1] ब्र० वै० प्र० ख० ३/१५-१६

[2] आब्रह्मस्तम्बपर्यनत मत्त सर्वंचारचरम्।
सर्वेषामहमेवेश इतिज्ञा वैष्णवोत्तमा।। ब्र० वै० प्र० ख - १०/५५

(ब्रह्मा) ज्ञान से क्रमश (जगत् की) सृष्टि करते है। सत्ययुग में जो धर्म परिपूर्णतम होकर सदा सत्य के आश्रित रहता है, वह त्रेता में तीन अश से और द्वापर मे दो अश से रहता है। कलि के आरम्भ में वह एक अंश से रहता है, और क्रमश उसका ह्रास होता जाता है। इसलिये अमावस्या के दिन चन्द्रमा की कला की भॉति कलि में केवल धर्म की मात्र एक कला ही शेष रह जाती है। सूर्य का जैसा तेज ग्रीष्म ऋतु में होता है वैसा शिशिर ऋतु में नहीं रहता। दिन में भी जिस प्रकार मध्याह्न में वह रहता है, वैसा साय और प्रात काल में नहीं रहता है।[1] इस प्रकार सूर्य समयानुसार उदय होकर क्रमश· बाल एव प्रचन्ड अवस्था में आकर अन्त में पुन· अस्त हो जाते है। कालक्रम से जब दुर्दिन आता है, तब उन्हें दिन में ही छिप जाना पड़ता है। राहु से ग्रस्त होने पर सूर्य कम्पित होते हैं पुन थोड़ी देर के बाद प्रसन्नता आ जाती है।

उसी भॉति पूर्णिमा के दिन चन्द्रमा जिस भॉति परिपूर्णतम रहते हैं वैसे नित्य नहीं रहते है- दिन-दिन क्षीण होते रहते है। पुन· दिन-प्रतिदिन बढकर पुष्ट हो जाते है। इस प्रकार शुक्लपक्ष में वे शोभा-सम्पत्ति से युक्त रहते हैं और कृष्णपक्ष में यक्ष्मा रोग से मलिन हो जाते हैं फिर राहु ग्रस्त होने पर तथा बादलों द्वारा घने अन्धकर के फैल जाने पर और दुर्दिन के समय वे मलिन रहते है। और समय पाकर वही चन्द्रमा शुद्ध भी हो जाते है। पुन· कालभेद से उनकी श्री भ्रष्ट भी हो जाती है।[2]

मलयाचल में उत्पन्न, देह की शोभा को बढ़ाने वाला सुखद एवं सुगन्धियुक्त चन्दन, गन्धद्रव्यों से बना हुआ, पुण्यस्वरूप प्रीति तथा दिव्यगन्ध प्रकट करने वाला भक्तिपूर्वक अर्पित कर रहा हूँ। जगत् के लिये दर्शनीय, दृष्टि का सहायक, प्रकाश का कारण तथा अन्धकार-नाश का मूलकारण दीप में आपको अर्पित कर रहा हूँ।[3] अत्यन्त शीतल, सुगन्धित, पिपासा-नाशक और जगत् का प्राणरूप, देह की शोभा का स्वरूप, सभा में शरीर की शोभा का वर्धक, सुवर्ण आदि धातुओं का बना हुआ, शोभासम्पन्न शोभाकारक दो सुखद और पुण्यप्रद भूषण अर्पित कर रहा हूँ । इस प्रकार मूल मंत्र

---

[1] ब्र० वै० प्र० ख० १८/५०

[2] वही १८/५५

[3] जगता दर्शनीय च दर्शन दीप्तिकारणम्।
अन्धकार ध्वसबीज मया तुभ्य निवेदितम्।। ब्र० वै० प्र० ख० २३/६१

द्वारा इन वस्तुओं को अर्पित कर विद्वान् व्रती स्तोत्र का पाठ करे और प्रणाम करके ब्राह्मणों को दक्षिणा प्रदान करें।

ब्रह्म ही इस ससार में एक शाश्वत सत्य है, वही सत् है, वही अद्वैत रूप में स्थित है। सत्य और मिथ्या का स्वरूप अलग-अलग है। मिथ्या को मिथ्या प्रमाणित करने से भी किसी सत्य की प्राप्ति नहीं हो सकती। सत्य स्वय अपनी सत्ता से स्थित है इसको किसी अन्य प्रतिरोधी सत्ता की अपेक्षा नहीं है। माया के कारण ब्रह्म की सत्ता नहीं है। माया असत्य है, माया के मिथ्यात्व से भी ब्रह्म प्रमाणित नहीं होता। सत्य ज्ञान से ससार की निस्सारता, मिथ्याज्ञान की निस्सारता और माया का असत् इन सबका स्वयमेव बोध हो जाता है।

ब्रह्म की सत्ता के लिये किसी अन्य वस्तु की अपेक्षा नहीं है, ब्रह्म स्वय प्रकाशित (स्वप्रकाश) है। इसका कोई रूप नहीं है। अत यह इन्द्रियों से नहीं जाना जा सकता। हम जिन वस्तुओं को, भावनाओं आदि को अपने ज्ञान से ग्रहण करते हैं वह 'दृश्य' की सज्ञासे जाना जाता है। 'ब्रह्म' स्वय 'दृश्य' न होकर 'द्रष्टा' है। चित् वृत्ति के क्षेत्र में आकर सारी वस्तुए हमारे सज्ञान द्वारा ग्राह्य होती हैं। कोई भी पदार्थ स्वय अपने आपको प्रकाशित नहीं कर सकता। जब हम अपनी चित्तवृत्ति को वस्तु विशेष की ओर केन्द्रित करते हैं तो वह हमारे ज्ञान का विषय बन जाती है। ब्रह्म को भी जबतक हम उपनिषदों में वर्णित विषय के रूप में देखते हैं, हम इसे इसी प्रकार जानते हैं। परन्तु जब वह अपने सत्य स्वरूप में देखा जाता है तो वह साधारण वस्तुओं से पृथक् दिखाई देता है। अपने शुद्ध स्वरूप में वह निराकार, निर्गुण, स्वप्रकाशी एव द्रष्टा के रूप में स्थित है। ब्रह्म का कोई रूप नहीं है।

'दृश्यता' की कल्पना में 'जड़त्व' की भावना निहित है जिसे हम देखते हैं, उसका भौतिक आधार होना चाहिए। इस जडत्व से निश्चित है कि वह वस्तु स्वय प्रकाशित नहीं है, यह उसका अनात्मत्व है, इसमें ही उसका अज्ञानत्त्व निहित है। अर्थात् हमारे ज्ञान क्षेत्र के सारे पदार्थ जड़ एव किसी अन्य ज्ञान से प्रकाशित हैं, वे स्वय अपने आप से प्रकाशित नहीं हैं, क्योकि उनमें स्वयं में अपने आपको प्रकाशित करने की शक्ति नहीं है, हमारा ज्ञान मिथ्या है।

अत. उस ज्ञान क्षेत्र से प्रकाशित सभी वस्तुएँ मिथ्या हैं। शुक्ति में रजत् की भावना जैसे असत्य है उसी प्रकार हमारे ज्ञान का तात्कालिक रूप भी असत्य है। परन्तु यह ज्ञान जब शाश्वत

तत्त्व के रूप में स्थित होता है तब शाश्वत सत्य का दर्शन करता है। शुद्ध ज्ञान पर माया का ऐसा प्रभाव होता है कि वह सीमित क्षणिक 'परिच्छिन्न' पदार्थो को यथार्थ का रूप देकर मोहाविष्ट हो स्वय सीमित हो जाता है। परन्तु ज्ञान निस्सीम है, अनन्त है, शाश्वत है। वह वस्तुकाल की मीमाओं से बधा हुआ नहीं है। ज्ञान सर्वत्र स्थित है, सभी वस्तुओं में सभी कालों में प्रवाहित होता रहता है।

इस शुद्ध ज्ञान रूप में जड वस्तुओं का निक्षेप माया के कारण होने से मिथ्या ससार की कल्पना सत् दिखाई देने लगती है। जैसा कहा है कि '**घटादिकम् सदर्थे कल्पितम्, प्रत्येकम् तदनुविद्धत्वेव प्रतीयमानत्वात** '। अत ब्रह्म से भिन्न यह ससार मिथ्या है। ब्रह्म वह उपादान कारण है। जियमें इस सारी माया का निक्षेप है। ब्रह्म ही सत्य है, यह ससार प्रपच ब्रह्म से प्रकट, ब्रह्म में अत्यन्त भाव से स्थापित मिथ्या परिभास मात्र है। जैसा कि चितसुख ने कहा है- '**उपादान निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्व लक्षणमिथ्यात्व सिद्धिः**। एक ब्रह्म ही सत्य है जगत् मिथ्या है।

जगत् के मिथ्यात्व का सिद्धान्त अद्वैत-वेदान्त का महत्वपूर्ण अंग है, इसमें सन्देह नहीं। किन्तु शकर के ग्रन्थों में सृष्टि के सम्बन्ध में कुछ दूसरे विचार भी पाये जाते हैं। शकर जहाँ एक ओर जगत् को मिथ्या और ब्रह्म का विवर्त कार्य तथा ब्रह्म को विवर्तकारण बतलाते है, वहाँ कहीं-कहीं उपनिषदों की व्याख्या करते हुए उन्होंने इस बात पर जोर दिया है कि ब्रह्म (वस्तुतः) जगत् का कारण है। (सर्प का रज्जु विवर्त कारण है, सर्प रज्जु का विवर्त कार्य है, यहा कारणता वास्तविक नहीं है।) छान्दोग्य उपनिषद् पर भाष्य करते हुए शकर कहते है कि जहाँ यह कहा गया है कि उस सत् ने ईक्षण किया कि मैं अनेक रूप होकर उत्पन्न होऊँ, वहा वास्तव में सत् में कारणता माननी चाहिए। इसीप्रकरण में 'उस जल में ईक्षण किया' यह कथन आता है। इस पर आक्षेप दिया जाता है कि जैसे जल में ईक्षण का उपचार मात्र है, वास्तविक ईक्षण नहीं है, वैसे ही अन्यत्र भी मानना चाहिए। इसके उत्तर में शंकर कहते हैं, सारे प्रकरण को उपचरितार्थ मानना उचित नहीं है। इसलिये जगत् चैतन्या 'सत्' का कार्य है।[1]

इसी प्रकार में एक जगह पर शकर ने जगत् को सत् भी कहा है। सत् ब्रह्म ही द्वैतादि-भेद से अन्यथा गृहीत होता है इसलिये यह कहा जा सकता है कि 'कहीं कुछ भी असत् नही है।'[2]

---

[1] छान्दोग्य उ० ६/२/४

[2] सत् एव द्वैतभेदेन अन्यथा गृह्यमाणत्वात् नासत्त्व कस्यचित् क्वचिदिति ब्रूम। छा० भा० ६/२/३

वास्तविकता यह है कि शकर कहीं तो विवर्तवादी की भांति लिखते है और कहीं सत्कार्यवादी की तरह। ये दोनों सिद्धान्तत वस्तुत एक दूसरे से विशेष दूर नहीं है।[1] गीताभाष्य में कहा गया है कि- जगत् की समस्त प्रवृत्तियॉं साक्षी-चेतन के ज्ञान का विषय बनने के लिये ही हैं। मैं यह खाऊँगा, यह देखता हूँ, यह सुनता हूँ, अमुक सुख का अनुभव करता हूँ, दुख अनुभव करता हूँ, उसके लिये अमुक सुख का अनुभव करता हूँ; इसके लिये अमुक कार्य करूँगा, अमुक वस्तु को जानूँगा इत्यादि जगत् की समस्त प्रवृत्तियॉं ज्ञानाधीन और ज्ञान में ही लय हो जाने वाली हैं।

मध्व सृष्टि-श्रुति में, जो सृष्टि और प्रलय का वर्णन है वह भी वास्तविक है। ईश्वर के ईक्षण से हुई सृष्टि को काल्पनिक या मिथ्या नहीं, अपितु पारमार्थिक है। जगत् के वास्तविक अनुभवों का अपलाप नहीं किया जा सकता। ज्ञान के स्वत प्रामाण्य को मानने वाले विश्व की वास्तविक सत्ता को न माने, यह विरोधी बात है। साक्षि प्रत्यक्ष अप्रामाणिक नहीं माना जा सकता। यदि आत्मा के स्वरूप की आच्छादिका अविद्या जगत् का कारण हो तो जगत् आत्मा से भिन्न कैसे? स्वप्न और जाग्रत के अनुभवों में समानता न होने से स्वप्न का दृष्टान्त बिल्कुल गलत है। सामान्य अनुभव की वस्तु के मिथ्यात्व की सिद्धि के लिये तो युक्ति की अपेक्षा भले ही हो, किन्तु उसकी वास्तविकता के लिये नहीं हुआ करती।

जगत् का उपादान कारण प्रकृति एव पारमार्थिक तत्व है, अत उसका विकार असत् या मिथ्या कैसे हो जायेगा? ब्रह्म के ईक्षण द्वारा प्रकृति से साक्षात् या परम्परया जगत् की सृष्टि बतायी गयी है। प्रकृति, जड़, नित्य परिणामी तत्त्व है। काल, तीनों गुण, अहकार, मन, इन्द्रियॉं तन्मात्रायें महाभूत आदि उसके विकार है। महत् अहकार आदि की परम्परया और काल तीनों गुण आदि की साक्षात् उत्पत्ति होती है। प्रकृति की साम्यावस्था का नाम प्रलय है। अहकार, मन बुद्धि चित्त आदि अनित्य द्रव्य माने गये है तथा नित्य मन या इन्द्रिय ही साक्षी हैं जो जीव का सही स्वरूप है। ब्रह्म की इच्छा द्वारा प्रकृति की साम्यावस्था में विक्षोभ कैसे होता है, इस प्रश्न के उत्तर में वैष्णव प्रकृति को ब्रह्म का शरीर मान लेते हैं।

---

[1] दृशिकर्मत्वा पत्तिनिमित्ता हि जगत सर्वा प्रवृत्ति। अहमिद भोक्ष्ये, पश्यामिद, श्रृणोमीद, सुखमनुभवामि इत्यऽवगति निष्ठाऽवगत्यवसानैव। गीता भाष्य - ६/१०

ईश्वर और सृष्टि-

ईश्वर सृष्टि का कर्त्ता है। वह सृष्टि का रचयिता है और साथ ही साथ प्रेरक भी है। जीव और प्रकृति, जिनसे इस जगत् का निर्माण हुआ है, ईश्वर के अंशभूत तत्त्व हैं, इसलिये ईश्वर इस जगत् का उपादान कारण है। सृष्टि का प्रारम्भ ईश्वर के संकल्प से होता है, इसलिये वही जगत् का निमित्त या प्रेरक कारण भी है। विशिष्टाद्वैत ईश्वर को जगत् का उपादान और निमित्त दोनों कारण मानते हैं।[1] जगत् ईश्वर का कार्य है। अतः जगत् का ईश्वर से कारण-कार्य सम्बन्ध है। विशिष्टद्वैत सत्कार्यवादी दार्शनिक है। उनके अनुसार कार्य-कारण में पहले से ही विद्यमान रहता है। कारण-कार्य से एकदम पृथक् या सर्वथा व्यतिरिक्त नहीं होता। यदि कार्य कारण से एकदम भिन्न हो तो कारण ज्ञान कार्य ज्ञान नहीं उत्पन्न कर सकता फलस्वरूप उपनिषद् की यह मान्यता कि एक ब्रह्म को जान लेने से सब कुछ जान लिया जाता है, सत्य सिद्ध नहीं होता।

इसलिये विशिष्टाद्वैतवादी का विचार है कि कार्य-कारण से भिन्न होते हुए भी उससे पृथक नहीं होता; अर्थात् ब्रह्म का कार्यरूप जगत्-कारण रूप ब्रह्म से पृथक् नहीं है। लेकिन दोनों ब्रह्म और जगत् अथवा कारण और कार्य एक भी नहीं कहे जा सकते। उनमें भेद भी है। ईश्वर अनन्त है, जबकि जगत् का अन्त निश्चित है। इसलिये दोनों के बीच तादात्म्य नहीं हो सकता। ईश्वर और जगत् के बीच न तो पूर्ण अभेद है और न पूर्ण भेद ही है। ऐसे सम्बन्ध को रामानुज ने शरीर-शरीरी-सम्बन्ध अथवा देह-आत्मा-सम्बन्ध के रूप में देखा है।[2]

ईश्वर, जगत् और आत्मा-

ईश्वर जगत् की आत्मा है, जबकि जगत् उसका शरीर है। जगत् में चित् अथवा जीव एवं अचित् अथवा प्रकृति दोनों ही सम्मिलित हैं। इनमें भी आत्मा-शरीर-सम्बन्ध है। जीव प्रकृति में उसकी आत्मा बनकर रहता है और प्रकृति उसकी आत्मा बनकर रहता है। और प्रकृति उसका शरीर होती है। जब हम जगत् को ईश्वर का शरीर मानते है तो हमें यह समझना चाहिए कि जीवात्मा ईश्वर का शरीर है। ईश्वर जीवात्मा में अन्तर्यामी रूप से उसकी अन्तरात्मा बनकर स्थित

[1] निमित्तोपादानयोस्तु भेदं वदन्तो वेदवाह्य एवं स्युः। वेदार्थ संग्रह पृ २६

[2] अयमेवात्मशरीरभावः पृथक्सिद्धयनर्हाधाराधेय भावः नियन्तृनियम्यभावः शेषशेषि भाव। वेदार्थ संग्रह पृ १८

रहता है। जीवात्मा का शरीर होने के कारण प्रकृति को भी ईश्वर का शरीर कह सकते है। इस प्रकार जगत् ईश्वर का शरीर और ईश्वर जगत् की आत्मा है।

ईश्वर और जगत् के बीच जैविक सम्बन्ध साधारणत एक ही इकाई के विभिन्न अगों के बीच अन्योन्याश्रय का सम्बन्ध है। ईश्वर जीव और जगत् के बीच अन्योन्याश्रय सम्बन्ध केवल सृष्टि व्यापार के सन्दर्भ में ही सिद्ध होता है। ईश्वर सृष्टि के लिये जीव और प्रकृति पर निर्भर है, क्योंकि जीव और प्रकृति के सयोग से ही ससार का प्रारम्भ हो सकता है। ईश्वर स्वय प्रकृति से सयोग नहीं कर सकता, क्योंकि वह निर्गुण यानी प्रकृति के गुणों से रहित है। किसी काल मे रचे जाने वाले ससार का रूप उसमें उत्पन्न होने वाले जीवो के 'अदृष्ट' से निर्धारित होता है।

ईश्वर जगत् में नाना प्रकार की वस्तुओं का निर्माण एव घटनाओं का सयोजन जीवात्माओं द्वारा भोग्य कर्मफल के अनुसार ही करता है। अत. यह कहना समीचीन मालूम पड़ता है कि रामानुज ईश्वर और जगत् के बीच शरीर-शरीरी-सम्बन्ध स्वीकार कर जैविक सम्बन्ध की सम्भावना भी मानते है। परन्तु इसकी सम्भावना कार्य ब्रह्म में ही की जा सकती है, कारण ब्रह्म में नहीं। कहा भी गया है कि "ब्रह्मा" आदि से लेकर 'तृण-पर्यनत' समस्त जगत् प्राकृतिक कहा जाता है। यह बात सत्य एव दृढ़ सत्य है कि मैने (नारायण) पुरुष के बिना शक्ति को प्रकाशित किया है।[1] "सूर्य के समान प्रकाशमान शरीर वाला मै नित्य हूँ। जगत् में प्रकृति सबकी आधार स्वरूपा है और मैं सबकी आत्मा हूँ।[2]

धार्मिक अनुभूति की विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये नारायण (विष्णु) पाच रूपों में स्थित हैं। इनमें सबसे श्रेष्ठ या 'पर' रूप 'नारायण' हैं। सृष्टि के नियमन के लिए 'व्यूह' रूप में स्थित है। वासुदेव, सकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरूद्ध, ये चार 'व्यूह' हैं। भक्तगणों को पृथ्वी पर अपना साहचर्य प्रदान करने के लिए तथा दुष्ट लोगों से उनकी रक्षा करने के लिये पर-तत्त्व 'विभव' या अवतार ग्रहण करता है। अवतार अप्राकृत ब्रह्म-तत्त्व का प्राकृत रूप में प्रकट होना है। अवतार के मुख्य और गौड दो भेद हैं। जब विष्णु स्वय पृथ्वी तल पर अवतरित होते है तो उसे मुख्य अवतार कहते है। श्रेष्ठ या मुक्त जीवात्मा का किसी विशेष कार्य के लिए पृथ्वी पर आना गौड़ अवतार

---

[1] ब्र० वै० ग० ख० ७/६४-६५

[2] अह नित्य शरीरी च भानुविग्रह विग्रह।
सर्वाधारा सा प्रकृति सर्वात्माऽह जगत्सु च।। ब्र० वै० ग० ख० ७/७५

कहलाता है। मुमुक्षु लोग मुख्य अवतारों की उपासना करते है जबकि गौड अवतारों की उपासना लौकिक समृद्धि या पार्थिव फलों के लिये की जाती है। भक्तों के प्रेम के वशीभूत होकर ईश्वर स्थान-स्थान पर मूर्तियों में प्रविष्ट होकर स्थित होता है। भगवान् द्वारा अनुप्राणित इन विग्रहों को 'अर्चा' कहते हैं। 'अन्तर्यामी' ब्रह्म सभी जीवों के हृदय में निवास करता है। और इसके सुख-दु ख में द्रष्टारूप से सर्वदा विद्यमान रहता है।

ब्रह्मन् का पर-स्वरूप अचिन्त्य एव अज्ञेय है क्योंकि अप्राकृतिक है अपने पररूप में वह विष्णुलोक में निवास करता है। उसका अपना विग्रह तथा निवास-स्थान शुद्ध तत्त्व से निर्मित होता है। 'पर' रूप में नारायण नित्य एव मुक्त पुरुषों से सेवित होता है। 'श्री' या 'लक्ष्मी' विष्णु प्रिया हैं। वे करुणा एव कृपा की मूर्ति हैं। भक्त जन लक्ष्मी द्वारा ही अपने उद्धार के लिये विष्णु की कृपा प्राप्त करते हैं। लक्ष्मी को विष्णु की शक्ति कहा गया है। विष्णु की शक्ति के रूप में लक्ष्मी के क्रिया और मूर्ति दो स्वरूप है। क्रिया लक्ष्मी का नियामक और नियन्त्रक रूप है। इस शक्ति द्वारा विष्णु ससार का नियमन और नियन्त्रण करते है। मूर्ति लक्ष्मी की प्राकृत शक्ति है। इससे विष्णु ससार के लिये आवश्यक उपादान प्राप्त करते हैं।

विष्णु बोले- ब्रह्मा से लेकर कीड़े पर्यन्त सभी अपने कर्मो के फल भोगते है, और तुम तो बुद्धि स्वरूप हो। हे शिवे! क्या तुम यह नहीं जानती हो कि- जीवों को अपने कर्म के कारण ही सौ करोड़ कल्पों का भोग प्राप्त होता है और शुभाशुभ कर्म द्वारा ही उन्हें प्रत्येक योनि में नित्य आना-जाना पड़ता है।[1] इन्द्र अपने कर्मवश कीट योनि में उत्पन्न होते है और कीट भी पूर्व किये कर्मफलों द्वारा इन्द्र हो जाता है। हे दुर्गे! कुछ लोग उनकी कला के अश है, कुछ लोग कलांश के अश है। इस प्रकार चराचर समस्त जगत् और विनायक उनमें स्थित है।[२]

जगत् की सत्यता-

जगत् के उपादान और निमित्त-कारण दोनों की सत्ता नित्य एव सत्य है। ईश्वर और उसकी अशभूता प्रकृति का कार्यरूप जगत् फिर किस प्रकार असत्य हो सकता है। सत्

---

[1] ब्र० वै० ग० ख० १२/२५-२६

[2] कलाशा केऽपि तद्दुर्गे कलाशाशाश्चकेचन।
चराचर जगत्सर्वं तत्र तस्थौ विनायक.।। ब्र० वै० ग० ख० १२/३४

कारण से सत् कार्य ही उत्पन्न होता है; क्योंकि कारण और कार्य में केवल अवस्था का भेद है। कारण स्वय कार्यरूप में परिवर्तित हो जाता है। कार्य-कारण से सर्वथा भिन्न तत्त्व या पदार्थ नहीं होता। एक ही पदार्थ एक अवस्था विशेष में कारण कहलाता है और दूसरी अवस्था में कार्य।[1] इनमें से एक कारण को जान लेने से दूसरा कार्य जान लिया जाता है। कारण और कार्य की एकता अथवा कारण में कार्य की पूर्वोपस्थिति स्वीकार करने वाले सिद्धान्त को 'सत्कार्यवाद' कहते हैं। इसके अनुसार चित् और अचित् ही जगत् के रूप में प्रकट होते है। सृष्टि के पूर्व इन्हें इनकी सूक्ष्मता तथा नामरूप विहीनता के कारण असत् कहा जाता हैं। चित् और अचित् विकसित होकर नाम-रूप धारण कर जगत् की सज्ञा प्राप्त करते है।

ईश्वर इन दोनों-सूक्ष्म और स्थूल- अवस्थाओं में चित् और अचित् के साथ अपृथक्सिद्ध रूप से जुड़ा रहता है, यानी ब्रह्म भी कारण से कार्य-रूप में परिवर्तित होता है। अत जगत् ब्रह्म की ही स्थूलावस्था सिद्ध होता है। इसलिये जगत् को ब्रह्मात्मक माना जाता है। यद्यपि ब्रह्मन् का स्वरूप नित्य है और वह अपने स्वरूप से परिवर्तित नहीं होता, तथापि उसके पर्याय या अश के रूप में स्थित रहने वाले चित् एव अचित् परिवर्तित होते है। चिदचित् में उत्पन्न परिवर्तन ईश्वर का परिणाम होता है। जगत् ब्रह्म में ही स्थित है, ब्रह्म ही उसका कारण है, और वहीं उसका गन्तव्य भी है।

जगत् की नानाविध वस्तुऍं जीव के आध्यात्मिक विकास को सरल एव सफल बनाने के लिये ही उत्पन्न होती है। जीव का अन्तिम लक्ष्य ब्रह्मानुभूति है जिसे वह ब्रह्मस्वरूप को प्राप्त कर ही उपलब्ध कर सकता है। इसलिये जगत् का लक्ष्य भी ब्रह्म ही है। ऐसी स्थिति में जगत् को 'माया' 'अविद्या' या अध्यास से उत्पन्न भ्रम कहना उचित नहीं प्रतीत होता। जगत् की सत्ता पारमार्थिक ही है; क्योंकि यह सविशेष ब्रह्म की विभूति है।[2] उपर्युक्त कारणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि जगत् की सत्यता में विश्वास करना आवश्यक है।

निष्कर्ष-

समस्त जगत् जन्म, शुभाशुभ कर्म और सयोग-वियोग सभी कुछ दैव के अधीन रहता है, अत. दैवबल से बढ़कर कोई दूसरा बल नहीं है। और वह दैव भगवान् श्रीकृष्ण के अधीन है क्योंकि

---

[1] 'कारणभूत द्रव्यस्यावस्थान्तरापत्तिरेव हि कार्यता।' श्रीभाष्य - १/१/५

[2] पर ब्रह्म सविशेष तद् विभूतिभूत जगदपि पारमार्थिकमेवेति ज्ञायते। श्रीभाष्य १/१/१

वे दैव से भी परे है; इसलिये उस परमात्मा ईश्वर को सन्त लोग सदैव भजते हैं। वह लीला की भाँति दैव को बढा सकता है और नष्ट कर सकता है। उसका भक्त दैव के अधीन नहीं रहता है, अविनाशी होता है। इसलिये दु खदायी मोह का त्याग कर गोविन्द को भजो, जो सुखदायक, मोक्षप्रद, सारभूत, जन्म मृत्यु एव भय के नाशक, परमानन्द के जनक तथा मोहजाल को काटने वाले हैं और ब्रह्मा,विष्णु एव शिव आदि जिनका निरन्तर भजन करते रहते है।[१] सभी का सयोग-वियोग आदि सबकुछ ईश्वर के अधीन है, यहा तक कि समस्त ब्रह्माण्ड भी ईश्वर के अधीन है, स्वतन्त्र नहीं है ऐसा विद्वानों का मानना है। जल के बुल्ले की भाँति तीनों जगत् अनित्य (नश्वर) हैं। इस नश्वर जगत् में मायोपहित चित्त वाले ही माया का कार्य करते हैं।[२]

भगवान् श्रीकृष्ण में दन्तचित्त वाले सज्जन लोग इसमें वायु की भाँति रहकर लिप्त नहीं होते है। भक्त जन विषयों को त्यागकर भगवान् श्रीकृष्ण का भजन किया करते हैं। इनके अनुसार इस सम्पूर्ण जगत् में सब कुछ अनित्य और नश्वर है। जगत् की धात्री अति सन्तुष्ट होने पर भक्तों को बुद्धि देती है। एव वही परा माया जिस परम् भक्त को मोहित करने के लिये माया प्रदान करती है उसे विवेक कभी नहीं देती है। इस ससार में समस्त चर अचर जल के बुल्ले के समान है इसलिये इस जगत् में ब्रह्म के सिवा सभी जीव सृष्टि से उत्पन्न होकर उसी में विलीन हो जाते है।

---

[1] ब्र० वै० ग० ख० १६/६-७

[2] जलबुद्‌बुदवत्सर्वमनित्य च जगत्त्रयम्। मायामनित्ये कुर्वन्ति मायया मूढ चेतसा।। ब्र० वै० ग० ख० १६/१०

अध्याय ८
"योगदर्शन की अष्ट सिद्धियॉं"

साख्य दर्शन के समान ही योग दर्शन के तत्त्वों का प्रतिपादन भी ब्रह्मवैवर्त पुराण में हुआ है। इनमें अणिमा (सूक्षम रूप), लाघिमा (लघुहोना), प्राप्ति (किसी भी वस्तु को प्राप्त कर लेना), प्राकाम्य (इच्छा का अभिघात न होना), महिमा (महान् बन जाना), ईशित्व (अधीश्वर होना), वशित्व (वश में करना), सर्वकामावसायिता (समस्त कामनाओं का नष्ट करना), इन अष्ट सिद्धियों का तथा इनसे भिन्न-सर्वज्ञता, दूरश्रवण (अत्यन्त दूर से भी सभी बातें सुनना) परकाय प्रवेश (दूसरे के शरीर में प्रवेश करना), वाक् सिद्धि (सभी बातें सत्य होना), कल्पवृक्षत्त्व की भॉंति मन इच्छित फल प्रदान करना), सृष्टि और सहार की क्षमता, अमर होना और सबका अग्रणी या सर्वश्रेष्ठ होना- ये अठारह प्रकार की सिद्धिया है।[1]

इसी पुराण के कृष्ण-जन्म-खण्ड में उक्त अष्टादश सिद्धियों के अतिरिक्त बाईस प्रकार की सिद्धियों के मध्य मनोयायित्व बन्हिस्तम्भ, जलस्तम्भ, चिरजीवित्व, वायुस्तभ, क्षुत्पिपासा निवृत्तिस्तभ, निद्रास्तभ, कायव्यूह, मृतानयन और प्राणाकर्षणादि सिद्धियों का उल्लेख है। ये सिद्धियॉं मनः सयमजन्य हैं।[2] पातजल योग दर्शन में भी इन सिद्धियों का प्रतिपादन हुआ है। वहा भूतजय द्वारा अणिमादि सिद्धियों का प्रादुर्भाव हुआ है अर्थात् (भूतों के) स्थूल (शब्दादि) रूप, स्व (सामान्य) रूप, सूक्ष्म (तन्मात्र) रूप, अन्वय (त्रिगुण) रूप और अर्थवत्ता (भोगापवर्ग-सम्पादन-शक्ति) रूप में किये गये सयम से योगी को भूतजय (सिद्ध) होता है।[3]

तात्पर्य यह है कि इनमें पृथ्वी इत्यादि के रहने वाले आकारादि के धर्मो सहित शब्दास्पर्शादि विशेष ही 'स्थूल' शब्द द्वारा लक्षित किये गये हैं। यह भूतों का पहला रूप है। (भूतों का) दूसरा रूप उनका अपना सामान्य है जैसे- मूर्ति भूमि है, स्नेह जल है, उष्णता अग्नि है, बहने वाला वायु है, और सर्वत्र व्याप्त होने वाला आकाश है। - यह इतना स्वरूप शब्द से कहा जाता है। इस सामान्य के ही शब्द इत्यादि विशेष हैं। वैसे यह कहा भी गया है कि एक सामान्य में समन्वित होने वाले इन

---

[1] ब्र० वै० ब्र० ख० ६/१८-२०
[2] ब्र० वै० कृ० ख० ७८/३२-३६
[3] "स्थूलस्वरूप सूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसयमाद् भूतजय ।।" यो० सू० ३/४४

(पृथिवी इत्यादि का) (शब्दादि) धर्मो से अलगाव स्पष्ट होता है। इस शास्त्र में सामान्य और विशेष का समुदाय 'द्रव्य' माना गया है। समूह दो प्रकार का होता है-

(१) अप्रकटित भेदों वाले अवयवों में अनुगत होने वाला समूह, जैसे- शरीर, वृक्ष, यूथ, वन।

(२) शब्दों से ही प्रकटित भेदों वाले अवयवों में अनुगत रहने वाला समूह, (जैसे)- देवों और मनुष्यों- दोनों का समूह।

इस समूह का एक भाग देवता है और दूसरा मनुष्य- इन्ही दोनों से यह देव,-मनुष्य समूह (बना हुआ) कहा जाता है। और वह (समूह)- १. विवक्षित भेद वाला तथा २. अविवक्षित भेद वाला (होता) है। आमों का वन, ब्राह्मणें का सघ (षष्ठी के द्वारा विवक्षित भेद वाला समूह) और आम्रवन तथा ब्राह्मणसघ (कर्मधारय के द्वारा अविवक्षित भेद वाला समूह)। यह समूह पुन. दो प्रकार हो जाता है- १. युतसिद्ध (पृथक-करणीय) अवयवों वाला। २. अयुतसिद्ध (अपृथक्करणीय) अवयवों वाला। इन दोंनों में से युतसिद्धावयवों वाला समूह है- वन या सघ । अयुतसिद्ध अवयवों वाला समूह है-शरीर या वृक्ष या परमाणु।

अयुतसिद्ध अवयवभेदों में अनुगत रहने वाला समूह द्रव्य है- यह पतंजलि मानते हैं। यही भूतों का स्वरूप है। अब इनका सूक्ष्मरूप क्या है? भूतों का करणभूत तन्मात्र ही उनका सूक्ष्मरूप है। इस भूत का अवयव परमाणु है; जो स्वयं सामान्य विशेषात्मक और अयुतसिद्ध अवयव भेदों में अनुगत समूह रूप द्रव्य है। इसी प्रकार सभी तन्मात्रायें भी समुदाय रूप द्रव्य हैं। यह भूतों का तीसरा अर्थात् सूक्ष्म रूप है। अब भूतों का चौथा रूप-प्रख्या, प्रवृत्ति और स्थिति के स्वभावों वाले तथा अपने कार्यो के स्वभाव में अनुपतन करने वाले सत्त्वादि तीनो गुण ही 'अन्वय' शब्द के द्वारा कहे गये हैं। इन भूतों का पांचवां रूप 'अर्थवत्त्व', तीनों गुणों में विद्यमान 'भोगापवर्ग- प्रयोजनता' है। चूँकि ये गुण तन्मात्रों, भूतों और भौतिक पदार्थो में वर्तमान ही हैं इसलिये ये सभी पदार्थ अर्थवान् हुए। इन पाचो रूपों वाले, इस पाचो भूतों में किये गये सयम से भूतों के उन रूपों का साक्षात्कार और उन पर विजय प्राप्त होती है। इन पंचभूतजय से पाँचों भूत और उनकी प्रकृतियाँ अर्थात् तन्मात्राएँ, बछडे का अनुसरण करने वाली गायों की भाँति इस योगी की इच्छाओं की पूर्तिकारिणी होती हैं।

इनमें से कतिपय सिद्धियों का स्वरूप निर्धारण करते हुए योग-दर्शन के समन्वय के साथ प्रतिपादित किया जा रहा है।

आणिमा-

विशाल शरीर के सकल्प मात्र से तत्क्षण अगों के अपचय से मशकादि के तुल्य क्षुद्र शरीर में परिणत कर देना अणिमा सिद्धि है। इस पुराणानुसार भगवती गगा का सूक्ष्म रूप से श्रीकृष्ण के चरणों में आत्मगोपन करना[1] अर्थात् भगवान् श्रीकृष्ण ने उनके (गगा) हृदयकमल में स्थित होकर उन्हें अभयदान दिया और वे सर्वेश्वर भगवान् के वरदान से शान्तचित्त हुई। पश्चात् गगा ने ऊपर सिहासनासीन श्री राधिकाजी को देखा, जो अत्यन्त स्निग्ध, देखने में अत्यन्त सुखकर और ब्रह्मतेज से प्रदीप्त हो रही थी। असख्य ब्रह्मा की आदि जननी, आदि सृष्टि रूपा, सनातनी राधाजी की वह मूर्ति, नौयौवन-भूषित बारह वर्षो वाली कन्या के समान प्रतीत हो रही थी।

समस्त विश्व में उनके सदृश रूपवती और गुणवती कोई भी नहीं है। वे परम शान्त, कमनीय, अत्यन्त, आदि-अन्त से रहित, सती, शुभ, अत्यन्त भद्ररूप, सुन्दरी, पति-सौभाग्य से युक्त, सौन्दर्य की रानी तथा सकल सुन्दरियों में श्रेष्ठ थीं। वे भगवान श्रीकृष्ण की अर्धांगिनी, उनके समान तेज अवस्था और कान्ति से युक्त महालक्ष्मी स्वर द्वारा पूजित होने वाली महालक्ष्मी भगवान् की उस सभा को अपनी कान्ति से आच्दादित करने वाली एव अत्यन्त प्रभाव से पूर्ण थीं। सखियों का दिया हुआ दुर्लभ पान वे ग्रहण कर रही थी। वे स्वय जन्म रहित, समस्त की जननी, धन्या, मान्या, मानिनी, भगवान् श्रीकृष्ण के प्राणों की अधीश्वरी, उनके प्राणों की प्रियतमा एव रमा रूप है। रासेश्वरी राधिका जी को इस भाँति देखकर गगा को तृप्ति नहीं हो रही थी। वे अपने अनिमेष लोचनों से उनकी मधुर छवि का एक-एक दर्शनपान कर रही थीं। मुने! इसी बीच शान्त, विनीत राधिका ने मन्द-मन्द हँसती हुई मधुरवाणी में जगदीश भगवान् श्रीकृष्ण से कहा।

राधिका बोली- हे प्राणेश! यह कल्याणमूर्ति कौन है, जो तुम्हारे पार्श्व में बैठकर सस्मितभाव से तुम्हारे मुखकमल को निरन्तर देख रही है? काम उत्पन्न होने से इसके नेत्र लाल हो गये हैं। तुम्हारे रूप पर (मोहित होकर) मूर्च्छित सी हो रही है। इसके शरीर में रोमांच हो गया है और वस्त्र से अपना मुख ढककर बार-बार तुम्हें देख रही है। तुम मुझे ही देखकर सदैव सदैव सस्मित भाव से कामुक होते थे; किन्तु अब मेरे रहते हुए भी गोलोक में इस प्रकार का दुराचार हो रहा है।

---

[1] ब्र० वै० प्र० ख ११/३१-८५

तुम इस प्रकार का दुर्व्यवहार बार-बार करते आये हो, किन्तु तुम्हारे प्रेम के कारण मै क्षमा करती आयी हूँ, क्योकि स्त्री जाति कोमल स्वभाव की भोली-भाली होती है। सुरेश्वर! (यदि ऐसा ही करना है) तो इसे लेकर यहा गोलोक से चले जाओं; अन्यथा तुम्हारा कल्याण नहीं होगा। क्योंकि पहले भी एकबार मैने चन्दनवन में तुम्हें विरजा के साथ देखा था। किन्तु सखियों के कहने से मैने क्षमा कर दी थी। मेरा शब्द सुनते ही तुमने उसे पहले ही तिरोहित कर दिया था। तब, वह (विरजा) अपनी देह को त्यागकर नदीरूप में परिणत हो गयी। जो एक करोड योजन चौडी और उससे चौगुने योजन लम्बी होकर तुम्हारी सत्कीर्ति के रूप में आज भी विद्यमान है। जब मै घर चली गयी तो पुन उसके समीप जाकर- हा विरजे, हा विरजे! कहकर तुम उच्च स्वर से (गला-फाडकर) रोने लगे। उस समय सिद्ध योगिनी ने योग द्वारा जल से निकलकर अलकारों से सज-धजकर तुम्हे अपना दर्शन दिया। अनन्तर तुमने उसका गाढालिगन कर उसमें वीर्याधान किया। तब उससे सात समुद्रों की उत्पत्ति हुई है।

दूसरी बार चम्पक वन में शोभागोपी के साथ (रति करते हुए) तुम पकड़े गये थे। वहा भी मेरा शब्द सुनते ही तुमने उसे छिपा दिया अनन्तर शोभा ने देह-त्याग कर चन्द्रमण्डल में प्रवेश किया और उसका शरीर परम स्निग्ध तेज बन गया। तब तुमने हार्दिक समवेदना प्रकट करते हुए उस तेज का विभाग कर रत्न, सुवर्ण श्रेष्ठ बुद्धिवाले मनुष्य, स्त्रियों के मुखकमल, राजा, उत्तम वस्त्र, चॉदी, चन्दनपंक, जल, नूतन पल्लव, पुष्प, फल पके अन्न सुसंस्कृत राजगृह और देव-मन्दिरों में थोडा-थोड़ा करके बॉट दिया।[1] फिर तुम वृन्दावन में प्रभा गोपी के साथ समागम करते देखे गये। मेरा शब्द सुनते ही तुमने उसे अन्तर्हित कर दिया। किन्तु प्रभा अपना शरीर छोड़कर सूर्य-मण्डल में प्रविष्ट हो गयी और उसकी देह तीक्ष्ण तेज में परिणत हो गयी। रोते हुए तुमने प्रेम से उस तेज का विभाजन किया और लज्जा तथा मेरे भय के कारण, नेत्र, अग्नि, राजा, जन समुदाय, देवता, चोरगण, नागगण, ब्रह्मण, मुनि, तपस्वी, सौभाग्यवती स्त्री, और यशस्वी व्यक्तियों में बांट दिया।

इस प्रकार वह तेज सभी लोगों को देकर तुम पहले की भॉति रोने लगे। पुन. तुम रासमण्डल के अवसर पर बसन्त के समय का लेप लगाये हुए और पुष्पमाला धारण किये पुष्प की शय्या पर शान्ति गोपी के साथ (विहार करते) देखे गये थे। विभो! उस रत्न जडे हुए महल में रत्नप्रदीप्त के

---

[1] ब्र० वै० प्र० ख० ११/५३-५७

प्रकाश में तुम दोनों रत्नों के भूषणों से भूषित होकर एक दूसरे को सुवासित पान खिला रहे थें।[1] प्रभो! उस समय मेरा (राधिका) शब्द सुनते ही तुमने उसे छिपा दिया। किन्तु भयभीत होकर वह शान्ति अपनी देह त्याग कर तुममे लीन हो गयी, और उसका शरीर श्रेष्ठ गुण में परिवर्तित हो गया। अनन्तर सप्रेम रुदन करते हुए तुमने उसका विभाजन करके विश्व में विषयी, सत्त्वरूप विष्णु और शुद्ध सत्त्व स्वरूपा महालक्ष्मी, तुम्हारे मन्त्र के उपासक वैष्णवगण, तपस्वीगण, धर्म और धर्मनिष्ठ व्यक्तियो को सौंप दिया। फिर मैने क्षमा गोपी के साथ तुम्हे देखा था। तुम उस समय उत्तम वेष बनाये-पुष्पमाला पहने और सुगन्धित चन्दन से चर्चित थे। पुष्प और चन्दन से सुवासित उस शय्या पर तुम रत्नों के आभूषण से विभूषित तथा सुन्दर चन्दन से चर्चित उस रमणी के साथ सुखविहार कर रहे थे; अनन्तर नवसमागम के कारण तुम दोनों शीघ्र ही निद्रामग्न हो गये। तब मैने ही तुम दोनों को जगाया यह स्मरण करो। उस समय मैने तुम्हारा पीताम्बर, मनोहर मुरली, बनमाला, कौस्तुभमणि और अमूल्य रत्न कुण्डल ले लिये। किन्तु प्रेमवश और सखियों के कहने से मैने पुन तुम्हें उन चीजों को लौटा दिया। प्रभो! उसी लज्जा के कारण आप कृष्ण वर्ण के हो गये, जो आज भी दिखाई दे रहे हैं। और क्षमा से लज्जित होकर देह त्याग दी तथा पृथिवी में प्रवेश किया।

उसका शरीर श्रेष्ठ गुणों में परिणत हो गया। तब प्रेम का ऑसू बहाते हुए तुमने उसका विभाग कर विष्णु, वैष्णवों, धर्मनिष्ठों, धर्म-दुर्बलों, तपस्वियों, देवताओं और पण्डितों को थोडा-थोड़ा करके बॉट दिया। प्रभो! यह सब मैने तुम्हे सुना दिया अब और क्या सुनना चाहते हो? मैं तुम्हारे गुणों को बहुत विस्तार से जानती हूँ।

इतना कहकर लालकमल के समान नेत्रों वाली राधा ने गगा से कहना आरम्भ किया, जो लज्जित होने के कारण नीचे मुख किये खडी थी। उस समय सिद्धयोगिनी गंगा योग द्वारा समस्त रहस्य जानकार सभा-मध्य से तिरोहित होकर अपने जल में प्रविष्ट हो गयी। तत्पश्चात् सिद्धयोगिनी राधिका ने भी योग द्वारा गगा को सब स्थानों में जलरूप में अवस्थित देखकर अजलि से उठाकर पीना आरम्भ कर दिया।[2] इस रहस्य को सिद्धयोगिनी गगा ने योगबल से जानकर भगवान् श्रीकृष्ण के चरणकमल की शरण ली। अनन्तर राधिका ने गोलोक, वैकुण्ठ और ब्रह्मलोक आदि समस्त लोकों में

---

[1] ब्र० वै० प्र० ख० ११/६५-६६

[2] राधा योगेन विज्ञाय सर्वत्रा वस्थिता च ताम्।
पान कर्तुं समारेभे गण्डूषात्सिद्धयोगिनी।। ब्र० वै० प्र० ख० ११/८२

सभी स्थान में ढँढा किन्तु गगा कहीं भी दिखायी नहीं दी। चारों ओर जल-शून्य दिखायी देता था। गोलोक का कमल भी सूख गया था। जल-जन्तुओं के समूह अपने शरीर छोड़ चुके थे।

बाल्मीकि के अनुसार हनुमान द्वारा लका में अपने विशाल शरीर को क्षुद्र बनाकर सीता-रावण का सवाद सुनना अर्थात् यद्यपि हनुमान जी स्वय भी अत्यन्त तेजस्वी थे, तथापि रावण के तेज के सामने वे दब गये और एक वृक्ष की डाली पर, उसके सघन पत्तों में अपने को छिपा लिया।[1] इस सिद्धि के उदाहरण माने जा सकते है।

महिमा-

अतिक्षुद्र शरीर को सकल्प मात्र से अतिविशाल बना लेना महिमा सिद्धि है। यथा हनुमान ने समुद्र लघन के समय सुरसा के मुख में प्रवेश से बचने के लिये विशाल शरीर बना लिया था, सुरसा ने भी अपने शरीर को अति विशाल बनाया था। अर्थात् जब हनुमान जी ने इस प्रकार उससे (सुरसा) कहा, तब वह कामरूपिणी सुरसा हनुमान् जी को जाते देख उनसे बोली[2]- हनुमान् जी के बल की परीक्षा लेती हुई नागमाता बोली कि हे हनुमान्! मुझकों ब्रह्मा जी ने यह वर दे रखा है कि मेरे आगे से कोई जीता जागता नहीं जा सकता। हे वानरोत्तम। पहले तुम मेरे मुख में प्रवेश करो, फिर तुरन्त चले जाना। विधाता ने मुझे पूर्वकाल में यहीं वरदान दिया था। यह कहकर नागमाता सुरसा अपना बड़ा भारी मुख फैला हनुमान् जी के सामने खड़ी हो गयी। सुरसा के ऐसे वचन सुन कपिश्रेष्ठ हनुमान जी क्रुद्ध हो गये।

हनुमान् जी ने उससे कहा, तूअपना मुख इतना बडा फैला जिसमें कि मै समा सकूँ यह सुन सुरसा ने क्रुद्ध हो अपना मुख दश योजन फैलाया। तब हनुमान् जी ने अपना शरीर दक्ष योजन लम्बा कर लिया। हनुमान् जी को मेघ के समान दश योजन लम्बा देख-सुरसा ने अपना शरीर तीस योजन किया। इस प्रकार जब सुरसा ने अपना मुख सौ योजन फैलाया तब बुद्धिमान् वायुनन्दन हनुमान जी ने उसके उस सौ योजन फैले हुए बडी जिह्व से युक्त भयकर और नरक जैसे मुख को

---

[1] स तथाप्युग्रतेजा स निर्धूतस्तस्य तेजसा।
पत्रे गुह्यान्तरे सक्तो मतिमान्सवृतोऽभवत्।। वा० रा० सु० का० १८/३१

[2] एवमुक्ता हनुमता सुरसा कामरूपिणी।
अब वीन्नाति वर्तेन्मा कश्चिदेष वरोनम्।। वा० रा० सु० का० १/१४६

देख मेघ जैसे अपने विशाल शरीर को समेटा और वे तत्क्षण अँगूठे के समान छोटे शरीर वाले हो गये तदनन्तर वे महाबली उसके मुख में प्रवेश कर तुरन्त उसके बाहर निकल आये।[१]

लाघिमा-

अत्यन्त भारी शरीर को सकल्प मात्र से लघु बना लेना 'लाघिमा' सिद्धि है। यथा हनुमान् विभीषणादि ने अपने शरीर को अति लघु बनाकर आकाश मार्ग से गमन किया, अर्थात् इधर तो वानर इस प्रकार बातचीत कर रहे थे उधर विभीषण समुद्र के उत्तर तट के ऊपर पहुँच आकाश ही में रुक गये।[२] सुग्रीव तथ अन्य समस्त वानर यूथ पतियों की ओर देख बुद्धिमान् विभीषण ने बडे उच्च स्वर से कहा कि राक्षसों का राजा रावण नामक एक राक्षस है जो बडा दुराचारी है। मै उसी का छोटा भाई हूँ और मेरा नाम विभीषण है। वही (रावण) जटायु को मारकर जनस्थान से सीता को हर लाया था; वह बेचारी सीता राक्षसियों के बीच विवश और दीन हो कैद में है। मैने (विभीषण) रावण को कितनी ही युक्तियों से समझाया और कितनी ही बार कहा कि, अच्छा हो तू सीता राम को दे दे। किन्तु उसने मेरी बात न मानी क्योंकि उसके सिर पर तो काल खेल रहा है। जिस प्रकार मरणासन्न रोगी को दवा बुरी लगती है, उसी प्रकार रावण को मेरी कही हुई हितकर बातें उल्टी लगी।[३]

उसने (रावण) मुझको (विभीषण) बड़े कठोर वचन कहे और टहलुए की तरह मेरा अनादर किया। अत अब मैं पुत्र कलत्रादि सबको त्याग श्री रामचन्द्रजी की शरण में आया हूँ। सब लोकों के रक्षक महात्मा श्री रामचन्द्रजी से आप लोग शीघ्र निवेदन कर दे कि विभीषण आया है। विभीषण के ये वचन सुन, सुग्रीव शीघ्रता-पूर्वक गये और लक्ष्मण के सामने श्री रामचन्द्र जी से प्रेम में भर शीघ्रता- पूर्वक कहने लगे- रावण का छोटा भाई जिसका नाम विभीषण है, चार राक्षसों को लेकर आपकी शरण में आया है।

हे शत्रुपातन! जिस प्रकार वानरों की भलाई हो, उस प्रकार आप करने या न करने वाले कामों का विचार करें। व्यूह रचना करवावें और शत्रुसैन्य का वृत्तान्त जानने को जासूस नियत कर

---

[1] वा० रा० सु० का० १/१५३-१५५

[2] तेषा सम्भावमाणानामन्योन्य स विभीषण।
उत्तर तीरमासाद्य खस्थ एव व्यतिष्ठात।। - वार० रा० यु० का० १७/१०

सावधान हो जाँय। हे राघव! हे राक्षस! ये जब चाहे तब इच्छानुसार रूप धारण कर सकते हैं, ये अदृश्यचारी तथा बड़े वीर और बडे कपटी हैं।[1]

रघुनन्दन श्री रामचन्द्रजी ने जब विभीषण को अभयदान दिया तब महाबुद्धिमान् रावण के छोटे भाई विभीषण पृथिवी की ओर देखते हुए, आकाश में अपने भक्तिभाव रखने वाले चार मंत्रियों को लिये हुए हर्षित हो पृथिवी पर आये और धर्मात्मा विभीषण श्रीरामचन्द्रजी के चरणों में गिर पड़े।[2]

इस सिद्धि को योगसूत्र में तूल सदृश लघुशरीर कर नभोगमनादि प्रक्रिया के सभव अर्थ में प्रयुक्त बताया है अर्थात् शरीर और आकाश के सम्बन्ध में (किये गये) सयम से या हल्की रुई (इत्यादि) में (सयम के द्वारा) समापत्ति (लाभ करने) से आकाशगमन (सिद्ध) होता है।[3] इससे तात्पर्य है कि जहाँ शरीर है वहाँ आकाश भी है, शरीर की स्थिति के लिये उस आकाश के अवकाश प्रदान करने के कारण। अतएव (दोनों का) सम्बन्ध अर्थात् मिलन होता है। उस सम्बन्ध में सयम कर लेने वाला (योगी) उस सम्बन्ध को जीतकर अर्थात् साक्षात्कार करके या रुई इत्यादि परमाणु पर्यन्त सूक्ष्म पदार्थो में समापत्ति प्राप्त करके, काय और आकाश के सम्बन्ध को जीत लेने वाला अत्यन्त हल्का हो जाता है।, और हल्का होने के कारण जल में पैरों से विचरण कर सकता है, उसके पश्चात् मकड़ी के जाले के तन्तुओं में विचरण कर लेता है और ऐसा करके किरणों में विचरण करता है। तब फिर स्वेच्छा से उस योगी का आकाश में चलना सिद्ध हो जाता है।

चित्रलेखा द्वारा अनिरूद्ध का बाण नगर में लाना भी उक्त सिद्धि का उदाहरण है अर्थात् विवेच्य पुराण में कहा है कि श्रेष्ठ योगिनी चित्रलेखा लीलापूर्वक प्रमन्त अनिरुद्ध को लाने के लिये शीघ्र द्वारिकापुरी को प्रस्थान करें। यह सुनकर महादेव ने गणेश से कहा कि जिससे बाण न सुने उस प्रकार शुभ कार्य करो। चित्रलेखा शीघ्रता से द्वारिका में हरि के भवन में पहुँच गई। सबके लिये दुर्लध्य भवन में प्रविष्ट होकर उसने सोये हुए अनिरुद्ध को योग से अपहृत करके निद्रित बालक को हर्ष से रथ पर चढ़ा लिया। मुने! कल्याणी चित्रलेखा मन के समान वेगशालिनी थी। वह शंख ध्वनि करके क्षणभर में शोषितपुर पहुँच गयी।

---

[1] अन्तर्धानगता होते राक्षसा कामरूपिण।
शूराश्च विकृतिज्ञाश्च तेषु जातु न विश्वसेत्।। वा० रा० यु० का० १७/२१

[2] वा० रा० यु० का १६/१-२

[3] काया काशयो सम्बन्ध सयमात्लघुतूलसमापत्तेश्चाकाशगमनम्।- यो० सू० ३/४२

इधर (कृष्ण के) आश्रम के भीतर अनिरुद्ध को न देखकर सभी स्त्रियाँ यह कहकर रोने लगी कि हाय 'बाण' का हरण करने वाला प्राणों का प्यारा बालक कहाँ चला गया। सर्वज्ञ एव सकल तत्त्वों के ज्ञाता श्रीकृष्ण उन्हें आश्वासन देकर शीघ्र ही साम्ब, कामदेव, सेना तथा सात्यकि के साथ वीर गरुड को लेकर रथ पर चढकर सुदर्शन चक्र, पाचजन्य शख पद्मा और कौमोद की गदा से युक्त होकर शोणितपुर के लिये प्रस्थित हो गये, जो (नगर) गणों के साथ शकर तथा पार्वती मे सुरक्षित था।

प्राप्ति-

भूमिस्थ पुरूष का बहुत दूर विद्यमान वस्तु का हस्तादि से स्पर्श 'प्राप्ति' है। जैसे भगवान कृष्ण ने जयद्रथ वध के समय युद्धस्थल में भूमि पर स्थित रहते हुए, अनेक कोटि योजनस्थ सूर्य को सुदर्शन चक्र से आच्छादित कर दिया।

प्राकाम्य-

पृथिव्यादि के धर्मो के अभिधान का अभाव 'प्राकाम्य' सिद्धि है। जल में निमज्जन की भाँति, भूमि में निमग्न होना, शिलादि में प्रवेश, जल से विलन न होना, अग्नि से न जलना, अनावरण आकाश से भी प्रच्छन्न न होना आदि। जैसे-द्वारिका के समीप रैवतक पर्वत पर जरासन्ध के सैनिकों द्वारा चतुर्दिक से अवरुद्ध होने पर कृष्ण का द्वारिका में प्रवेश।

ईशित्व-

अलौकिक कर्म करने की सामर्थ्य ईशित्व है। आणिमादि सिद्धियों का अपनी तरह दूसरे में भी सम्पादन करना ईशित्व सिद्धि है। जैसे- हनुमान् द्रोणाचल में लघिमा सिद्धि का सम्पादन कर उसे अति लघु बनाकर हिमालय से लका ले आये, इसी प्रकार जैसे श्रीकृष्ण ने गोवर्धन में इस सिद्धि का सम्पादन कर उसे अत्यन्त हल्का बनाकर अंगुलि पर उठा लिया।[1] ब्राह्मणों के शरीरों में सभी देवता रहते हैं। उनके चरणों में समस्त तीर्थ और चरण की धूलियों में समस्त पुण्य रहते हैं। विप्र के चरणोदक में तीर्थों के जल रहते हैं। उसके स्पर्श से सभी तीर्थो में स्नान करने का फल प्राप्त होता है। हे बल्लभ! भक्तिभाव से विप्रोदक का पान करने पर रोग नष्ट होते हैं और सात जन्मों के पापों से वे मुक्त हो जाते हैं, इसमें सशय नहीं। पाच प्रकार के पापों को करके जो विद्वान् ब्राह्मण को

---

[1] ब्र० वै० कृ० ख० २१/६६

प्रणाम करता है, मानों वह समस्त तीर्थों में स्नान करके समस्त पातकों से मुक्त हो जाता है। ब्राह्मण के स्पर्श करने मात्र से पातकी मुक्त हो जाता है और दर्शन करने से पाप से मुक्त होता है, ऐसा वेदों में कहा गया है। मूर्ख और विद्वान् सभी भाँति के ब्राह्मण विष्णु के शरीर हैं। जो ब्राह्मण भगवान् की सेवा करते हैं वे विष्णु को प्राणों से भी अधिक प्रिय होते हैं।

भगवद्भक्त ब्राह्मणों का प्रभाव वेद में दुर्लभ बताया गया है। जिनके चरण-कमल की धूलि से यह पृथिवी तुरन्त पवित्र हो जाती है। उनके चरण-चिन्ह को तीर्थ कहा गया है। उनके स्पर्श-मात्र से तीर्थो का किया हुआ पाप नष्ट होता है। उनके आलिगन सत् वार्तालाप, उच्छिष्ट भोजन, दर्शन एव स्पर्श करने से प्राणी समस्त पापों से मुक्त हो जाता है। समस्त तीर्थो के भ्रमण करते हुए उसमें स्नान करते हुए जिस पुण्य की प्राप्ति होती है, वह हरिभक्त ब्राह्मण के दर्शन मात्र से हो जाती है। जो ब्राह्मण भगवान् को नित्य-प्रति समर्पित करके भोजन करते हैं, उनके उच्छिष्ट भोजन करने से मनुष्य को भगवान् का दास्यभाव प्राप्त होता है।[1]

यदि भ्रमवश शक्तिपूर्वक भगवान् को समर्पित न करके भोजन कर लेते है तो वह वस्तु विष्ठा के समान और जल-मूत्र के समान हो जाता है। यदि शूद्र हरिभक्त है और भगवान् का नैवेद्य भोजन करने के लिये उत्सुक रहता है तो वह कच्चा अन्न भगवान् को अर्पित करके पकाकर खाता है। शालग्राम भगवान् की पूजा करने में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य को अधिकार है न कि शूद्रों को। उसी प्रकार हरिपूजन में भी शूद्रों का अधिकार नहीं है। इसलिये मनुष्यो को अन्न प्रदान करने से आठ गुने फल की प्राप्ति होती है। विशिष्ट शूद्रो को समर्पित करने से उससे दूना फल मिलता है।

यदि यह समस्त भक्ष्य भोज्य पदार्थ किसी एक ही देव को अर्पित किया जाये, तो अन्य सभी देवता रुष्ट हो जायेंगे, और देवों का अकेला कोई (देवता) क्या करेगा? अथवा प्रस्तुत वस्तुओं का आधा भाग गोवर्धन को दे दीजिए। गौओं की नित्य अभिवृद्धि करने के कारण इन्हें गोवर्धन कहा जाता है।

---

[1] "ये विप्रा हरये दत्त्वा नित्यमन्न च भुजते।
उच्छिष्ट भोजनात्तेषा हरेर्दास्य लभेन्नर।।" ब्र० वै० कृ० ख० २१/७४

वशित्व-

अतिप्रबल को भी वश में कर लेना 'वशित्व' सिद्धि है। यथा श्रीकृष्ण ने प्रबल कालिय नाग को स्वल्प समय में ही वश्य बना लिया। मनुष्य रूप देखकर कालिय नाग अत्यन्त क्रुद्ध हुआ और अतिसतप्त लोहे को निगलने वाले मनुष्य की भाँति श्रीकृष्ण को बडी शीघ्रता से उसने निगल लिया।[1] किन्तु भगवान के ब्रह्मतेज से उस नाग का कण्ठ और उदर जलने लगा, उसने खिन्न मन से कहा, अब मेरे प्राण निकल रहे है। यह कहकर उसने पुन. उन्हे उगल दिया श्रीकृष्ण के बज्राग देह को चबाने से उसके दात टूट गये और मुह लहूलुहान हो गया। भगवान् उस रक्त मुँह वाले नाग के मस्तक पर खडे हो गये।

मुने! विश्वम्भर भगवान् के भार से दबकर वह नाग प्राण-त्याग करने लगा- रक्त का वमन करते हुए- मूर्च्छित होकर गिर पडा। उसे मूर्च्छित देखकर अन्य नाग प्रेमाकुल होकर रोदन करने लगे। कुछ भयभीत होकर पलायन कर गये, कुछ बिल में घुस गये। सती सुरसा अपने कान्त को मरणोन्मुख देखकर भगवान् के सामने नागिनियों के साथ रोदन करने लगी। उसने दोनों हाथ जोडकर भगवान् को प्रणाम किया और उनके दोनों चरण-कमल पकड़ उसने कहा।[2]

हे जगत्कान्त! आप मानप्रद हैं, अत. मुझे मान दें और मेरे पति को मुझे लौटा दे, स्त्रियों को पति प्राणों से भी अधिक प्रिय होता है, अत उनके लिय पति से बढ़कर कोई अन्य बन्धु नहीं है। अनन्त! प्रेमसिन्धों सम्बन्धों! आप सम्पूर्ण भुवन के स्वामी है, अत. मेरे प्राणनाथ का वध न करें। हे समस्त भुवन के बन्धु! आप राधिकाजी के लिये प्रेम के सागर हैं और ब्रह्मा के भी बह्मा हैं अत. मुझे पति दान करें।

कामावसयिता-

सत्य सकल्पता कामावसयिता है अर्थात् भगवान् के सकल्पानुसार भूत प्रकृतियों की स्थिति हो जाती है। कोई भी भूत उसके सकल्प के विरूद्ध व्यवहार नहीं कर सकता। इन सिद्धियों

---

[1] सर्पो नराकृति दृष्ट्वा कालीय क्रोधविह्वल।
जग्राह श्रीहरिं तूर्णं तप्तलोह यथा नर।। ब्र० वै० कृ० ख० १६/१०

[2] वहीं - १६/१४-१६

की प्रप्ति भूतजय द्वारा योगदर्शन में बतलायी है।[1] अर्थात् इससे अणिमादि (सिद्धियों) का आविर्भाव, शरीर सम्पत्ति और उन (भूतों) के धर्मो से अबाधितत्व (सिद्ध) होता है।

इससे यह स्पष्ट होता है कि उनमें से अणिमा (वह) है, जिससे वह योगी अणुरूप हो जाता है। लघिमा वह है जिससे अत्यन्त हल्का हो जाता है। महिमा वह है जिससे महान् हो जाता है। प्राप्ति वह है जिससे ऑगुली के अग्रभाग से ही चन्द्रमा को छू लेता है। प्राकाम्य है इच्छा का निर्बाध पूरा होना जिससे वह योगी भूमि के अन्दर उसी तरह तैरता और डूबता है, जैसे साधारण व्यक्ति जल में। वशित्व वह है, जिससे योगी भूतों और भैतिक पदार्थो में स्वतत्र हो जाता है, (स्वय किसी) अन्य के अधीन नहीं रह जाता। ईशित्त्व वह है जिससे उन भूत तथा भौतिक पदार्थो के उत्पादन, विनाश एव स्थापना के विषय में समर्थ होता है।

यत्र कामावसायित्व अर्थात् सत्यसकाल्पता (वह) है, जिससे कि जैसा सकल्प होता है, वैसी ही भूतों की प्रकृतियों अर्थात् तन्मात्राओं की व्यवस्था होती है। (किन्तु) समर्थ होने पर भी (वह योगी) पदार्थो को उल्टा नहीं करता। क्यों? दूसरे सत्यसकल्प पूर्वसिद्ध (ईश्वर) का (पदार्थो के) उस प्रकार के होने में सकल्प होने के कारण। वे आठ ऐश्वर्य होते हैं।

परकाय प्रवेश-

किसी शरीर में प्रवेश करना परकाय प्रवेश है। विवेच्य पुराण के अनुसार उपबर्हण गन्धर्व के मृत शरीर में प्रवेश कर उसे जीवित करना परकाय प्रवेश का उदाहरण है।[2] तात्पर्य यह है कि भयभीत होकर उपबर्हण की पत्नी मालावती ने कृपानिधान भगवान् को बार-बार प्रणाम किया। तब निराकार परमात्मा भगवान् श्रीकृष्ण ने उसके पति के भीतर (हृदयकमल में) शक्ति समेत अधिष्ठान किया। अनन्तर उस (शव) गन्धर्व ने उठकर शीघ्र वीणा सम्भाला और स्नान करके युगल वस्त्र धारण किया।

इसी प्रकार श्री शकराचार्य द्वारा कामशास्त्र ज्ञान हेतु मृत अमरुक राजा के शरीर में प्रवेश किया था। योग दर्शन में भी इस सिद्धि का स्वरूप निरूपित किया गया है। अर्थात् वे (प्रतिभादि विभूतिया) समाधि में अन्तरायरूप और व्युत्थान में (ही) सिद्धि-रूप है। वे (अर्थात्) प्रातिभादि

---

[1] 'ततोऽणिमादि प्रादुर्भाव कायसम्पत्तद्धर्मानभिघातश्च।' यो० द० ३/४५

[2] ब्र० वै० ब्र० ख० १८/३६-३७

(विभूतियॉ) समाहित चित्त योगी के लिये (तो) उत्पन्न होने वाले विघ्न है, उस (पुरूष) के साक्षात्कार के विरोधी होने के कारण व्युत्थितचित्त के लिये ये (अवश्य ही) उत्पन्न होती हुई सिद्धिया हैं। इसका आशय यह है कि 'प्रातिभ' इत्यादि विभूतियॉ पुरुष तत्त्व के साक्षात्कार में विषयान्तर उपस्थित करने के कारण विघ्नरूप होती हैं, इसलिये इन्हे उपसर्ग कहा गया है। प्रश्न यह है कि जब ये विघ्न-रूप हैं तो फिर इन्हें 'सिद्धि' क्यों कहा जाता है? इसके उत्तर में कहा गया है कि वे प्रातिभ इत्यादि विभूतिया समाधि में अर्थात् समाधि की निष्पत्ति में विघ्न हैं। व्युत्थान की स्थिति में ये विभूतिया सिद्धि कही जाती है। समाधि की दृष्टि से तो ये सिद्धि न होकर विघ्नरूप ही है।

अर्थात्- वे प्रातिभ, श्रावण, वेदन, आदर्श, आस्वाद और वार्ता नाम की विभूतिया उत्पन्न होती हुई। स्वार्थसयम में लगे हुए समाधिरत योगी को पुरुषतत्त्व के साक्षात्कार के पहले ही आनुषगिक रूप से उत्पन्न होने वाली ये विभूतिया समाधिनिष्ठ योगी के लिए उपसर्ग या निघ्नरूप है, उत्पात-स्वरूप है।[1] इसका कारण यह है कि पुरुष साक्षात्कार की विरोधिनी होने के कारण, पुरुष साक्षात्कार के मार्ग में बाधक ही होती है। समाधिलभ्य आत्मसाक्षात्कार के मार्ग मे बाधक ही होती है। समाधिलभ्य आत्मसाधात्कार रूपी लक्ष्य से हीन लौकिक बुद्धि वाले जीव के लिए अवश्य ही ये सिद्धिया कमाल कही जा सकती है। सयमजन्य अन्य सिद्धिया भी यदि पुरुषसाक्षात्कार के मार्ग में बाधा डालती है तो वे भी विघ्नरूप ही समझी जानी चाहिए। फिर यह कथन केवल प्रातिभदि विभूतिया के लिये ही क्यों किया गया है? इसका प्रधान कारण यहीं है कि अन्य सिद्धिया पुरूषसाक्षात्कार की योग्यता के बहुत पहले की है। उस समय तक पुरुषसाक्षात्कार का कोई निश्चय तो रहता नहीं। और ये सिद्धिया ठीक पुरुषसाक्षात्कार के पूर्वकाल में और उसी सयम से प्राप्त होने वाली है, इसलिये शीघ्र प्राप्य पुरुष दर्शन रूप फल में इन्हीं के द्वारा विलम्ब और विघ्न पडता है। अत इन्ही के सन्दर्भ में यह कथन सर्वथा सुसगत एव आवश्यक है।

दूरश्रवण-

अपने से दूरस्थ शब्द का श्रोत द्वारा श्रवण 'दूरश्रवण' है। यथा सजय ने व्यास के प्रभाव से अतिदूर कुरुक्षेत्र के कृष्णअर्जुन सवाद को सुना था। इस सिद्धि का प्रतिपादनयोगदर्शन[2] में हुआ है-

---

[1] 'अजन्य क्लीब उत्पात उपसर्ग सम त्रयम्।- अमरकोश २/८/१४

[2] श्रोत्राकाशयो सम्बन्धसयमाद् दिव्य श्रोत्रम्। यो० द० ३/४१

अर्थात्- "कर्णेन्द्रियों और आकाश के सम्बन्ध पर सयम करने से दिव्य कर्णेन्द्रिय प्राप्त होती है।" इससे आशय यह है कि समस्त श्रोतेन्द्रिय का आधार आकाश है और सभी शब्दों का भी। जैसा कि (पचशिखाचार्य के द्वारा) यह कहा गया है कि- समान स्थान में स्थित सभी लोगों को एकदेश वाले एक ही प्रकार के शब्द सुनायी पडते हैं। और वह यह (श्रोत्रेन्द्रिय) आकाश का अनुमापक (सत्ता का साधक) होता है। यह आकाश अनावरण भी कहा गया है। उसी प्रकार अमूर्त (आकाश) के अनावरण दिखायी पडने से आकाश का व्यापकत्व भी प्रसिद्ध है। शब्द-ग्रहण से श्रोत्रेन्द्रिय की अनुमिति होती है, (क्योकि) बहरे और न बहरे लोगों में से एक तो शब्द को सुनता और दूसरा नहीं सुनता। इसलिये श्रोत्रेन्द्रिय ही शब्द को विषय बनाने वाली होती है। (इन) शब्द और आकाश के (आधाराधेय रूप) सम्बन्ध में सयम करने वाले योगी को दिव्य श्रोत्रेन्द्रिय का लाभ होता है।

मनोयायित्व-

दूसरे के मन की बात को समझ लेना 'मनोयायित्व' है। इसे मनोविज्ञान का परिचित ज्ञान भी कहा जाता है। मन. सकल्प के समय शरीर और प्राणवायु क्षुभित होकर विकार को प्राप्त होता है। विकृत प्राणवायु जब रोमकूपों से बाहर आता है। तब क्षुभित शरीर के चतुर्दिक् वर्तमान वाह्य-वायु पुरुष मन का ज्ञान करा देता है। उस (इन्द्रियजय) से मनोजवित्व (मनोवेगयुक्त तत्त्व), विकरणभाव (शरीर निरपेक्ष इन्द्रिय की पहुँच), और प्रधानजय (प्रकृतिजय) भी सिद्ध होते है।[1] अर्थात्-शरीर की सर्वश्रेष्ठ गति को प्राप्त करना 'मनोजवित्व' है। देह से बाहर स्थित इन्द्रियों को अभीष्ट (दूर) देश, काल तथा (ग्राह्य) विषयों की अपेक्षा से (तत्तद् देश, काल और विषयों में) व्यापृत हो पाना 'विकरणभाव' है। प्रकृति के सभी विकारों का स्वामित्व 'प्रधानजय' है। ये तीन सिद्धिया 'मधु प्रतीका' कही जाती है, और ये सिद्धिया पाचों इन्द्रियों के पाचों स्वरूपों को जीतने से प्राप्त होती है।

मनोयायित्व का अर्थ मनोजयित्व करने पर मन के समान स्थूल शरीर का गतिशील हो जाना मनोजयित्व कहलायेगा। इस सिद्धि की प्राप्ति इन्द्रिय-जय के द्वारा योग दर्शन में कही है। अर्थात् भूतों के ग्रहण, स्वरूप, अस्मिता (अहकार), अन्वय (प्रकाश क्रिया स्थिति शीलगुण और उनमें अनुगत पुरुषार्थत्व रूप इन्द्रियों में) सयम करने से इन्द्रियजय की प्राप्ति होती है। इन्द्रियजय से शरीर में

---

[1] "ततो मनोजवित्व विकरणभाव प्रधानजयश्च।" यो० सू० ३/४८

मनोजयित्व की प्राप्ति होती है।[1] तात्पर्य यह है कि सामान्य और विशेषों वाले शब्दादिक (विषय) 'ग्राह्य' पदार्थ हैं। उनमें इन्द्रियों की (आलोचन रूप) वृत्ति 'ग्रहण' है और यह (आलोचन) सामान्यमात्र के ग्रहण रूप का नहीं होता। क्योंकि इन्द्रिय के द्वारा अगृहीत वह ग्राह्य-विषय का विशेष मन के द्वारा कैसे जाना जा सकता है? और फिर इन्द्रियों का स्वरूप प्रकाशशील बुद्धिसत्व के सामान्य-विषयों के अपृथक्सिद्ध अवयवों में अनुगत रहने वाला समूह 'इन्द्रिय' नामक द्रव्य है।

उन इन्द्रियों का तीसरा रूप 'अस्मिता' अहकार है। उस (अस्मितारूप) सामान्य की इन्द्रियाँ (ही) विशेष हैं। इन्द्रियों का चौथा रूप है- प्रख्याप्रवृत्तिस्थितिशील तथा ज्ञानात्मक (तीनों) 'गुण' जिनका परिणाम अहकार सहित इन्द्रिया है। पाँचवा रूप वह हे जो तीनों गुणों में विद्यमान भोगापवर्ग रूप पुरुषार्थसाधकत्व है। इन्द्रियों को इन पांचों रूपों में क्रमानुसार सयम (करना चाहिए) और उनमें क्रमश जय प्राप्त करके पाँचों रूपों में जय हो जाने से योगी की 'इन्द्रियजय' नाम की सिद्धि अविर्भूत होती है।

कायव्यूह-

एक समय में अनेक शरीर धारण करना तथा भिन्न-भिन्न शरीरों में स्थित रहना ही काय व्यूह है। जैसे श्री कृष्ण ने रास-लीला के समय अनेक शरीर धारण कर प्रत्येक गोपी के साथ रास किया। इसीप्रकार प्रत्येक रमणीय गृह में अनेक शरीर बनाकर 'हरि' ने अत्यन्त रमणीय- प्रत्येक रासमण्डल में गोपियों के साथ रमण किया।[2] भीतर (गृह में) रति करके हरि ने बाहर क्रीडा की। वे रासमण्डल में सर्वत्र गापियों से आलिगनबद्ध रहे।

इस सिद्धि से अग्निशीतल बन जाती है। जिससे अग्नि में प्रविष्ट पुरुष भी जलता नहीं। यह सिद्धि मन्त्र, जल, सत्य चन्द्रकान्तमणि तथा योगादि से प्राप्त होती है। योग द्वारा प्राप्त इस सिद्धि का प्रतिपादन भूतजय के द्वारा बतलाया गया है। भूतजय से जैसे अणिमादि सिद्धिया प्रादुर्भूत होती है वैसे ही भूतों के धर्मो का प्रभाव न होना भी प्राप्त होता है। जिससे अग्नि जलाने में, जल गलाने में, वायु सुखाने में या उडाने में असमर्थ हो जाता है।

[1] *"ग्रहण स्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्वसयमादिन्द्रियजय।"* यो० सू० ३/४७

[2] एव गृहे गृहे रम्ये नानामूर्तिं विधाय च।
रेमे गोपागनाभिश्च सुरम्ये रासमण्डले।। - ब्र० वै० कृ० ख० २८/७६

योगसूत्र में अणिमादि (सिद्धियों) का आविर्भाव शरीर सम्पत्ति और उन (भूतो) के धर्मो से अबाधित्व (सिद्ध) होता है।[1] इसमें तद्धर्मानभिघातश्च के द्वारा दावाग्नि स्तम्भ, जलस्तम्भ एव वायुस्तम्भ, आदि का ही प्रतिपादन किया गया है। ब्रह्मवैवर्त पुराण श्रीकृष्ण द्वारा दावाग्नि का शमन आदि। अर्थात् यह कहकर सबलोग भगवान् के चरण-कमल का ध्यान करने लगे। श्रीकृष्ण की अमृतमयी दृष्टि पडते ही दावाग्नि दूर हो गया।[2] दावानल के दूर हो जाने पर वे हर्षित होकर नाचने लगे। भगवान् के स्मरण-मात्र से सभी आपत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं। जो प्रात काल उठकर इस परमपुण्यमय स्त्रोत का पाठ करता है, उसे जन्म-जमान्तर में कभी भी अग्नि का भय नहीं होता है। शत्रुओं के घिर जाने पर दावाग्नि में आ जाने पर और विपत्ति या प्राण-सकट उपस्थित होने पर इस स्त्रोत का पाठ करके वह नि सन्देह मुक्त हो जाता है। (इसके पाठ से) शत्रु सेना नष्ट हो जाती है और वह सर्वत्र विजयी होता है। इस लोक में श्रीकृष्ण की भक्ति और अन्त में दास्यपद को अवश्य पा जाता है।

क्षुत्पिपासा स्तम्भ-

योगी की भूख प्यास की निवृत्ति हो जाना ही क्षुत्पिपासा स्तम्भ है। योग दर्शन में 'कण्ठ कूप में किये गये सयम से भूख और प्यास मिट जाती है।[3] अर्थात् जिह्वा के नीचे तन्तु होता है। उसके नीचे कण्ठ है, उसके नीचे कूप होता है उसमें किये गये सयम से भूख और प्यास योगी को बाधित नही करती, तात्पर्य यह है कि जिस जिह्वा के नीचे कण्ठकूप में मन सयम से भूख प्यास की निवृत्ति हो जाती है। या फिर प्रातिभज्ञान से सब कुछ जान लिया जाता है।[4] अर्थात् प्रातिभज्ञान तारकज्ञान कहा जाता है। यह विवेकज-ज्ञान का प्रारम्भिक रूप है । जैसे-सूर्य के उदय के पहले उसकी प्रभा होती है। योगी प्रामिभज्ञान की उत्पत्ति हो जाने पर उसके द्वारा भी सबकुछ जान लेता है। इससे यह आशय है कि 'विवेकजज्ञान' जब किसी भी सयम से उत्पन्न होता है, उस सयम के अतिरक्त किसी सयम को करने की आवश्यकता प्रातिभज्ञान के उदय के लिये आवश्यक नहीं है। जैसे-सूर्योदय की सूचना उषा से होती है। और जिस प्रकार सूर्य के समान प्रकाश तो उषा में होता नहीं, फिर भी रात्रि के अन्धकार में डूबे हुए समस्त पदार्थो की पर्याप्त जानकारी के उषा के प्रकाश

---

[1] "ततोऽणिमादि प्रादुर्भाव कायसम्पत्तद्धर्मानभिघातश्च।" यो० सू० ३/४५

[2] ब्र० वै० कृ० ख० १६/१७१

[3] योग सूत्र - ३/३०

[4] 'प्रातिभद्वासर्वम्' - ३/३३ योगसूत्र

से भी हो जाती है। ठीक उसी प्रकार 'विवेकज्ञान' जैसा परमप्रकाश तो 'प्रातिभज्ञान' में नहीं होता, किन्तु फिर भी उस प्रातिभज्ञान से ही सब कुछ चीजें ज्ञात हो जाती है।

बुद्धि और पुरुष के अन्यत्व की ख्याति में ही प्रतिष्ठित (चित्त वाले योगी) को सभी पदार्थो का स्वामित्व तथा सर्वज्ञत्व सिद्ध होता है।[1] अर्थात् राजस् एव तामस् मलों से शून्य सत्त्वमयी बुद्धि के अत्यन्त निर्मल हो जाने पर, उत्कृष्ट वशीकार सज्ञा (वैराग्य) में स्थित तथा बुद्धि और पुरुष के अन्यत्व की ख्यातिमात्र के रूप में प्रतिष्ठित चित्त वाले योगी को सभी वस्तुओं का स्वामित्व प्राप्त होता है, अर्थात् ज्ञानात्मक और ज्ञेयात्मक सभी रूपों वाले गुण इस अधिकारी जीव (अर्थात् योगी) के प्रति समस्त भोग्य पदार्थो के रूप में उपस्थित होते हैं। (और) सर्वज्ञता प्राप्त होती है, अर्थात् भूत, भाविष्यद् तथा वर्तमान धर्मो के रूप में स्थित सभी रूपों वाले गुणों का एक साथ विवेकजन्य ज्ञान होता है। यह 'विशोका' नाम की सिद्धि है, जिसको प्राप्त करके योगी सर्वज्ञ, दग्धक्लेशबन्धन और स्वामी होकर विचरण करता है।

सृष्टि-

ब्राह्मी सृष्टि के समान योग बल से नवीन सृष्टि कर देना 'सृष्टि' सिद्धि है। उस समय जगत् के विधाता ब्रह्मा ने भगवान् का प्रभाव जानने की इच्छा से गौओं, बछड़ो और उन्हें चराने वाले बालकों को छिपा दिया। उनका अभिप्राय जानकर सर्वज्ञाता एव सर्वस्रष्टा योगीन्द्र हरि ने योगमाया द्वारा उन सब की पुनः सृष्टि की।[2] क्रीडा कौतुक में मन लगाने वाले श्रीकृष्ण गौओं को चराकर बलभद्र और बालकों समेत घर गये।

स्वेच्छामय प्रभु को गोलोक भयकर लग रहा था और विश्व शून्यमय, भयकर, जीव जन्तुओं से रहित, जल-विहीन, दारुण, वायुशून्य अन्धकार से आवृत्त, वृक्ष पर्वत एव समुद्र आदि से विहीन, विकृताकार, मुत्तिका धातु सस्य और तृण से रहित हो गया है। मन ही मन सब बातों की आलोचना करके सहायक रहित, एकमात्र प्रभु ने स्वेच्छा से सृष्टि-रचना आरम्भ की।

---

[1] सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्व सर्वज्ञातृत्वश्च। योग सूत्र ३/४६

[2] विज्ञाय तद्‌भिप्राय सर्वज्ञ सर्वकारक।
पुनश्चकार तत्सर्वं योगीन्द्रो योगमायया।। ब्र० वै० कृ० ख० २०/४

सृष्टि शब्द का सामान्य अर्थ प्रजोत्पत्ति है। किन्तु भागवत में सृष्टि शब्द से चराचर भूत, शब्दादि तन्मात्रा तथा इन्द्रिय अहकार एव महतत्त्व की उत्पत्ति को परिगृहीत किया है।[1] ब्रह्मवैवर्त में सृष्टि का मूलाधार श्रीकृष्ण को माना गया है। उन्हीं से जन्तुविहीन, शून्य, वृक्ष, शैल समुद्रादि से रहित जगत् में समस्त तत्त्वों के मूलकारण स्वरूप सत् रज् तथा तम् त्रिगुण एव अहकार और रूप, रस गन्ध शब्द स्पर्शादि पचतन्मात्राओं की उत्पत्ति होती है। अर्थात विश्व शून्यमय भयकर, जीवजन्तुओं से रहित, जल-विहीन, दारुण, वायुशून्य, अन्धकार से आवृत्त, वृक्ष, पर्वत एव समुद्र आदि से विहीन विकृताकार, मृत्तिका, धातु सस्य और तृण से रहित हो गया है। मन ही मन सब बातों की आलोचना करके सहायक रहित, एकमात्र प्रभु ने स्वेच्छा से सृष्टि-रचना आरम्भ की। सृष्टि के आदि में (उस परम) पुरुष के दक्षिण पार्श्व से ससार के कारणरूप तीन मूर्तिमान गुण प्रकट हुए। उन (गुणों) से महत्तत्व, अहकार, पचतन्मात्राएँ और रूप रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द (क्रमश) उत्पन्न हुए।[2]

मृतानयन-

मृत पुरुष को ले आना अर्थात् जीवित कर देना ही मृतानयन है। इसे मृत सजीवनी भी कहा जाता है। यथा गुरु सन्दीपनि के द्वारा गुरुदक्षिणा के अवसर पर अपने मृत पुत्रों की याचना करने पर श्रीकृष्ण द्वारा उनके मृत पुत्रों को जीवित समर्पित किया जाता है, अर्थात् श्रीकृष्ण ने एक ही मास में परम् भक्ति के साथ मुनिवर सन्दीपनि से चारों वेदों का अध्ययन करके पूर्णकाल में मरे हुए पुत्र को वापस लाकर उन्हें समर्पित किया। तत्पश्चात् अमूल्य रत्नों के बने स्त्रियों के सर्वांग भूषण और अग्नि विशुद्ध वस्त्र गुरु पत्नी को दिये। इसके अनन्तर मुनि सन्दीपनि ने वह सब वस्ताभूषण पुत्र को सौप कर स्वय पत्नी समेत उत्तम रत्नों के रथ पर बैठकर उत्तम गोलोक को चले गये।[3]

---

[1] भा० पु० २/१०/३
[2] ब्र० वै० ब्र० ख० ३/१-५
[3] ब्र० वै० कृ० ख० १०२/२५-३०

अध्याय ६

मुक्ति के उपाय और मुक्ति का स्वरूपः -

मुक्ति के उपाय -

इस पुराण में मुक्ति के उपाय के सम्बन्ध में विद्वान् यह मानते हैं कि जो आस्तिक व्यक्ति वरदान की इच्छा से भक्ति समेत परम् आस्था से इस स्तोत्र को पढता है उसे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का फल निश्चित रूप से प्राप्त होगा, उसी प्रकार राज्यच्युत राजा को राज्य एव प्रजाहीन को प्रजा प्राप्त होगी, रोगी को रोग से और बन्धन में बधे हुए को बन्धन से मुक्ति मिलेगी भयभीत प्राणी भय से मुक्त होगा आदि। भारत वर्ष में जो मनुष्य पूर्णिमा की रात्रि में भगवान् श्रीकृष्ण के निमित्त झूला (हिडोला) अर्पित करता है वह जीवन्मुक्त होता है। जो नारायण क्षेत्र मे भगवान् के नामों का करोड बार जप करता है, वह समस्त पापों से मुक्त होकर जीवन्मुक्त हो जाता है, यह ध्रुव है। उसका पुनर्जन्म नहीं होता वह बैकुण्ठ में पूजित होता है। उसके उपरान्त विष्णु का सारूप्य मोक्ष प्राप्त करने से उसका कभी वहा से पतन नही होता। उसे सुसम्पन्न करने से मनुष्य बहुत कल्पों का जीवन तथा निश्चित जीवन्मुक्ति प्राप्त करता है और यहा ज्ञान एव तेज में भगवान् विष्णु के समान होता है। श्रद्धा और भक्ति ये वैराग्य की दो आदरणीय स्त्रियॉं हैं, जिनके द्वारा यह समस्त ससार जीवन्मुक्त हो सकता है।[1]

योगवसिष्ठ में ज्ञान को मोक्ष-प्राप्ति का मुख्य उपाय बताया गया है।[2] ज्ञान ही मुख्य अनुष्ठान है, जिसके द्वारा परमसिद्धि प्राप्त होती हैं। ज्ञानी ही परमानन्द को प्राप्त करता है। आत्मा को ही मोक्ष प्राप्ति का साधन माना गया है। आत्मदेव की पूजा की विधि और अन्य देवताओं की पूजा का भी वर्णन है, परन्तु वह गौण है। ज्ञान प्राप्ति का साधन, योग निष्ठा, योगाभ्यास, प्राणायाम आदि अनेक साधनों का भी विवेचन है।

मण्डन मिश्र ने भाव-स्वरूप मुक्ति की प्राप्ति का साधन ज्ञान को ही माना है; क्योकि ज्ञान ही अज्ञान को नष्ट करता है। यद्यपि नित्य एव काम्य कर्मो का फल मोक्ष-प्राप्ति नहीं है, तथापि मुक्ति की प्राप्ति में उनका प्रयोजन है। निष्काम कर्म बडे शुद्धिकारक होते हैं, उनसे चित्त एकाग्र होता

---

[1] ब्र० वै० प्र० ख० १/१२६

[2] यो० व० ५/६७/२

है, चित्त का एकाग्र होना अनिवार्य है क्योकि चित्त से ही औपनिषदिक सत्य का चिन्तन करना पडता है। चित्त के इसी सतत् प्रसख्यान के द्वारा ब्रह्मानुभव की प्राप्ति होती है। मण्डन मिश्र के अनुसार जीवन्मुक्त केवल साधक होते है सिद्ध नहीं।[1] ये मुक्त इसलिये माने जाते है कि मुक्ति इन्हें अपने अन्दर प्राप्त होती है। इस प्रकार श्री मिश्र प्रसख्यानवादी थे, तथापि ज्ञान तथा कर्म के समुच्चय के पक्षपाती थे।

मोक्ष प्राप्ति के लिये सर्वोच्च साधन ईश्वर स्वय है। इस सम्पूर्ण ससार में रोग की दवा ईश्वर की कृपा ही है। कर्म, ज्ञान, भक्ति इत्यादि सब साधन ईश्वर की कृपा प्राप्ति के लिये किये जाते है। ईश्वर की कृपा प्राप्त करने के लिये ईश्वर की भक्ति अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है और यही अन्यतम साधन है। कर्म और ज्ञान भक्ति के सहकारी हैं। कर्म से तात्पर्य सर्वदा वर्णाश्रम कर्मो से होना, माना जाता है। वर्णाश्रम कर्मो का आचरण मृत्यु पर्यन्त बिना किसी फल की कामना के कारण ही निष्काम कर्म है। निष्काम कर्म नैतिक दृष्टि से करना कर्मयोगी का धर्म है। कर्म योगी के ज्ञान में जिस किसी प्रकार की बाधा आती है वह उसे नष्ट कर देता हे। इस प्रकार उसका चित्त निर्मल हो जाता है। निर्मल चित्त में तत्त्वज्ञान का उदय होता है; तत्त्वज्ञान द्वारा जीवात्मा को अपने शुद्ध स्वरूप का बोध होने लगता है। वह अपने को ईश्वर की प्रार्थना के रूप में प्रतिपादित करता है। यही सत्य ज्ञान है।

उपनिषद्-वाक्य का अर्थ-ज्ञान मोक्ष का कारण नहीं बन सकता। ज्ञान और कर्म एक दूसरे के पूरक हैं। इनके द्वारा मनुष्य कर्म गलों को नष्टकर सकते हैं। परन्तु प्रारब्ध कर्म नष्ट करने में ज्ञान असमर्थ है। इसलिये मोक्ष के निमित्त वर्त्तमान शरीर का अन्त आवश्यक है। भारत में जितने असख्य तीर्थ है, वे सभी भगवत् भक्तों के दर्शन-स्पर्शन से पवित्र हो जाते हैं। भगवान् के मन्त्रों के उपासक गण भारत देश और पृथ्वी को पवित्र करने के लिये भ्रमण करते रहते हैं। इनके भक्त लोग जहाँ ठहरते है और जहा चरण प्रक्षालन करते हैं वह स्थान निश्चित रूप से महातीर्थ होकर पवित्र हो जाता है। स्त्री हत्या, गोहत्या और ब्रह्म हत्या करने वाला कृतध्न एव गुरुपत्नी गामी भी भगवान् के भक्तों के दर्शन-स्पर्शन करने से पवित्र होकर जीवन्मुक्तता प्राप्त करता है।

ब्रह्मसूत्र में यद्यपि सभी ब्रह्मविद्या समानभाव से मोक्ष में हेतु है, फिर भी बीच में होने वाले फलभेद का निषेध नहीं है। क्योंकि परब्रह्म परमेश्वर का साक्षात्कार हो जाने पर, जिस प्रकार मृत्यु

---

[1] स्थित प्रज्ञस्तावन्न विगलितनिखिला विद्य सिद्ध किन्तु साधक एवावस्था विशेष प्राप्त स्यात्। - ब्रह्मसिद्धि पृ० १३०

होने पर जीवात्मा का स्थूल शरीर से सम्बन्ध नहीं रहता, उसीप्रकार उसका सूक्ष्म या कारण किसी भी शरीर से सम्बन्ध नही रखता, इसलिये किसी भी लोक की प्राप्ति नही हो सकती।[1] अर्थात्-सभी ब्रह्मविद्या अन्त में मुक्ति देने वाली है, इस विषय में सबकी समानता है तो भी किसी का ब्रह्मलोक मे जाना और किसी का ब्रह्मलोक में न जाकर यहीं ब्रह्म को प्राप्त हो जाना तथा वहाँ जाकर भी किसी का प्रलयकाल तक भोगों के उपभोग का सुख अनुभव करना और किसी का तत्काल ब्रह्म में लीन हो जाना-इत्यादि रूप से जो फल भेद है, वे उन साधकों के भाव से सम्बन्धित रहते है इसलिये इस भेद का निषेध नही हो सकता।

अतएव जिस साधक को मृत्यु के पहले कभी भी परमात्मा का साक्षात्कार हो जाता है, जो उस परमेश्वर के तत्त्व को भलीभाँति जान लेता है, जिसकी ब्रह्मलोक पर्यन्त किसी भी लोक के सुख-भोग में किंचिन्मात्र भी वासना नहीं रहती वह किसी भी लोक विशेष में नहीं जाता है। वह तो तत्काल ही उस परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त हो जाता है। श्रुति में भी कहा गया है कि जो कामनारहित, निष्काम, पूर्णकाम तथा केवल परमात्मा चाहने वाला है, उसके प्राण लोक में नहीं जाते। वह ब्रह्म होकर ही (यहीं) ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है।[2] प्रारब्ध भोग अन्त में उसके स्थूल सूक्ष्म और कारण शरीरों के तत्त्व उसी प्रकार अपने-अपने कारण तत्त्वों में विलीन हो जाते है। जिस प्रकार मृत्यु के बाद प्रत्येक मनुष्य के स्थूल शरीर के तत्त्व पाचों भूतों में विलीन हो जाते हैं। एक अन्य श्रुति में बताया गया है कि-उनकी पन्द्रह कलाएँ अर्थात् प्राणों के सहित सब इन्द्रियाँ अपने-अपने देवताओं में विलीन हो जाती हैं, जीवात्मा और उसके समस्त कर्म सस्कार-ये सबके-सबके परम अविनाशी परमात्मा में एक हो जाते हैं।[3]

ऐतरेय उपनिषद् में बताया गया है कि गर्भ में स्थित वामदेव ऋषि को ब्रह्मभाव की प्राप्ति हो गयी थी। भगवद्गीता में भी कहा है कि "कल्याणमय कर्म अर्थात् परमात्मा की प्राप्ति के लिये साधन करने वाले की कभी दुर्गति नही होती।" किन्तु वह दूसरे जन्म में पूर्वजन्म-सम्बन्धी शरीर द्वारा प्राप्त की हुई बुद्धि से युक्त हो जाता है और पुन परमात्मा की प्राप्ति के साधन में लग जाता है। इस प्रकार श्रुतियों और स्मृतियों के प्रमाणों को देखने से यही सिद्ध होता है कि यदि किसी प्रकार का

---

[1] न सामान्यादप्युपलब्धे मृत्युवन्न हि लोकापत्ति। - ब्रह्मसूत्र ३/३/५१

[2] बृह० उ० ४/४/६

[3] मु० उ० ३/२/७

कोई प्रतिबन्ध उपस्थित नहीं होता, तब तो इसी जन्म में उसको मुक्ति रूपी फल की प्राप्ति हो जाती है और यदि उसमें कोई विघ्न पड जाता है तो जन्मान्तर में वह विफल हो जाता है।

ब्रह्मविद्या का मुक्ति रूपी फल किसी प्रकार का प्रतिबन्ध न रहने के कारण जिस साधक को इसी जन्म में मिलता है, उसे यहाँ मृत्युलोक में मिल जाता है। इसीप्रकार किसी एक लोक में ही मुक्ति रूप फल प्राप्तम होने का नियम नही है क्योकि उसकी अवस्था निश्चित की गयी है। अर्थात् ब्रह्मविद्या से मिलने वाले मुक्ति रूप फल के विषय में जिस प्रकार यह नियम नही है कि 'वह इसी जन्म में मिलता है या जन्मान्तर में।' उसी प्रकार उसके विषय में यह भी नियम नही है कि वह इस लोक में मिलता है या ब्रह्मलोक में? क्योकि जब उसके हृदय में स्थित समस्त कामनाओं का सर्वथा अभाव हो जाता है, तब वह साधक अमृतमय हो जाता है और यही ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है इत्यादि वचनों द्वारा श्रुति में मुक्तावस्था का स्वरूप निश्चित है। अत जिसको वह स्थिति शरीर के रहते-रहते प्राप्त हो जाती, वह तो यही परमात्मा को प्राप्त हो जाता है और जिसकी वैसी अवस्था यहाँ नहीं होती, वह ब्रह्मलोक में जाकर परमात्मा को प्राप्त हो जाता है।

ब्रह्मवैवर्त पुराण में कहा है कि- वैष्णव लोग सर्वदा सभी कर्मो की फलासक्ति से रहित और जीवन्मुक्त होते है वे श्रीकृष्ण में सदैव प्रति-भक्ति की कामना रखते हैं।[1] क्योंकि भगवान् विष्णु का मन्त्र गुरू के मुख से निकलकर जिसके कर्ण-विवर में प्रविष्ट होता है, उसे सभी वेद जीवन्मुक्त वैष्णव कहते हैं। इसी भाँति जो देवेश्वरी गगा की अर्चना करके भक्तिपूर्वक नित्य भगवान् के मन्त्र का पाठ करते हैं उन्हे नित्य अश्वमेध यज्ञ के फल की प्राप्ति होती है,इसमें कोई सन्देह नही हैं। उसी प्रकार पुत्रहीन को पुत्र और स्त्रीहीन को स्त्री की प्राप्ति होती है। रोगी रोग से मुक्त हो जाता है और बन्धन में पडा हुआ व्यक्ति उससे मुक्त हो जाता है।

कुछ पौराणिक विद्वानो का मानना है कि मीमासकों ने मोक्ष को नहीं माना है, परन्तु वे स्वर्ग को ही मोक्ष कहते हैं। मीमासकों ने मोक्ष के विषय में अन्य दार्शनिकों के स्वर में स्वर मिलाकर अपना स्वतन्त्र मत प्रकट किया। वेदान्ती मोक्ष का स्वरूप 'प्रपचविलय' को मानते हैं लेकिन मीमासक उनके लक्षण में परिवर्तन करते हुए बताते हैं कि मोक्ष का स्वरूप 'प्रपंचसबध विलय' है। इस

---

[1] फलसधान रहिता जीवन्मुक्ताश्च वैष्णवा।
मत्प्रीतिभक्ति कामास्ते सर्वदा सर्वकर्मसु।। ब्र० वै० प्र० ख० १०/४२

दृश्यमान जगत् के साथ आत्मा के सम्बन्ध का विनाश होना ही मोक्ष है क्योकि प्रपच तो सत्य है, उसका विनाश सम्भव नहीं है। प्रपच के तीन प्रकार के बन्धन होते हैं जिनसे आत्मा बद्ध होती है। आत्मा शरीर में स्थित होकर इन्द्रियों की सहायता से वाह्य विषयों का अनुभव करता है, अर्थात् शरीर तो भोगायतन है, इन्द्रियॉं भोग का साधन है और पदार्थ के विषय है इन तीन प्रकार के बन्धनों के आत्यन्तिक विनाश को मोक्ष कहते हैं। अर्थात् उपर्युक्त तीन प्रकार के बन्धनों के साथ ही उनके उत्पादक धर्म और अधर्म का भी नाश हो जाता है। धर्म-अधर्म आदि के कारणों के न रहने से नवीन शरीर, इन्द्रिय और विषयों की उत्पत्ति नहीं होती है। धर्म-अधर्म का उच्छेद उत्पन्न हुए धर्मो के फलोपभोग से और नित्य नैमित्तिक कर्मो के अनुष्ठान से होता है। आत्मज्ञान से दोनों का उच्छेद होता है काम्यकर्म का अनुष्ठान न करने, प्रतिसिद्धि कर्म न करने एव केवल नित्य नैमित्तिक कर्मो के करते रहने से प्रत्यवाय-परिहार होता है।

इस प्रकार शरीरादि के आरम्भक हेतुओं के न रहने पर और पूर्व शरीर के नष्ट होने पर यह आत्मा अशरीर अर्थात् शरीर रहित अवस्था में रहता है, तभी उसे मुक्त कहते है। वेदान्तियों की तरह केवल आत्मज्ञान से मोक्ष समझना उचित नही है। आत्मज्ञान का कथन तो कर्म में रुचि पैदा करने के लिये किया गया है। इसलिये मुमुक्षु को केवल आत्मज्ञान से या विवेकज्ञान से ही सन्तुष्ट होकर नहीं रहना चाहिए बल्कि नित्य नैमित्तिक कर्मो का अनुष्ठान तथा काम्य-प्रतिषिद्ध कर्मो का अनुष्ठान करते हुए अशरीरत्व-सम्पादन करने में प्रयत्नशील रहना चाहिए।

धर्माधर्म का नि शेष नाश होने से देह के आत्यन्तिक नाश को ही मोक्ष कहते हैं। धर्म-अधर्म के वशीभूत हुआ यह जीव अनेक योनियों में भकटता रहता है। धर्म-अधर्म का विनाश होने पर तदुत्पन्न देहेन्द्रियादि के सम्बन्ध से सर्वथा रहित होकर यह जीव प्रपंचिक बन्धनों से छुटकारा पाने पर मुक्त हो जाता है। प्रपचिक दु.खों से घबराया हुआ जीव दुःख मिश्रित सुख से भी मुँह मोड लेता है क्योकि वास्तविक विशुद्ध सुख तो ससार में है ही नहीं। इसलिये उनसे उद्विग्न होकर मुक्ति-लाभ के लिये वह तत्पर हो जाता है। तब वह अभ्युदय साधक, बन्धन के हेतुभूत, काम्य-निषिद्ध कर्मो का परित्याग कर देता है। वह अपने पूर्वकृत कर्मो के फलस्वरूप धर्माधर्म के फलों का उपयोग लेकर उन्हे नष्ट कर देता है। फिर भी संचित सस्कारों को नष्ट करने के लिये वेदान्त द्वारा प्रतिपादित, शम, दम, ब्रह्मचर्य आदि का पालन करते हुए आत्मज्ञान को प्राप्त करता है, तब यह जीव मुक्तावस्था की

उपलब्धि कर पाता है, अर्थात् पुन ससार में नही आता। मुक्तावस्था में जीव की सत्ता मात्र रहती है जो सत् और अकारण है।

इस प्रकार भक्ति, जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि, भय, और शोक आदि के नाशपूर्वक दिव्य रूप, धारण एव निर्वाण मोक्ष प्रदान करती है। मुक्ति सेवा से रहित होती है और भक्ति सेवावृद्धि करती है।[1] जों विष्णु को निवेदित नैवेद्य के प्राप्त होते ही उसे भक्तिपूर्वक खा लेता है, वह अपनी सौ पीढियों के उद्धारपूर्वक स्वय जीवन्मुक्त हो जाता है।[2] इसी प्रकार सर्वात्मा भगवान् भी अपने-माता-पिता के पास गये और उनकी लोहे की वेणी काटकर उन्हें मुक्त किया एव भूमि पर पडकर माता-पिता को दण्डवत् नमस्कार किया। भगवान् श्रीकृष्ण के दर्शन मात्र से ही वसुदेव और देवकी को मोक्ष की प्राप्ति हुई।

मुक्ति का स्वरूप -

जब जीव अपने अन्यथा रूप को छोडकर स्वरूप में अवस्थित हो जाता है तब उसे 'मुक्ति' कहते हैं। ससार-दशा में जीव अपने को देह इन्द्रियों के साथ अध्यस्त कर अपने को देह ही तथा इन्द्रियाँ ही मान बैठता है और उसी के अनुसार आचरण भी करता है। 'ऋृते ज्ञानान्मुक्ति' इस मान्यता के आधार पर ज्ञान के उदय होने पर मुक्ति प्राप्त होती है। उस समय जीव मिथ्याज्ञान या अध्यास वश समस्त भ्रमों से उन्मुक्त होकर अपने यथार्थ सच्चिदानन्द रूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। दु:खों के आत्यन्तिक विलयन होने से यह मुक्ति कहलाती है।

हिन्दू धर्म की आत्मा एक दूसरे उच्च्व सिद्धान्त के रूप में अपने को अभिव्यक्त करती है। वह यह है कि मानवीय आत्मा की चरम आकांक्षा इतनी ऊँची होती है कि वह इस परिवर्तनशील जगत् के सीमित भागों से पूर्ण नहीं हो सकती तथा उसकी स्थायी पूर्ति कर्मबन्धन से, प्रतीयमान जगत् के सुख-दु खों से तथा सभी प्रकार की सीमाओं एव उपाधियों से सर्वथा छूटने में ही है। विद्वानों के अनुसार जगत् के नैतिक शासन से सभी सीमाओं को लाघना, और उसके परिणामस्वरूप जन्म-मृत्यु एव आपेक्षिक सुख-दु·खों के चक्र से भी ईश्वरीय-पूर्णता-निरतिशय आनन्द की नित्य-स्थिति प्राप्त करना आत्मा का नैसर्गिक अधिकार है। मानवीय आत्मा अपने को अज्ञान और अहकार से, इच्छाओं

---

[1] ब्र० वै० प्र० ख० ३४/७७-७८

[2] ब्र० वै० प्र० ख० ३६/३०

एव वासनाओं से, सासारिक प्रतिष्ठा एव समृद्धि की आसक्ति, से, भौतिक दृष्टि एव दूसरों के साथ प्रतिस्पर्धा भाव से मुक्त करे तथा निरतिशय ज्ञान, नि स्वार्थ प्रेम, अविचल शान्ति, कल्मषहीन पवित्रता तथा समस्त भूतों के साथ अभेद बुद्धि सम्पादित करें और इस प्रकार भगवान् के साथ अभेद सम्बन्ध स्थापित करें। प्रत्येक व्यक्ति की सर्वोच्च आकाक्षा यही होती है।

ब्रह्मवैवर्त पुराण के प्रकृति-खण्ड में 'मनसा देवी' को मोक्षाभिलाषियों को मोक्ष देने वाली कहा गया है अर्थात् इनकी कृपा से मुमुक्षु-जन मुक्त हो जाते हैं। ये भक्तों की सकल कामनाएँ पूर्ण करती हैं भारत में वृक्ष होकर ये कल्पवृक्ष का काम करती हैं।[1] सुपूजित होने पर ये धर्म, अर्थ काम और मोक्ष प्रदान करती है। इसलिये ब्रह्मादि देवगुण, मुनिगण और मनुष्य वृन्द इनकी सदैव स्तुति करते हैं।[२]

वेदान्त दर्शन में मुक्ति की अवस्था वह होती है जिसमें विशुद्ध ब्रह्मज्ञान का प्रकाश अखण्ड चित, सत्, और आनन्द के ज्ञान रूप में विलक्षण रूप में चमकने लगता है और समस्त ज्ञान माया और भ्रम की तरह विलीन हो जाते हैं। जिस प्रकार इस प्रपच की सारी सत्ता उस एक अखण्ड सत्ता का ही प्रतिफल है उसी प्रकार सारे आनन्द भी उसी चरम आनन्द के स्वरूप हैं जिसका कुछ आभाष हमें स्वप्न-रहित गहरी निद्रा से महसूस हो सकता है। ब्रह्म की सत्ता अन्य दृश्य सत्ताओं से पृथक् और अमूर्त धारणा मात्र नहीं है जैसा कि नैयायिकों की सत्ता जाति के अर्थ में होती है। किन्तु वह यथार्थ और वास्तविक सत्ता है, जो शुद्ध चित् और आनन्द के साथ अपने पूर्णत्व में प्रतिभाषित होती है। सत् ही शुद्ध चित् और शुद्ध आनन्द है।

मुक्ति के समय अविद्या कहाँ जाती है? इस प्रश्न का उत्तर उतना ही जटिल है जितना कि अविद्या कैसे प्रकट हुई और प्रपच मे कैसे व्याप्त है? एक प्रश्न के उत्तर में वेदान्तियों ने कहा है कि अनिर्वचनीय अविद्या का उद्भव स्थिति और विनाश भी अनिर्वचनीय है। वेदान्त यह मानता है कि ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर लेने पर भी कुछ समय तक शरीर रह सकता है, यदि व्यक्ति के पूर्वार्जित कर्म बचे रहे। अत मुक्त व्यक्ति भी सामान्य साधक की भाँति चलता-फिरता रह सकता है। किन्तु वह मोक्ष प्राप्त कर सकने के पश्चात् नये कर्मों में लिप्त नहीं होता, ज्योंहि पूर्व कर्मों के फल पूर्ण होकर

---

[1] ब्र० वै० प्र० ख० १/७१
[2] वही १/६६

समाप्त हो जाते हैं त्योंहि उसका शरीर भी मुक्त हो जाता है और उसके बाद उसका आगे जन्म नहीं होता क्योंकि चरम ज्ञान के उदय के कारण उसके अनादि पूर्वजन्मों के सारे कर्म नष्ट हो जाते हैं। वह किसी भी मायात्मक ज्ञान में लिप्त नहीं होता; जिससे कि उसमें कोई ज्ञान कर्म या भावना पैदा हो सके। ऐसे व्यक्ति को जीवन्मुक्त कहा जाता है अर्थात् जीते हुए भी मुक्त। उसके लिये समस्त प्रपच समाप्त हो जाते हैं वह स्वय प्रकाश तथा आत्मज्ञान रूप हो जाता है और उस स्थिति में अन्य समस्त परिस्थितियाँ उसी में विलीन हो जाती है।

योग वसिष्ठ ने कहा है कि ससार के पदार्थों के प्रति वासना के प्रबल होने को बन्धन कहा जाता हैं। वासना ही बन्धन का मुख्य कारण है। जीव अपने आत्मस्वरूपन को भूलकर बन्धन में पड जाता है। उस बन्धन का मुख्य कारण अज्ञान ही है। सम्यक् ज्ञानपूर्वक शुद्ध चित्त मे सभी इच्छाएँ नष्ट हो जाने पर चित्त की जो क्षय दशा होती है उसे मोक्ष कहते है।[1] इस अवस्था में किसी वस्तु के प्रति न इच्छा होती है, न किसी वस्तु के प्रति द्वेष। उस समय सब इन्द्रियाँ शान्त हो जाती हैं जीव ब्रह्म के गुणों को प्राप्त करता है। जीव सब प्राणियों में अपने आप को देखता है। वह कर्तृत्त्व और भोक्तृत्त्व से मुक्त हो जाता है।

ब्रह्मसूत्र में परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त कर लेना तथा उससे प्राप्त फल तथा ब्रह्मलोक के भोगों की प्राप्तिरूप और ब्रह्मज्ञान ही इस जन्म-मृत्यु रूपी ससार से छुटकारा पाने का उपाय जान लेने के पश्चात् शारीरिक और मानसिक क्रियाओं में स्वीकृत विकल्प की भाँति पहले कही हुई अग्नि विद्या भी विकल्प से मुक्ति की हेतु बन सकती है। इसी प्रकरण में नचिकेता के प्रश्न और यमराज के उत्तर की समालोचना करके जिस प्रकार उपासना सम्बन्धी शरीरिक क्रिया की भाँति मानसिक क्रिया भी फल देने में समर्थ है अत अधिकारि भेद से जो फल शारीरिक क्रिया करने वालों को मिलता है, वही मानसिक क्रिया करने वाले को भी मिल जाता है; उसी प्रकार अग्निहोत्र रूप कर्म भी ब्रह्मविद्या की ही भाँति मुक्ति का हेतु हो सकता है।

इसी प्रकरण में नचिकेता ने प्रश्न करते समय यमराज से यही बात कही कि 'स्वर्गलोक' में किंचिन्मात्र भय नही है, वहाँ न तो आपका डर है और न बुढापे का ही, भूख और प्यास-से परे होकर जीव शोक से रहित होकर स्वर्ग में प्रसन्न होता है, उस स्वर्ग के देने वाले अग्निहोत्र रूप कर्म

---

[1] यो० व० ५/७३/३५

रहस्य को आप (यमराज) जानते है वह मुझे (नचिकेता) बताइये।[1] इस पर यमराज ने वह अग्निहोत्र-क्रिया सम्बन्धी सब रहस्य नचिकेता को समझाया। तत्पश्चात् उस अग्निहोत्र रूप कर्म की स्तुति करते हुए यमराज ने कहा कि इस अग्निहोत्र का तीन बार अनुष्ठान करने वाला जन्म और मृत्यु से तर जाता है और अत्यन्त शान्ति को प्राप्त हो जाता है। इस प्रकरण को देखते हुए इस अग्निहोत्र कर्म को मुक्ति का कारण मानने में कोई आपत्ति नहीं है।

अतिदेश अर्थात् विद्या के समान कर्मो को मुक्ति में हेतु बताया जाने के कारण केवल प्रकरण के बल पर ही कर्म मुक्ति में हेतु सिद्ध होता है, ऐसी बात नहीं। श्रुति में विद्या के समान ही कर्म का भी फल बताया है जैसे- 'यज्ञ, दान और तपरूप तीन कर्मों को करने वाला मनुष्य जन्म मृत्यु से तर जाता है।[2] इससे भी कर्मो का मुक्ति में हेतु होना सिद्ध होता है। श्रुति मे कहा है कि उस परब्रह्म परमात्मा को जानकर ही मनुष्य जन्म-मरण को लाँघ जाता है। परमपद (मोक्ष) की प्राप्ति के लिये दूसरा कोई मार्ग नही है।[3] इस प्रकार यहाँ निश्चित रूप से एकमात्र ब्रह्मज्ञान को ही मुक्ति का कारण बताया गया है इसलिये ब्रह्मविद्या ही मुक्ति का हेतु है कर्म नही। ब्रह्मविद्या का उपदेश देते समय नचिकेता से स्वय यमराज ने ही कहा कि- जो सब प्राणियों का अन्तर्यामी, एक अद्वितीय तथा सबकों अपने वश में रखनेवाला है जो अपने एक ही रूप को बहुत प्रकार से बना लेता है, उसे अपने ही हृदय में स्थित परमेश्वर को जो ज्ञानी देखते है उन्ही को सदैव रहने वाला आनन्द प्राप्त होता है दूसरों को नहीं।[4]

अत पहले अग्निविद्या के प्रकरण में जो जन्म-मृत्यु से छूटना और अत्यन्त शान्ति की प्राप्तिरूप फल बताया है वह कथन स्वर्गलोक की स्तुति करने के लिये गौण रूप से है। श्रुति में यज्ञादि कर्मो के फल जन्म-मरण से छूटकर परमात्मा को प्राप्त हो जाना इससे भी यही सिद्ध होता है कि एकमात्र ब्रह्मविद्या ही मुक्ति में हेतु है यज्ञादि कर्म नही। तात्पर्य यह है कि वेद के अर्थ और भाव का निर्णय करने में प्रकरण की अपेक्षा श्रुति का वचन और लक्षण आदि अधिक बलवान् माने जाते हैं इसलिये प्रकरण से सिद्ध होने वाली बात का निराकरण करने वाले बहुत-से श्रुति प्रमाण हो तथा

---

[1] क० उ० १/१/१२-१३

[2] 'त्रिकर्मकृत्तरति जन्म मृत्यु।' क० उ० १/१/१७

[3] श्वे० उ० ३/८

[4] क० उ० २/२/१२

उसके विरूद्ध लक्षण भी पाये जायें तो केवल प्रकरण की यह सामर्थ्य नही हैं कि वह सिद्धान्त में बाधा उपस्थित कर सके। इससे यही सिद्ध होता है कि परमात्मा का साक्षात् करने के लिये बताये हुए उपासनादि उपाय अर्थात् ब्रह्मविद्या ही परमात्मा की प्राप्ति और जन्ममरण से छूटने का साधन है।

सभी ब्रह्मविद्याओं का उद्देश्य एकमात्र परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार करा देना और इस जीवात्मा को सदा के लिये सब प्रकार के दु खों से मुक्त कर देना है और किसी विद्या का फल ब्रह्म लोकादि की प्राप्ति है और किसी का फल इस शरीर में रहते हुए ही ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है।

जैन दर्शन में मनुष्य का मोक्ष प्राप्ति के लिये प्रयत्न इस उद्देश्य को लक्ष्य करके होता है कि दु ख की निवृत्ति और सुख की प्राप्ति हो सके, क्योकि मुक्ति की दशा जीव की सुख या आनन्द की दशा मानी गयी है। यह शुद्ध एव अनन्त ज्ञान की तथा अनन्त दर्शन की स्थिति भी है। ससार दशा में कर्म के आचरण के कारण यह शुद्धता दूषित हो जाती है। आवरण केवल अपूर्ण रूप से समय-समय पर उठते या हटते रहते है और सामान्य मति, श्रुत, अतिमानुष ज्ञान या ध्यान और अवधि की स्थिति में ज्ञान या मानसिक अध्ययन अर्थात् मन पर्याय द्वारा अन्यों के विचारों का ज्ञान, इन सबके क्षणों में से किसी पदार्थ या विषय का ज्ञान हो जाता है। किन्तु मुक्ति की दशा में पूर्ण आवरण भग होकर केवल ज्ञान की स्थिति आ जाती है और केवली को समस्त पदार्थो और विषयों का एक साथ पूर्ण ज्ञान हो जाता है। सांसारिक दशा में जीव सर्वदा नये गुण धारण करता रहता है और इस प्रकार तत्त्व रूप में निरन्तर परिवर्तन की प्रक्रिया से गुजरना रहता है। किन्तु मोक्ष के बाद जीव में जो परिवर्तन होते हैं, वे एक से ही होते हैं (अर्थात् दूसरे अन्य शब्दों में कोई परिवर्तन लक्षित नहीं होता) अर्थात् वह स्थिति आ जाती है कि जीव तत्त्व रूप में भी एक-सा लक्षित होता है और अनन्त ज्ञान आदि के गुण भी अपरिवर्तित रहते हैं। परिवर्तन उस अनन्त ज्ञान में ही उन्ही गुणों का होता है।

मनुष्यों के कर्म ही मुक्ति को विविध दृष्टियों में निर्मित करते हैं, फिर भी उनमें सम्यक् कर्म करने की अनन्त शक्ति होती है। कर्म उस शक्ति को नष्ट नहीं कर सकता। इस प्रकार शक्ति के उपयोग से मनुष्य समस्त कर्मो पर विजय प्राप्त कर सकता है और अन्तत मोक्ष को प्राप्त कर सकता है।

मुक्ति के प्रकार- 'ब्रह्मवैवर्त पुराण' में केवल मोक्ष शब्द का विवेचन ही नही अपितु उसकी विधाओं पर भी दृष्टिगत विवेचन किया गया है। इस पुराण के अनुसार मुक्ति को निम्नलिखित प्रकार का वर्णित किया गया है अर्थात् मोक्ष और अमोक्ष के वेत्ताओं ने सार्ष्टि (ईश्वर के समान सृष्टि करने की शक्ति), सालोक्य (ईश्वर के समान लोक में रहना), सामीप्य (ईश्वर के समीप रहना) सारूप्य (ईश्वर के समान स्वरूप प्राप्त करना), साम्य (आपकी समता की प्राप्ति) और लीन होना- यही छ प्रकार की मुक्ति बतायी गयी है[1] जबकि भागवत् पुराण में मुक्ति पॉच प्रकार की बतायी गयी है अर्थात्- सालोक्य (भगवान के नित्य धाम में निवास), सार्ष्टि (भगवान् के तुल्य ऐश्वर्य भोग), सामीप्य (भगवान् के नित्य समीपता), सारूप्य (भगवान् के तुल्य स्वरूप होना), ऐक्य (भगवान के श्री विग्रह में समा जाना)[2] आदि।

ब्रह्मवैवर्त पुराण में मुक्ति के षट् प्रकारों के विवेचन से ऐक्य नामक मुक्ति विधा को त्यागकर साम्य और लीनता नामक द्विविध मुक्तियों को और ग्रहण किया गया है। ये दोनों मुक्ति प्रकार बोधन शब्द ऐक्य पद के ही पर्याय प्रतीत होते हैं। अत ऐक्य में इन्हें समाविष्ट कर देने पर केवल मुक्ति के पॉच प्रकार रह जाते हैं। अधिकाश पुराणकारों ने चतुर्विध मुक्ति को माना है किन्तु विद्वानों की दृष्टि से चतुर्विध मुक्ति मानने पर ऐक्य पद को हटाना ही उचित प्रतीत हुआ। इस पद के हटाने से सालोक्य, सार्ष्टि, सारूप्य और सामीप्य नामक मुक्ति के चार ही प्रकार रह जाते हैं। परन्तु उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि मुक्ति के चार, पॉच और छ प्रकार देखे जाते हैं। जिसमें पॉच प्रकार सुस्पष्ट है।

श्री राधा ने उद्धव को भक्ति का महत्त्व बताते हुए पचविध मुक्तियों से भी उसको श्रेष्ठ सिद्ध किया है। अर्थात्- समस्त वरदानों में तुम्हें कृष्ण की भक्ति और कृष्ण दास्य- यह श्रेष्ठ वरदान प्राप्त हो। पॉच प्रकार की मुक्तियों में हरिभक्ति ही श्रेष्ठ है।[3] ब्रह्मत्व, देवत्व, इन्द्रत्व, अमरत्व, अमृत और सिद्धियों के लाभ आदि सभी से हरिदास्य पद अति दुर्लभ है। अनेक जन्मों की तपस्या द्वारा भारत में जन्म ग्रहण कर जो ब्राह्मण भगवान् की भक्ति प्राप्त करता है, उसका जन्म अति

---

[1] ब्र० वै० ब्र० ख० ६/१७

[2] भा० पु० ३/२९/१३

[3] कृष्णभक्ति कृष्णदास्य वरेषु च वर वरम्।
श्रेष्ठा पचविधा मुक्तेर्हरिभक्तिर्गरीयसी।। ब्र० वै० कृ० ख० ६७/८

दुर्लभ है। इन प्रकारों के नाम कथन के अलावा कुछ अन्य प्रकारों का भी विवेचन इसमें प्राप्त होता है। यथा- स्वायम्भुव-शतरूपा को सामीप्य[1] अर्थात् महाराज अनरण्य का जन्म मनुवश में हुआ था। वे चिरजीवी, धार्मिक स्वभाव वाले वैष्णव एव जितेन्द्रिय थे। पहले मनु का नाम स्वायम्भुव है जो ब्रह्मा के पुत्र तथा अतिधार्मिक राजा थे। उन्होंने एकहत्तर युग पर्यन्त राज्य किया था। तदन्तर अपनी शतरूपा पत्नी के साथ बैकुण्ठ चले गये वहाँ हरि का दास्य एव सामीप्य पाकर उनके सेवक हो गये। शखचूड को सारूप्य[2] तथा अष्टावक्र को ऐवय नामक मुक्ति की उपलब्धि देखी जाती है।[3] अर्थात् भगवान् के चरण कमल के समीप उनकी (अष्टावक्र) देह गिर गयी और शरीर से प्रज्ज्वलित अग्नि शिखा की भाँति उनका तेज निकला और सात ताडवृक्षों के समान ऊँचे उठकर पुन गिर पडा, पुन चारों ओर भ्रमण करके भगवान् के चरण-कमल में लीन हो गया। अष्टावक्र कृत स्तोत्र का जो प्रात काल उठकर पाठ करेगा, उसे निर्वाण मोक्ष की प्राप्ति अवश्य होगी।

---

[1] ब्र० वै० कृ० ख० ४१/१०५
[2] ब्र० वै० प्र० ख० २०/२१
[3] ब्र० वै० कृ० ख० २६/५०-५१

तृतीय खण्ड

ब्रह्मवैवर्त पुराण का महत्व

अध्याय १०

"ब्रह्म-वैवर्त पुराण का महत्त्व"

ब्रह्मवैवर्त पुराण का महत्त्व विभिन्न सामाजिक परिवेशों में पाया जाता है उनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण-वर्णव्यवस्था, आश्रम व्यवस्था आदि के अतिरिक्त चिकित्सा पद्धति आदि का भी विम्तृत विवेचन हुआ है।

वर्ण व्यवस्था-

भारतीय जीवन को सुव्यवस्थित एव सुगठित स्वरूप प्रदान करने के लिये महर्षियों ने वर्णाश्रम एव सस्कारों की व्यवस्था की है। वास्तव में हमारे सामाजिक जीवन में इनका विशेष महत्त्व है। ब्रह्मवैवर्त पुराण भी इससे अछूता नही है। वर्ण शब्द का प्रयोग इस पुराण में 'ब्रह्मणादि' वर्णो के लिये हुआ है। अर्थात्-सभी वर्णो में ब्राह्मण उत्तम है। विप्र के समान कोई गुरु नही है। यह बात वेद-वेदाग के तत्त्व ज्ञाता कमलोत्पन्न ब्रह्मा ने कही है।[1] ऋग्वेद में वर्ण का अर्थ रग या प्रकाश के रूप में आया है। पाणिनि के अनुसार धातु पाठ में चुरादिगण में 'वर्ण' प्रैरणे और वर्ण वर्णने दो अर्थ 'वर्ण' धातु के लिये है।

ब्रह्मवैवर्त पुराण के अनुसार वर्णो की उत्पत्ति के लिये ब्रह्माजी को आधार मानकर यह बताया गया है कि उनके मुख प्रदेश से ब्राह्मण, बाहु प्रदेश से क्षत्रिय तथा चरणों से शूद्र की उत्पत्ति हुई है। अर्थात् मुनियों के पॉच गोत्र प्रसिद्ध हुए, फिर ब्रह्मा के मुख से अन्य ब्राह्मण जातियाँ उत्पन्न हुई। वे विभिन्न देशों में अवस्थित हुइ और वे गोत्र शून्य है। उसी प्रकार चन्द्र सूर्य और मनु द्वारा उत्पन्न क्षत्रिय-गण श्रेष्ठ है, और अन्य क्षत्रिय जाति के लोग ब्रह्मा के बाहु से उत्पन्न हुए। उनके उरु देश से वैश्य और चरण से शूद्रों की उत्पत्ति हुई- इन शूद्र जातियों के साकर्य से अर्थात् एक जाति की स्त्री में दूसरी जाति के पुरुष द्वारा वर्ण सकर उत्पन्न हुए।[2] ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में भी चतुर्वर्णो की उत्पत्ति पुरुष रूपपरमात्मा से बतायी गयी है। मनुस्मृति में भी वर्णोत्पत्ति का आधार ब्रह्मा को ही स्वीकार किया गया है। श्रीमद् भगवद्गीता के अनुसार गुण और कर्म विभाग से चतुर्वर्णो की उत्पत्ति

---

[1] *सर्व वर्णात्परों विप्रोनास्ति विप्रसमो गुरु।*
वेद वेदाग तत्त्वज्ञ इत्याह कमलोद्भव॥ ब्र० वै० ब्र० ख० ११/२०

[2] ब्र० वै० ब्र० ख० १०/१४-१६

ईश्वर कृत मानी गयी हैं अर्थात् कर्म क्या है? और अकर्म क्या है? इस प्रकार निर्णय करने में बुद्धिमान् पुरुष भी मोहित हो जाते हैं। इसलिये वह कर्म तत्त्व मैं तुझे भलीभाँति समझाकर कहूँगा जिसे जानकर तू (अर्जुन) अशुभ से अर्थात् कर्म बन्धन से मुक्त हो जायेगा।[1] इस प्रकार वैदिक साहित्य से लेकर पौराणिक साहित्य तक ब्रह्मवैवर्तीय मत की पुष्टि होती है, जिससे यह स्पष्ट ज्ञान होता है कि वर्णो की उत्पत्ति अपरिमेय है। ब्राह्मणादि वर्ण ईश्वर के द्वारा ही बनाये हुए हैं, मानवकृत नहीं। मनुष्य के कर्मानुसार ईश्वर ही उन जातियों में जन्म देता है।

वर्णों के कार्य-

चतुर्वर्णो की उत्पत्ति के अतिरिक्त ब्रह्मवैवर्त पुराण उपर्युक्त वर्णो के कार्य का भी सूक्ष्म, सारगर्भित एव औचित्यपूर्ण वर्णन किया है। नन्द जी श्रीकृष्ण से चतुर्वर्णों के कर्म के विषय में प्रश्न करते हैं। अर्थात्-ब्राह्मणों क्षत्रियों, वैश्यों, शूद्रों सन्यासियों, योगियों, ब्रह्मचारियों, विप्रों, विधवा स्त्रियों, सज्जनों और पतिव्रता स्त्रियों के जो धर्म है वह सब मुझे (नन्द) बताओ।[2] भगवान् श्रीकृष्ण उसका उत्तर देते हुए चारो वर्णो के कर्म का विवेचन करते हैं कि ब्राह्मण सन्ध्या पूजा से पवित्र रहने वाला और भागवत प्रसाद सेवी होना चाहिए। वह अपने धर्म में निरत हो। ब्राह्मण को दिवाशायी तथा शूद्र एव श्रद्धान्न का परित्याग करने वाला होना चाहिए। अर्थात्- जो विष्णु को अर्पित नही किया गया है वह अन्न विष्ठा और जल मूत्र के समान माना जाता है। अत विष्णु के प्रसाद का भक्षण करने वाला ब्राह्मण जीवन्मुक्त होता है।[3] इसी भाँति जो ब्राह्मण वृषों द्वारा जीविकोपार्जन करता है, शूद्रों की रसोईं बनाता है, पुजारी का काम करता है सन्ध्या नहीं करता, दिन मे शयन करता हैं, शूद्रों के श्राद्धन्न को खाता है और शूद्रो के शवों का दाह करता है, ऐसे ब्राह्मण शूद्र के समान है। जो ब्राह्मण शालग्राम की सविधि अर्चना करके उनके चरणोदक का पान करता है वह सम्पूर्ण पापों से मुक्त हो जाता है।

क्षत्रिय के लिये ब्राम्हणों का वन्दन, नारायण का अर्चन, राज्यपालन, रण में निर्भयता, ब्राह्मणों को नित्यदान करने वाला, शरणागत रक्षक, पुत्रतुल्य प्रजा पालक, दु खियों के दु ख का निवारण कर्त्ता, शास्त्रास्त्र में निपुण तपस्या तथा धर्म कार्य करने वाला, पण्डित तथा नीतिशास्त्रों का नित्य

---

[1] गीता - ४/१६

[2] ब्र० वै० कृ० ख० ८३/२-३

[3] ब्र० वै० कृ० ख० ८३/१६-२०

पालन करने वाला, चतुरंग सेना का पालक तथा रण से विमुख न हाने वाला है। क्योंकि जो क्षत्रिय रण में प्राण त्याग करता है उसे यशस्कर स्वर्ग की प्राप्ति होती है। वैश्यों का धर्म वाणिज्य (व्यापार) खेती करना, ब्राह्मणों और देवों की अर्चना, दान, तप, और व्रत का पालन है। इसी प्रकार ब्राह्मणों की नित्य पूजा करना शूद्र का धर्म बताया गया है। ब्राह्मण को कष्ट देने वाला तथा उसके धन पर अधिकार कर लेने वाला शूद्र चाण्डाल हो जाता है। गीता में भी प्रत्येक वर्ण के कर्म की विशेष चर्चा की गयी है अर्थात्-ब्राह्मण, क्षत्रिय, और वैश्यों के तथा शूद्रों के कर्म स्वभाव से उत्पन्न गुणों द्वारा विभक्त किये गये है। अन्तःकरण का विग्रह करना, इन्द्रियों का दमन करना, धर्म पालन के लिये कष्ट सहना, बाहर, भीतर से शुद्ध रहना, दूसरों के अपराधों को क्षमा करना; मन इन्द्रिय और शरीर को सरल रखना; वेद शास्त्र ईश्वर और परलोक आदि में श्रद्धा रखना; वेदशास्त्रों का अध्ययन-अध्यापन करना और परमात्मा के तत्त्व का अनुभव करना- ये सब-के-सब ही ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्म हैं।

शूरवीर वीरता, तेज, धैर्य, चतुरता और युद्ध मे न भागना, दान देना और स्वामिभाव-ये सबके सब ही क्षत्रिय के स्वाभाविक कर्म हैं। खेती, गोपालन, और क्रय-विक्रय रूप सत्य व्यवहार आदि ये वैश्य के स्वाभाविक कर्म है। तब सब वर्णो की सेवा करना शूद्र का भी स्वाभाविक कर्म है। अपने-अपने स्वाभाविक कर्मो में तत्परता से लगा हुआ मनुष्य भगवत्प्राप्ति-रूप परम सिद्धि को प्राप्त हो जाता है। अपने स्वाभाविक कर्म में लगा हुआ मनुष्य जिस प्रकार से कर्म करके परम सिद्धि को प्राप्त होता है।[1]

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट होता है कि ब्राह्मण को संध्यादि आत्मबोधन कर्मो में निरत शुद्ध पवित्र एवं चिन्तनशील होना चाहिए। क्षत्रिय को प्रजापालक, राजकुशल एवं निर्भीक होना चाहिए। वैश्य को कृषि, वाणिज्य एवं गोपालनादि कार्यो के माध्यम से अपनी आजीविका कमानी चाहिए तथा शूद्र को ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य वर्णों की सेवा करनी चाहिए। ब्रह्मवैवर्त पुराण में उपलब्ध वर्ण व कार्य विवेचन परक उक्त वर्णन की प्रायः सभी धर्म-सूत्र स्मृत्यादि धर्मग्रन्थों से पुष्टि प्राप्त होती है।

---

[1] गीता - १८/४१-४५

"ब्रह्मवैवर्त पुराण में आश्रम व्यवस्था"

वर्णव्यवस्था के समान आश्रम-व्यवस्था भी भारतीय समाज में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बनाये हुए थी। जीवन के मर्म को सम्यक् पहचान कर ही मनीषियों ने इस व्यवस्था को विकसित किया था। वर्णव्यवस्था के समान यह व्यवस्था भी मानव को सच्चे अर्थ में मनुष्य बनाकर पुरुषार्थ चतुष्ट्य की उपलब्धि कराकर अपने लक्ष्य तक पहुँचने में समर्थ होता है। प्राचीन काल में भारतीयों को चारों आश्रमों में प्रवेश करना पडता था।

वास्तव में आश्रम शब्द का श्रम से घनिष्ट सम्बन्ध है इसीलिये प्राय सभी आश्रमों में व्यक्ति परिश्रम युक्त जीवन निर्वाह करता है और सदैव कार्यरत ही देखा जाता है। इस पुराण में ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एव सन्यास का क्रमश वर्णन किया गया है तथा इस क्रम को श्रुति सम्मत कहा गया है कि - ब्राह्मण सर्वप्रथम सुखपूर्वक यज्ञोपवीत धारण कर वेदों का अध्ययन करे, तत्पश्चात् गुरु दक्षिणा प्रदान करे। इसके बाद किसी उत्तम कुल की अत्यन्त विनीत कन्या का पाणिग्रहण करे। मनुष्य सर्वप्रथम गृहस्थ, अनन्तर वानप्रस्थ, और उसके पश्चात् मोक्ष के लिये तपस्वी (सन्यासी) हो- ऐसा क्रम वेदों मे सुना गया है।

ब्रह्मचर्य आश्रम-

आश्रमों की सत्ता स्वीकार करने के पश्चात् प्रत्येक आश्रम के कार्यो का वर्णन भी इस पुराण में पाया जाता है। ब्रह्मवैवर्त पुराण के अनुसार ब्रह्मचर्य आश्रम में व्यक्ति को गुरु के समीप रहते हुए वेदाध्ययन करना चाहिए तथा विद्या की परिसमाप्ति पर गुरु को दक्षिणा देना चाहिए ऐसा वर्णन प्राप्त होता है। ब्रह्मचर्य के विषय में पुराणकार ने यद्यपि स्वल्पशब्दों में भी अपनी विचाराभिव्यक्ति की है, किन्तु गागर में सागर की भाँति विदोपनिषदादि का सार भी यहाँ बताया गया है। यहाँ के गुरु के समीप रहने में ब्रह्मचारी के पूर्ण मर्यादित जीवन की ओर सकेत किया है। मनुस्मृति मे भी ब्रह्मचारी के लिये छत्तीस, अठारह अथवा नौ वर्ष तक गुरु के समीप रहते हुए वेदों में ग्रहणकाल तक अध्ययन रूप व्रत का निर्देश है। यहाँ मधु, माँस, सुगन्धित पदार्थ, फूलों की माला,

रस, स्त्री, जीव हिसा, आँखों में अजन, सिर से पैर तक तैल मर्दन, उबटन लगाना, उपानह एव छत्र प्रयोग और क्रोध, लोभ, नाच, गान, वादनादि का त्याग ब्रह्मचारी को अपेक्षित बताया गया है। शुक्रनीति में आचार्य शुक्र ने ब्रह्मचारी के लिय विद्योपार्जन अथवा वेदाध्ययन कर्म प्रमुख रूप से स्वीकार किया है। वायु-पुराण के अनुसार दण्ड, मेखला धारण, भूशयन, जटायुक्त होना, गुरु शुश्रूषा तथा विद्याध्ययन ब्रह्मचारी के कर्म रूप में है।

गृहस्थ आश्रम-

ब्रह्मचर्य आश्रम के पश्चात् गृहस्थाश्रम का ही क्रम आता है। गृहस्थाश्रम के विषय में ब्रह्मवैवर्त में बहुत कुछ कहा गया है। इस आश्रम में प्रवेश करने पर व्यक्ति को अत्यन्त विनम्र, श्रेष्ठ, कुलोत्पन्न, साध्वी, कुलीन और पतिसेवा परायणा पत्नी के अगीकार के लिये कहा गया है। गृहस्थ आश्रम को समस्त आश्रमों में प्रधान बताया गया है और गृहस्थ को पुण्यवान् कहा है। स्त्री, पुत्र और पौत्रयुक्त उसका घर ही तपस्या के फल के तुल्य है उसके यहाँ पुण्यकाल में पितर तथा अतिथिकाल में देवताओं का आगमन होता है। वह सदा नित्य, नैमित्तिक और काम्य कर्मो को करता हुआ इस लोक में सुख भोगता है और परलोक में स्वर्गसुख अनुभव करता है। अपने धर्म का पालन करता हुआ गृहस्थ यश, कीर्ति, पुण्य, धन और सुख की उपलब्धि करता हुआ जीवन्मुक्त हो जाता है। अर्थात-सभी आश्रमों में पुण्यवान् गृही श्रेष्ठ कहा गया है, क्योकि उसके तप के फलस्वरूप उसका गृह स्त्री पुत्र और पौत्रों से सुसम्पन्न रहता है। जैसे- हौज में पानी पीने के लिये गायें आती है उसी प्रकार पूर्वान्ह मे देवता और अपरान्ह में पितर गृहस्थ के यहाँ आते हैं। गृही सदा नित्य नैमित्तिक और काम्य अनुष्ठानों को करता रहता है। जिससे वह इस लोक में पवित्र सुख और परलोक में स्वर्ग-भोग प्राप्त करता है। स्वधर्म का तत्परता से पालन करने वाला गृहस्थ जीवन्मुक्त होता है। वह यशस्वी, पुण्यवान् कीर्तिमान्, धनवान् और सुखी भी होता है।[1] इस प्रकार इस पुराण में अन्य आश्रमों की अपेक्षा गृहस्थ आश्रम को सर्वश्रेष्ठ बताया गया है।

मनुस्मृति के अनुसार भी ब्रह्मवैवर्त पुराण के वचनों का समादर करते हुए गृहस्थाश्रम को सर्वश्रेष्ठ आश्रम बताया गया है और इस सम्बन्ध में बतालाया गया है कि जिस प्रकार प्राण वायु का आश्रय लेकर सब जीव जीवित रहते है, ठीक उसी प्रकार गृहस्थाश्रम का आश्रय लेकर सभी आश्रम

[1] ब्र० वै० ब्र० ख० २३/८-११

(ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ तथा सन्यास आश्रम) चलते है।[1] ऋषि, पितर, देवता, दूत और अतिथि ये लोग गृहस्थ से आशा रखते हैं। अत वेद पाठ से ऋषियों की, विधि पूर्वक हवन मे देवताओं की, श्राद्धों से पितर की, अन्न से मनुष्यों की और बलि कर्म से भूतों की पूजा करनी चाहिए। महाभारत तथा शुक्रनीति में भी गृहस्थ को उत्कृष्ट आश्रम माना गया है। 'सर्वेषा पालने गृही' इस पद का प्रयोग करके शुक्राचार्य ने स्पष्टत गृहस्थ आश्रम का महत्त्व बताया है। साथ ही साथ गृहस्थी के लिये स्त्री-पुत्रों का पालन, अग्नियों का सेवन, अतिथि सत्कार, यज्ञ और श्राद्धादि का करना, उसका कर्तव्य अथवा धर्म आदि का विवेचन है।

इस प्रकार उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट होता है कि ब्रह्मवैवर्त पुराण ने गृहस्थ धर्म का श्रेष्ठत्व का प्रतिपादन, सभी आश्रम गृहस्थ से पुष्पित और पल्लवित होते है। यह पुराण आश्रम का अतिक्रमण स्वीकार नही करता इसलिये वह कहता है कि बिना सतान उत्पन्न किये अन्य आश्रम में जाने से व्यक्ति का पुण्य उसी प्रकार नष्ट हो जाता है जैसे चलनी में स्थित जल नही ठहर पाता है। पुराणकार की इस उक्ति का तात्पर्य है कि यदि कोई व्यक्ति ब्रह्मचर्य आश्रम से सीधा सन्यास ले ले या विवाहोपरान्त बिना सतति उत्पन्न किये वैराग्य ग्रहण कर ले तो यह अनुपयुक्त और असगत है। ब्रह्माजी नारद को इसलिये सभवत सन्यास मार्ग की ओर अग्रसर होते हुए को रोककर दार परिग्रहण के लिये बाध्य किया।

वानप्रस्थ आश्रम-

ब्रह्मचर्य तथा गृहस्थ आश्रम का महत्व प्रतिपादित करने के पश्चात् वानप्रस्थ आश्रम के विषय में भी ब्रह्मवैवर्त पुराण कहता है कि सद्वशप्रसूता से परिणयोपरान्त उसमें सन्तति उत्पन्न करके वृद्धावस्था में तप हेतु वन की ओर प्रस्थान करना चाहिए। अर्थात- साधु प्रकृति के पुरुष प्रयत्नपूर्वक सत्कुलीना कन्या के साथ विवाह कर उससे पुत्रोत्पादन करके वृद्ध होने पर तपस्या के लिये चले जाते है।[2] इस प्रकार गृहस्थ आश्रम के उपभोग के अनन्तर वानप्रस्थ आता है। मनुस्मृति में इसका पर्याप्त विस्तृत वर्णन पाया जाता है। भगवान् मनु कहते है कि जब व्यक्ति अपने पके हुए बाल एव पौत्र को देख ले उस समय वन का आश्रय लेना अपेक्षित होता है। अपने वैभवपूर्ण जीवन

---

[1] मनुस्मृति - ३/७७

[2] साधु सद्वशजा कन्या प्रयत्नेन परिग्रहेत्।
तस्या पुत्रान्समुत्पाद्य वृद्धस्तु तपसे ब्रजेत्।। ब्र० वै० ब्र० ख० २४/१४

को त्यागमय बनाते हुए धर्मपत्नी को पुत्रों के हाथों में सौंपकर अथवा साथ लेकर वन की ओर अग्रसर हो जाय। अनेक प्रकार के मुनि अन्न अथवा शाक, मूल, फलादि से पच महायज्ञों का विधिपूर्वक सम्पादन करते हुए मुनिवत जीवन यापन करें। जटा, दाढी के बालों को सदा धारण करे, नखों को न काटे। सर्दी-गर्मी आदि सहे, प्राणिमात्र का उपकार करे, सर्वदा दान-वृत्ति रखे, प्रतिग्रह स्वय स्वीकार न करे। आत्मज्ञान की सिद्धि के लिये उपनिषद् आदि श्रुतियों का अभ्यास करे। वनोत्पन्न पावन हविष्यान्न से देवों के उद्देश्य से हवन कर अवशिष्ट का भोजन करे। अग्निपक्व एव कालपक्व अनादि का सेवन करे। मधुमास सेवी न हो। वह त्रिकाल स्नायी ध्यान करने वाला एव स्वत पतित मूल फलों से जीवन निर्वाह करने वाला हो। जिस लता से पुष्प ले उससे फल न ले, तथा जिससे फल ले उससे पुष्प न ले। इस प्रकार कठोर तप करते हुए शरीर को सुखा दे।

इस आश्रम में प्रवेश करने पर व्यक्ति को तप साधन द्वारा सयम प्राप्त करना पडता है। गृहस्थाश्रम की त्रुटियों को दूर करने के लिये इसे उपयुक्त स्थल माना जा सकता है।

सन्यास आश्रम-

वानप्रस्थ आश्रम के बाद सन्यास आश्रम आता है। सन्यास शब्द का अर्थ 'समन्ताद् न्यासः' अथवा 'सम्यक् प्रकारेण न्यासः' से है। अर्थात् इस आश्रम में व्यक्ति समस्त-बन्धनों से निर्मुक्त होकर सर्वतन्त्र, स्वतन्त्र एव स्वच्छन्द रूप से विचरण करता है।

ब्रह्मवैवर्त पुराण में दुर्वासा ऋषि एव महेन्द्र के वार्त्ताप्रसग में दुर्वासा ऋषि द्वारा सन्यासी के कर्त्तव्यों का सम्यक् प्रकार से निदर्शन किया गया है। यह पुराण कहता है कि सन्यासी नित्य प्रवासी हो। वह एक स्थान पर न रुके। वह सत् असत् लोष्ठ एव काचन को समान मानने वाला हो समबुद्धि को दण्ड और कमण्डलु को धारण करने वाला हो। वह नारायण-परक मौनी, एवं ब्रह्मचारी हो। सबकों ब्रह्ममय देखें। वह हिसा, माया, क्रोध और अहकार आदि से रहित हो। कदाचित जो मिले उसे खाये, भक्षणार्थ याचना न करे। स्त्रियों के समीप न रहे और न उसके मुखादि का अवलोकन ही करे। वह लकडी की भी स्त्री का स्पर्श न करे। कमलोद्भव ब्रह्मा द्वारा सन्यासियों का उक्त धर्म प्रतिपादित किया गया है। अर्थात् इस धर्म का विपर्यय होने पर उस प्राणी को जन्म तथा यम-यातना का भय प्राप्त होता है। जीवों के लिये जन्म-दु ख तथा अतिभीषण यम यातना कही गयी है।[1]

---

[1] विपर्यये विनाशश्च जन्मयाम्यं भय भवेत्। जन्म दु ख याम्यदु ख जीविनामाति दारुणम्।। - ब्र० वै० प्र० ख० ३६/१२७

सन्यासी के विषय में ब्रह्मवैवर्त में पुष्कल सामग्री प्रस्तुत की गयी है। उपर्युक्त संन्यासी धर्म के अतिरिक्त अन्यत्र इसी पुराण में सायकाल के समय क्षुधित सन्यासी के भिक्षार्थ गमन तथा गृहस्थी से उसे अच्छा बुरा जैसा भी अन्न मिले उसके स्वीकरण का वर्णन मिलता है। सन्यासी के चरण स्पर्श से वसुन्धरा के पवित्र होने की बात भी यहाँ पायी जाती है। सवारी पर चढना, गृहस्थी से धन लेना, कृषि अथवा वाणिज्य करना, यह सब कार्य सन्यासी के लिये त्याज्य है। अर्थात्-मनुष्य सन्यासी का स्पर्श करने से पापरहित हो जाता है। सन्यासी को भोजन कराने से अश्वमेघ का फल प्राप्त करता है।[1] वह न तो मिष्ठान् की याचना करे, न कोप करे और न धन ग्रहण करे, एक वस्त्र धारण करे, निरीह हो जाये, शीतकाल और ग्रीष्म काल में एक सा रहे और लोभ-मोह का परित्याग कर दे। इस प्रकार वहाँ एक रात्रि रहकर प्रात-काल दूसरे स्थान को चला जाय। सवारी पर बैठने, गृहस्थों से धन लेने रम्य गृह बनाकर गृही होने से सन्यासी अपने धर्म से पतित हो जाता है। जो सन्यासी खेती और व्यापार करके कुकर्म करता है, उसका आचरण भ्रष्ट हो जाता है और वह अपने धर्म से पतित हो जाता है। यदि वह अपना जातीयशुभ-अशुभ कोई कर्म करता है तो वह आश्रम से बहिष्कृत होकर उपहास का पात्र बनता है।[2]

ब्रह्मवैवर्त पुराण के समान मनुस्मृति में भी सन्यासी के जीवन को बड़ा त्यागमय स्वीकार किया गया है। इसमें यह स्पष्ट किया गया है कि सन्यासी ब्रह्म-ध्यान में लीन होकर मोक्ष सुख को चाहते हुए ससार में विचरण करे। व्यक्ति तीनों (देव, पितृ और ऋषि) ऋणों को पूरा करके ही मोक्ष साधनार्थ सन्यास ग्रहण करे। इस आश्रम में वह लौकिक अग्नि रहित, गृह रहित, शरीर में उत्पन्न रोगों की चिकित्सा आदि न करने वाला एवं वाह्य चिन्तन परक हो। वह ग्रीष्म और शरद ऋतु में ही भिक्षा के लिये भ्रमण करे। वर्षा में तो एक ही स्थान पर रहे। वह रात्रि में गमन नही करे। सम्यक् देखकर पैर रखे, किसी की बुराई न करे और न किसी से कठोर वाणी बोले। क्रोध न करे, जीवन में निर्वाह के लिये दिन में केवल एक बार ही भिक्षा के लिये निकले। उसका भिक्षार्थ निकलने का समय तब हो जब गृहस्थ भोजनादि से निवृत्त हो जाय तथा उनके भोज्य पात्र (पत्तल, सकोरे, आदि) बाहर फिक जाय, वह जितेन्द्रिय रूप से समस्त जीवों पर दया करते हुए मोक्षमार्गावलम्बी होकर,

[1] ब्र० वै० कृ० ख० ८३/८५
[2] वही ८३/८८-९२

स्वदेह के प्रति विरक्ति रखता हुआ ससार मे विचरण करें। भगवत् गीता में-जो पुरुष किसी से द्वेष अथवा किसी प्रकार की आकाक्षा नही करता वह सन्यासी कहलाता है।[1] निश्चित रूप से रागद्वेषादि द्वन्दों से रहित पुरुष सुख पूर्वक ससार रूप बधन से मुक्त हो जाता है।

ब्रह्मवैवर्त पुराण में- प्राचीन भारत में प्रचलित आश्रम व्यवस्था का सच्चा चित्र हमारे नेत्रों के सम्मुख उपस्थित होता है। इन सभी व्यवस्थाओं पर यदि समीक्षात्मक दृष्टि डालें तो भारतीय मनीषियों द्वारा सुदीर्घकाल तक स्वतन्त्र चिन्तनोपरान्त इन उदार एव वैज्ञानिक सिद्धान्तों पर आधारित व्यवस्था पर आश्रम व्यवस्था के माध्यम से प्रत्येक मानव को अपना सर्वांगीण विकास करते हुए धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूपी पुरुषार्थ चतुष्टय की उपलब्धि प्राप्त होती है।

[1] गीता - ५/३

ब्रह्मवैवर्त पुराण में चिकित्सा पद्धति

ब्रह्मवैवर्त पुराण में चिकित्सा का भी अत्यधिक महत्व बताया गया है। आयुर्वेद शैली, जैसी बहुत सुन्दर चिकित्सा पद्धति का वर्णन इस पुराण में देखने को मिलता है। इस पुराण के ब्रह्म खण्ड में आयुर्वेदशास्त्र की उत्पत्ति, विकास, एव उसमें वर्णित प्रकरण आदि के विषय में जानकारी दी जाती है। कुछ रोगों के नाम उनके वर्धक कारण तथा समनोपायों का भी यहाँ विवेचन हुआ है। ब्रह्मवैवर्त पुराण के अनुसार आयुर्वेद को पाँचवा वेद कहा गया है। अर्थात्- ऋक्, यजु, साम, और अथर्व- इन वेदों को देखकर और इनके अर्थो का विचार करके प्रजापति ने आयुर्वेद की रचना की। इस प्रकार पाचवें वेद की रचना करके परमेश्वर ने सूर्य को प्रदान किया।[१] सर्वप्रथम प्रजापति ने आयुर्वेद को भास्कर को दिया। भास्कर ने उससे स्वतन्त्र भास्कर सहिता का निर्माण कर उसे अपने शिष्यों को प्रदान किया। वे शिष्य नकुल, सहदेव, यम, च्यवन, जनक, बुध, जाबाल, जाजलि, पैल, कारण और अगस्त्य नाम वाले हैं। इन लोगों ने क्रमश. चिकित्सा तत्त्व विज्ञान, चिकित्सा, दर्पण, दिव्य चिकित्सा, कौमुदी, चिकित्सा सारतन्त्र, वैद्यक सर्वस्व, व्याधिसिन्धुविमर्दन, ज्ञानार्णव, जीवनदान वैद्य सन्देह भजन, सर्वसार, वेदागसार, निदान तन्त्र, सर्वधर तन्त्र, तथा द्वैध निर्णय तन्त्रों की रचना की। उपरोक्त सोलह तन्त्र रोग-निवारण के बीजरूप तथा बलाधान करने वाले बताये गये हैं क्योंकि इन्हें आयुर्वेद रूप उदधि से मन्थनोद्भूत ज्ञाननवनीतवत् बताया गया है।

वैद्य के अपेक्षित गुण-

आयुर्वेद की आचार्य परम्परा तथा षोडशतन्त्रों के नामोल्लेख के उपरान्त यह पुराण वैद्य की सीमा तथा उसके कर्त्तव्य के विषय में भी कहता है। इस पुराण के अनुसार वैद्य की आयु का स्वामी फिर भी उसे आयुर्वेद का ज्ञान होना चाहिए। अर्थात्- व्याधियों के तत्त्वों का भली भाँति ज्ञान करना और वेदनाओं का निग्रह करना, यही वैद्यों का वैद्यत्व है। वैद्य आयु प्रदान करने में समर्थ नहीं है। आयुर्वेद के विशेष ज्ञाता, चिकित्साओं के यथार्थवेत्ता, धर्मात्मा और दयालु होने के नाते उन्हें वैद्य कहा जाता है।[२]

---

[1] ब्र० वै० ब्र० ख १६/६-१०

[2] वही १६/२५-२६

आयुर्वेद शास्त्र-

ब्रह्मवैवर्त पुराण के अनुसार त्रिदोषज मदाग्नि को ज्वर का उत्पादक माना गया है। मन्दाग्नि से उत्पन्न ज्वर अन्य रोगों का भी जनक बन जाता है। इसका स्वरूप पुराणकार ने त्रिपाद् त्रिशिर, षड्भुज तथा नवलोचनात्मक विकृत यमोपम बताया है। अर्थात्- उसके तीन चरण, तीन शिर, छह भुजाएँ और नौ नेत्र है। यह भयकर ज्वरकाल, अन्तक और यमराज की भाँति विनाशकारी होता है, उसका अस्त्र भस्म है और देवता रुद्र हैं।[1] अत पुराणकार के ज्वरोंत्पत्ति विषयक कथन की पुष्टि आधुनिक शास्त्र द्वारा भी प्राप्त होती है। त्रिदोष के माध्यम से ज्वर के त्रिपाद और त्रिशिर की सगति भी बिठायी जा सकती है।

ज्वर के अतिरिक्त पाण्डु, कमला, कुष्ठ, शोथ, प्लीहा, शूलक, ज्वर अतिसार, सग्रहणी, खाँसी, हलीमक, मूत्र कच्छ, रक्तविकार, गुल्म, प्रमेह, कब्ज, शोष गलगण्डक, भ्रमरी, सन्निपात, विषूची, दारुणी, आदि रोगों का विवेचन भी इस पुराण में प्राप्त होता है।[2] रोगों के प्रकारादि के वर्णन के पश्चात् उपरोक्त पद्धति मे नेत्रों का जल से प्रक्षालन, व्यायाम, भ्रमण, दोनों कान, मस्तक तथा पादतल में तेल प्रयोग सम्बन्धी सामान्य स्वास्थ्य परक वर्णन के साथ-साथ ब्रह्मवैवर्त-पुराण में बसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद् हेमन्त एवं शिशिर विषयक षड्ऋतुचर्या का भी संक्षेप में वर्णन है जिससे प्राकृतिक चिकित्सा-परक अनेक तत्त्वों का समावेश प्राप्त होता है। इससे ज्ञात होता है कि तत्कालीन चिकित्सा पद्धति में प्राकृतिक चिकित्सा को भी महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था।

धर्म और आयुर्वेद-

पाप के साथ भी पुराणकार ने रोग, दुःख भयादि का अकाट्य सम्बन्ध स्थापित किया है। जिससे प्रतीत होता है कि वह धर्म के माध्यम से भी आयुर्वेद का महत्त्व निदर्शित करना चाहता है। पाप का अर्थ यहाँ असयत एवं अनियमित जीवन को समझा जा सकता है, जिससे विविध रोग शोकादि की उत्पत्ति देखी जाती है। रजस्वला, कुलटा, विधवा, जारदूती, शूद्र के पुरोहित की पत्नी तथा ऋतुहीना स्त्रियों के अन्न का भोजन करने वाला व्यक्ति ब्रह्महत्या को प्राप्त करता है। अर्थात् वह ब्रह्महत्या का भागी होता है।

---

[1] ब्र० वै० ब्र० ख० १६/२८

[2] वहीं १६/३१-३२

वातोत्पादक तथा शमनक तत्त्व-

भोजन के पश्चात् तुरन्त पदयात्रा, धावन, अग्नि-ताप ग्रहण, सर्वदा भ्रमण, मैथुन, वृद्धास्त्री सहवास, मन में सन्ताप रखना, अत्यन्त रुक्ष भोजन करना, आहार न करना, किसी से युद्ध करना, कलह करना, कटु वचन बोलना, भय और शोक से अभिभूत होना ये समस्त वायु उत्पादक कारण हैं। वायुदोष की निवृत्ति के लिये पक्व कदली फल, नीबू का शर्बत, नारिकेल उदक, सद्य तक्र, उत्तम पिट्ठी, शीतल जल, पक्व तेल विशेष या केवल तिल-तेल, नारिकेल तेल, आमलक द्रव, शीतल तथा उष्ण जल के स्नान, सुस्निग्ध चन्दन द्रव, स्निग्ध पद्म पत्र को शय्या एव स्निग्ध व्यजनादि का प्रयोग उत्तम माना गया है। वायु से उत्पन्न होने वाले दोष भी यहाँ क्लेशज, सतापज और कामज त्रिविध बताये गये है।

कफवर्द्धक तथा शमनक तत्त्व-

कफवर्द्धक तत्त्वों का वर्णन भी ब्रह्मवैवर्त पुराण में निम्नप्रकार से ज्ञात होता है। भोजनोपरान्त तुरन्त स्नान, बिना तृष्णा जलपान तिल-तैल, पर्युषित अन्न, तक्र, दधि सेवन, तथा सुपक्व कर्क टी फल (कूट) का प्रयोग, वर्षा ऋतु में खात (तालाब पोखर) स्नान तथा मूलक सेवन को कफ वर्धक स्वीकार किया है। इसकी उत्पत्ति ब्रह्म रुध्र में मानी गयी है। इसे महान् वीर्य नाशक भी कहा जाता है।[1]

पित्तवर्द्धक तथा शमनक तत्त्व-

पित्तवर्द्धक तथा शमनक तत्त्वों पर भी इस पुराण में विचार किया गया है। भूख लगने पर आहाराभाव प्राणियों में पित्तोत्पादक होता है। पित्त की उत्पत्ति मणिपुर चक्र में पायी जाती है। ताल तथा बिल्व फल सेवनोपरान्त तत्क्षण जलपान शीघ्र ही प्राणहारक एव पित्त प्रकोप के कारण बनता है। शिशिर में उष्णोदक पान तथा भाद्रपद में तिक्त भोजन भी पित्तोत्पादक माना जाता है। पित्त के नाश के लिये चना, गव्य पदार्थ, तक्ररहित दधि, पक्व ताल, और बिल्वफल इक्षुरस निर्मित समस्त वस्तुएँ , अदरक, मूँग की दाल का सूप, शर्करा मिश्रित तिल का चूर्ण आदि वस्तुओं को परिगृहीत किया गया है। इन्हें बल पुष्टि प्रद के रूप में भी जाना जाता है।[2]

---

[1] ब्र० वै० ब्र० ख० १६/६४-६७

[2] वही १६/६१-६३

कफनाशक–

ब्रह्मवैवर्त पुराण में अग्निताप से स्वेद निकलना, भुजी भाग का सेवन करना, पक्व तैल विशेष का सेवन करना, शुष्क पदार्थ खाना, कच्चे पिण्डारक और कदली फल का प्रयोग, पिसा हुआ जीरा, मिर्च, लौंग आदि मसाला, उपवास, पानी न पीना घृतयुक्त रोचना पूर्ण, घृत मिश्रित शुष्क शर्करा, काली मिर्च, शुष्क अदरक एव मधु द्रव को तत्काल कफनाशक तथा बल पुष्टि प्रदायक कहा जाता है।

इस प्रकार ब्रह्मवैवर्त पुराण में आयुर्वेद विषयक पार्याप्त सामग्री प्राप्त होती है। समाज में एक स्वस्थ चिकित्सा पद्धति उस समय प्रचलित थी। जिसमें प्राकृतिक चिकित्सा के तत्त्व भी समाविष्ट थे। उस समय का समाज विविध रोगों के नामों से परिचित था तथा रोगनिर्मूलार्थ उन औषधियों का सेवन मनुष्यों को कराया जाता था; जो प्रकृति के पावन प्रागण में उत्पन्न होती थी। सयत जीवन पर भी इसमें पर्याप्त बल दिया गया है।

निष्कर्ष–

इससे यह सिद्ध होता है कि ब्रह्मवैवर्त पुराण के महत्व में वर्ण व्यवस्था, आश्रम व्यवस्था और चिकित्सा पद्धति को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। इसमें सभी प्रकार के रोगों और उन रोगों के निवारण की विधियों को भी विस्तारपूर्वक चिकित्सा पद्धति के अन्तर्गत बताया गया है। इन सब बातों से ब्रह्मवैवर्त पुराण का सामाजिक परिवेश और भी महत्वपूर्ण बना देता हैं। इसलिये सभी पुराणों में ब्रह्मवैवर्त पुराण का महत्त्व बहुत अधिक बढ जाता है। दार्शनिक परिवेशों में भी ब्रह्मवैवर्त पुराण का महत्त्व वैशेषिक, साख्य, वेदान्त, ब्रह्म, जीव स्वरूप, ब्रह्म या आत्मा की निर्लिप्तता आदि विषयों की उपस्थिति होने से भी इस पुराण का महत्त्व अत्यधिक बढ़ जाता है।

उपसंहार

भारतीय वाङ्मय में पुराणों का अपना विशिष्ट स्थान है। प्राचीन इतिहास, सस्कृति, मभ्यता आदि का जीता-जागता स्वरूप वेदों के पश्चात् पुराणों में उपलब्ध होता है। इसलिये पुराणों को वेदों का उपबृहण कहा जाता है। प्रस्तुत 'शोध-प्रबन्ध' में पुराणों में अन्यतम "ब्रह्म-वैवर्त 'पुराण' एक दार्शनिक अध्ययन" का विशेष रूप से अध्ययन किया गया है।

ब्रह्मवैवर्त पुराण ग्रन्थ के आरम्भ में पुराण शब्द को निरूपित करते हुए भारतीय साहित्य में उसकी ग्रन्थानुमत प्राचीनता दर्शायी है। इस पौराणिक साहित्य पर विषय वस्तु की दृष्टि से ब्रह्मवैवर्त पुराण की पृथक् पद्य सख्या भी वर्णित है, और इसके परिचय का अनुशीलन किया गया है। इसके उपरान्त ब्रह्मवैवर्त पुराण के नाम की अनवर्थता को सिद्ध करते हुए इसके परम्परागत स्वरूप की समीक्षा एव उस स्वरूप का प्रतिपादन हुआ है। अन्त में ब्रह्मवैवर्त पुराण का रचनाकाल विभिन्न विद्वानों के अनुसार अपने मत की स्थापना करते हुए इसके वर्त्तमान स्वरूप की अन्तिम सीमा १३वीं शती तक स्वीकार की गयी है।

दार्शनिक परिवेश में वैशेषिक, साख्य, वेदान्तादि प्रमुख दर्शनों का प्रतिपादन, निर्देशन एव उसका अनुशीलन हुआ है। साख्य दर्शन में आर्ष, योग साख्यादि भेद चतुष्ट्य का विवरण प्रस्तुत करते हुए ब्रह्मवैवर्त-पुराण में उपलब्ध सामग्री में पुराण साख्य तथा आर्ष साख्य परक तत्त्वों का विवेचन हुआ है। वेदान्त में अद्वैत-वेदान्त-परक कुछ तत्त्वों जैसे ब्रह्म, जीव, आत्मा, ब्रह्म की जगत्कारणता, पचकोशों का अनुशीलन, जगत्, माया, और अविद्या बन्धन-मोक्ष के अतिरिक्त ब्रह्म-निर्लिप्तता, योग की अष्टसिद्धियॉ अर्थात् अणिमादि सिद्धियों के निरुपण के अलावा अठारह से बाईस योगजन्य सिद्धियों का नामत यहॉ पर विस्तार पूर्वक विवेचन हुआ है।

ब्रह्मवैवर्त पुराण के सामाजिक परिवेश के अन्तर्गत वर्ण व्यवस्था, आश्रम व्यवस्था एव चिकित्सा पद्धति का विवेचन बडे ही मार्मिक ढग से हुआ है। वैदिक काल के तुल्य वर्ण शब्द अब केवल ब्राह्मणादि चतुर्वर्णों का परिचायक मात्र न रहकर जाति का द्योतक बनता जा रहा था। ऊॅच-नीच वर्णों में परस्पर मेल होने लगा था जिससे सकर जातियों की उत्पत्ति भी होने लगी थी। आश्रम चतुष्ट्य का उस समय सम्मान था।

प्रत्येक पुराण में उसकी प्रतिष्ठा के विषय में कुछ न कुछ बात अवश्य प्रदर्शित होती है, ब्रह्मवैवर्त पुराण भी इससे अछूता नहीं है। विश्व के सभी मनुष्यों का दृष्टिकोण इस क्षेत्र में भी आकृष्ट हुआ। इसमें स्पष्ट है कि श्रुति-समुदाय को वत्स बनाकर सरस्वती रूपिणी कामधेनु अर्थात्-सरस्वती को कामधेनु तथा वेदों को बछडा बनाकर व्यासदेव ने अत्यन्त मनोरम ब्रह्मवैवर्त पुराण रूप अपूर्व अमृत का दोहन किया। सज्जनों! इस अक्षय्य दुग्ध का यथेच्छ पान करो।[1] इससे स्पष्ट है कि पुराण-कार ने 'ब्रह्मवैवर्त-पुराण' को वैदिक तत्त्वानुमोदित अत्यन्त सुमधुर लोकग्राही रचना सिद्ध किया है।

ब्रह्मवैवर्त पुराण का प्रधान लक्ष्य है कृष्णचरित्र का विस्तृत रूप से वर्णन करना। सृष्टि के अवसर पर परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्ण स्वय दो रूपों में प्रकट होते है- प्रकृति और पुरुष। उनका दाहिना अग पुरुष और बायॉ अग प्रकृति हुआ। फिर इनके पॉच रूप हो गये- (१) शिव स्वरूपा नारायणी और पूर्णब्रह्मस्वरूपिणी 'भगवती दुर्गा,' (२) शुद्ध सत्त्वस्वरूपा, परमप्रभु हरि की शक्ति, समस्त सम्पत्ति की अधिष्ठात्री देवी महालक्ष्मी, (३) वाणी, बुद्धि, विद्या और ज्ञान की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती, (४) ब्रह्मतेज से सम्पन्न शुद्ध सत्त्वमयी ब्रह्मा की परमप्रिय शक्ति सावित्री और (५) प्रेम तथा प्राणों की अधिदेवी परमात्मा श्री कृष्ण की प्राणाधिका प्रिया, सम्पूर्ण देवियों में अग्रगण्य, अतुलनीय सौन्दर्य, माधुर्य आदि सद्गुणों से सम्पन्न राधा। इन मूल प्रकृति देवी के ही अश, कला, कलाशाश भेद से अनेक रूप हैं। गगा, तुलसी, मनसा, देवसेना, षष्ठी, मगलचण्डी, काली, पृथ्वी, स्वाहा, स्वधा तथा सम्पूर्ण दिव्य देवियॉ इन्हीं से प्रकट हुई हैं। यहॉ तक कि लोक में जितनी स्त्रियॉ हैं वे सभी परमात्मा की अभिन्न शक्ति की कला के अश की अशरूपा ही हैं। इसलिये स्त्रियों के अपमान से प्रकृति का अपमान समझा जाता है।

ब्रह्मवैवर्त पुराण के अनुसार प्रलयकाल में केवल ज्योति पुज शेष रहता है। उसका प्रकाश करोडों सूर्यों की प्रभा से भी अधिक होता है। वह नित्य होने के साथ ही अनेक विश्वों का कारण है। स्वेच्छामय परमात्मा श्रीकृष्ण का ही वह महान् तेज पुज है। तीनों लोकों अथवा समस्त ब्रह्माण्ड से बहुत ऊपर अप्राकृत अतरिक्ष में परमेश्वर के समान ही नित्य गोलोकधाम विराजमान है। यद्यपि वह नित्य और विभु है,तथापि भगवान् की इच्छा के अनुसार तीन करोंड योजन लम्बाई-चौड़ाई में उसकी

[1] ब्र० वै० ब्र० ख० १/२

स्थिति है। वह सब ओर से गोलाकार है। उस धाम का स्वरूप भी दिव्य तेजोमय है तथा वहॉ की सच्चिन्मयी भूमि भी रत्नमयी दिखायी देती है। परमेश्वर श्रीकृष्ण ने अपने ही स्वरूपभूत उस श्रेष्ठ धाम को योग-शक्ति से धारण कर रखा है। वहॉ आधि, व्याधि, जरा, मृत्यु, शोक तथा भय आदि का प्रवेश कभी नहीं होता।

इस पुराण में सृष्टि प्रक्रिया का जो वर्णन है वह अन्य स्थानों में सभव नहीं है। अत इसे कल्पविशेष का ही क्रम मानना उचित है। इस प्रकार उपक्रम, उपसहार तथा अभ्यास आदि तात्पर्य-निर्णय के साधनानुसार इस ग्रन्थ का यह सिद्धान्त स्वीकार्य है कि श्रीकृष्ण ही परम-तत्त्व हैं। त्याग, तपस्या, वैराग्य, धर्म और सदाचार आदि के सदुपदेश तो इसमें कूट-कूट कर भरे हैं। पाप ही रोग आदि का कारण है अर्थात्-पाप से रोग होता है, पाप से बुढापा आता है, और पाप से ही दीनता, दु ख और भयकर शोक की उत्पत्ति होती है। इसलिये पाप महावैरी, दोषों का कारण और अमगल रूप है। इस कारण भारत में सत लोग सदा भयभीत हो कभी पाप का आचरण नहीं करते है।[1]

ब्रह्मवैवर्त-पुराण के दार्शनिक अनुशीलन से ज्ञात होता है कि पुराणकार की स्वोकारोक्ति से अवश्य ही यह पुराण का प्रतिष्ठित और उत्कृष्ट स्थान दृष्टिगोचर होता है, किन्तु इन वचनों को आत्मश्लाघा परक भी माना जा सकता है क्योंकि यह अपने पुराण के लिये भविष्य पुराण के पश्चात् जो दशम स्थान एव पद्य सख्या निर्धारित करता है वही अग्नि, मत्स्य एव भागवत आदि पुराणो को भी मान्य है। अर्थात् पुराणप्रवर भविष्य पुराण है। अठारह हजार श्लोकों का ब्रह्मवैवर्त पुराण है।[2] इसमें स्पष्ट है कि अन्य पुराण भी इस पुराणोक्त तथ्य का अनुमोदन करते हुए उसके अस्तित्त्व को स्वीकार किया है। ब्रह्मवैवर्त पुराण को 'सर्वोत्कृष्ट' मानने में सभवत पुराण का भाषागत माधुर्य ने उसे आकृष्ट किया है। जिसकी पुष्टि 'नातो-विशिष्ट सुखद मधुर' अर्थात्- इससे विशिष्ट, सुखद मधुर एव पुण्य प्रदान करने वाला अन्य कोई पुराण नहीं है।[3]

---

[1] ब्र० वै० ब्र० ख १६/५१-५२

[2] ब्र० वै० कृ० ख १३३/१६

[3] ब्र० वै० कृ० ख० १३३/४१

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

	संकेत	
१.	अ० पु०	अग्नि पुराण
२	अ० वे०	अथर्ववेद
३.	अ० को०	अमरकोश
४.	आप० ध० सू०	आपस्तम्ब धर्मसूत्र
५.	क० उ०	कठोपनिषद्
६.	के० उ०	केनोपनिषद्
७	के० पु०	कूर्म पुराण
८.	ग० पु०	गरुण पुराण
९.	ग० ख०	गणपति खण्ड
१०.	घे० स०	घेरण्ड संहिता
१२.	तै० उ०	तैत्तिरीयोपनिषद्
१३	दश० रह०	दशवाद रहस्य
१४	नि०	निरुक्त
१५.	नी० शत०	नीतिशतक
१६.	प० पु०	पद्म पुराण
१७.	ब० वै०	ब्रह्मवैवर्त पुराण
१८.	ब्र० खं०	ब्रह्मखण्ड
१९.	प्र० खं०	प्रकृति खण्ड
२०.	कृ० खं०	कृष्ण जन्मखण्ड
२१.	ब्र० सू०	ब्रह्मसूत्र-शांकरभाष्य
२२.	भा० पु०	भागवत पुराण
२३.	ब्र० पु०	ब्रह्माण्ड पुराण
२४.	यो० दर्श०	योग दर्शन
२५	यो० र०	योग रहस्य
२६.	यो० वा०	योगवार्तिक
२७.	यो० सू०	योग सूत्र पतजलि
२८.	रघु० व०	रघुवंश
२९.	लि० पु०	लिग पुराण
३०.	वायु० पु०	वायु पुराण
३१	वरा० पु०	वराह पुराण
३२.	वा० रा०	वाल्मीकि रामायण
३३.	वै० द०	वैशेषिक दर्शन
३४.	बृहद्० उ०	बृहदारण्यकोपनिषद्

सहायक ग्रन्थो की सूची

	ग्रन्थ	ग्रन्थकार का नाम
१.	ब्रह्मवैवर्त पुराण (सा० विवेचन)	डा० वैकुण्ठ नाथ शर्मा
२	पुराण पर्यलोचनम	डा० श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी
३.	सर्व-दर्शन-सार	डा० उमाशकर शर्मा ऋषि
४.	वेदान्तसार	डा० सन्त नारायण श्रीवास्तव
५.	वेदान्त दर्शन	हरिकृष्ण दास गोयन्दका
६.	पातंजल योग दर्शन	डा० सुरेश चन्द्र श्रीवास्तव
७.	पुराण विमर्श	आचार्य बलदेव उपाध्याय
८.	पचदशी	डा० चमन लाल गौतम
६	श्रीमद्भगवत्गीता	गीता प्रेस गोरखपुर
१०.	भारतीय दर्शन का इतिहास	एस० एन० दास गुप्त
११.	भारतीय दर्शन की रूप रेखा	डा० एच० पी० सिन्हा
१२.	भारतीय दर्शन	डा० एन० के० देवराज
१३.	साख्य तत्त्वकौमुदी प्रभा	डा० ए० पी० मिश्र
१४.	भारतीय दर्शन	सी० डी० शर्मा
१५.	सर्वदर्शन सग्रह	माधवाचार्य
१६.	ब्रह्मसूत्र शकर भाष्य	रमाकान्त त्रिपाठी
१७.	भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण	सगम लाल पाण्डेय
१८.	पदार्थ धर्म संग्रह	प्रशस्तपाद
१६.	गीता-रहस्य	बाल गगाधर तिलक
२०.	सांख्य-दर्शन	अवध किशोर सक्सेना
२१.	Sankara Vedant	Ganga Nath Jha
22	A History of India Philosophy	S N Das Gupta Vol 1-4
23	The History of Sankhya Shastra	Dr A P Mishra